

**TEXT PROBLEM
WITHIN THE
BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186727

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H801/Z11S Accession No. G.H.811

Author आ. बुद्धिनाथ ।

Title साहित्य-साधना की पृष्ठभूमि । 1957

This book should be returned on or before the date
last marked below.

साहित्य-साधना की पृष्ठभूमि



लेखक

पं० बुद्धिनाथ झा 'कैरव', एम० एल० ए०

रजिस्ट्रार, हिंदी विद्यापीठ, वैद्यनाथ (देवघर)

सदस्य, बिहार विश्वविद्यालय



प्रकाशक

ज्ञानपीठ लिमिटेड, पटना ४.

प्रथम संस्करण]

सन् १९५३

[कीमत ६) रुपये

मुद्रक
श्री तारकेश्वर पाण्डेय
ज्ञानपीठ लि०,
पटना ४.

श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

को

जिनके उद्देश, संदेश और निर्देश

से

यह ग्रंथ प्रणीत हो सका ।

—'कैरव'

प्राकृतन

आज से दस वर्ष पहले की बात है। विगत १९४२ ई० के ऐतिहासिक राष्ट्रीय जन-आंदोलन में—जो आंदोलन तत्कालीन अंग्रेजी राजसत्ता के साथ भारतीय स्वाधीनता-प्राप्ति का अंतिम संघर्ष था, और जो यथार्थ में भारत से अंग्रेजों का राज्य-शासन समाप्त कर देने का कारण हुआ—मैं अपने कौंग्रेसकर्मी साथियों के साथ अनिश्चित काल के लिए भागलपुर सेंट्रल जेल में नजरबंद कर दिया गया। आंदोलन के क्रम में, एक-आध महीने के अंदर, उस जेल में एक-एक करके भागलपुर डिविजन के अधिकांश राष्ट्रीय कार्यकर्ता पहुँचा दिए गए। इस बार पहले-जैसा हमलोगों के लिए सपरिश्रम कारादंड नहीं था, इसलिए नजरबंदी का समय काटने के लिए अपनी-अपनी रुचि और प्रकृति के अनुसार सबने कोई-न-कोई दैनिक कार्य-क्रम अपना लिया। कोई पढ़ने-लिखने में, कोई ताश-शतरंज खेलने में, कोई चर्खा चलाने में और कोई योही गप्पें लड़ाने में अपने को लगाने लगे। अधिकांश बंदियों की रुचि पढ़ने-लिखने की ओर गई और तदनुसार वे साहित्य, दर्शन, विज्ञान, ज्योतिष, धर्मशास्त्र प्रभृति विषयों का पठन-पाठन करने लगे। साहित्य और काव्य से अधिक लोगों का मनोरंजन होता था, इसलिए इस विषय का अध्ययन करनेवाले बहुत लोग हो गए। अपने-अपने इष्ट मित्र बाहर से पुस्तकें भेज दिया करते थे और भीतर में भी सबकोई कुछ पुस्तकें अपने-पैसे से मँगाते थे; इसलिए जेल में, साथियों का मिलाकर, ग्रंथों का सुंदर संग्रह हो गया।

एक दिन हिंदी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने कहा कि कोई ऐसा ग्रंथ तैयार किया जाय, जिसमें एक ही जगह साहित्य के सब अंगों का आलोचनात्मक विधान हो। मेरे ही ऊपर ऐसा ग्रंथ तैयार करने का भार दिया गया। मैंने स्वीकार तो कर लिया, किंतु कार्यारंभ के बाद अनुभव होने लगा कि यह काम सरल नहीं है। हिंदी साहित्य में आलोचना-ग्रंथों की कमी नहीं है। काव्य, अलंकार, रस, दृश्यकव्य प्रभृति के पृथक्-पृथक् आलोचनात्मक ग्रंथ, एक-से-एक बढ़कर सुंदर और सुपाठ्य, विराजमान हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जिनमें एक से अधिक विषयों का आलोचन-विवेचन है। मैं कोई ग्रंथ तैयार करूँगा ही तो वह शृंखला की एक कड़ी मात्र होगा। केवल परंपरा का निर्वाह करके एक वैसा ग्रंथ तैयार कर ही दिया तो उसमें विशेषता क्या हुई? इसलिए किसी नवीन परिपाटी पर ग्रंथ तैयार करने का निश्चय किया। मैंने देखा कि अनेक उच्च कोटि के आलोचनात्मक ग्रंथों के रहते भी, नवीन साधकों के लिए, इस प्रकार का ग्रंथ नहीं था जिसके द्वारा एक ही पीठिका पर साहित्य के प्रायः सभी मुख्य अंगों की साधना का पथ सुलभ किया जा सके। साहित्य के मुख्य अंगों से अभिप्राय उन विषयों से है जिनका इस ग्रंथ में विवेचन है। वैसे तो रीति, ध्वनि, शैली, प्रयोग प्रभृति और भी अनेक अंग हैं जिनका विवेचन होना चाहिए; किंतु नवीन साधकों के लिए, जिनको लक्ष्य में रखकर यह ग्रंथ तैयार किया गया है, इतने से काम चल जायगा; इसलिए केवल छः विषयों—साहित्य, काव्य, अलंकार, रस, दृश्यकव्य और कथासाहित्य—का तुलनात्मक और आलोचनात्मक विधान करके मैंने पुस्तक को समाप्त किया है। मैं पुनः कहना चाहता हूँ कि प्रस्तुत पुस्तक के विषय-विवेचन में प्राचीन

शास्त्रीय परिपाटी का यथावत् निर्वाह नहीं करके संपूर्ण नए ढंग से नई परिपाटी स्थापित करने की चेष्टा की गई है। इसमें मैं कहाँ तक सफल हो सका हूँ, यह विज्ञ पाठक और सुधी आलोचक ही बता सकेंगे।

साहित्य को मैं केवल एक विषय के रूप में नहीं ग्रहण करता हूँ, न उसको जीवन से बाहर की कोई वस्तु समझता हूँ। स्कूल-कालेजों में इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र प्रभृति अन्य विषयों के समकक्ष साहित्य को रखकर उसे सामान्य पाठ्य-विषय के रूप में ग्रहण करने के लिए विद्यार्थियों को जो प्रेरणा दी जाती और अभ्यास कराया जाता है वह साहित्य को जीवन से बाहर की वस्तु समझने का एक भ्रमात्मक रास्ता बना देता है, जिससे साहित्य की यथार्थ भावना की ग्राह्यता में चिर-व्यवधान उपस्थित हो जाता है। साहित्य की स्थिति जीवन का यथार्थ दर्शन है। जीवन-दर्शन के लिए साधना के जो विभिन्न पथ हैं, उनमें साहित्य का पथ बड़ा सरल और हृदयग्राही है। ज्ञान के जिस क्षेत्र में यथार्थ जीवन का दर्शन होता है वह भावयोग के माध्यम से ही प्राप्त हो सकता है। भावयोग और काव्ययोग समानार्थी हैं। उसी का एक नाम हृदययोग है। बाह्य जगत् का प्रभाव भाव रूप से अंतर्जगत् में जाकर मानव की आत्मसात-वृत्ति के द्वारा संपूर्ण जगत् के साथ उसका तदाकार हो जाता है। बाह्य जगत् के साथ भावयोग द्वारा तदाकार होने की साधना का अभ्यास साहित्य का मूल रूप है और उसी की अभिव्यक्ति साहित्य की सृष्टि। छंद, अलंकार, उक्तिवैचित्र्य प्रभृति साहित्य-साधना के अंग मात्र हैं। इस प्रकार के साधना-पथ से साहित्य के द्वारा हम आत्मसत्ता का भावात्मक विस्तार करके जगत् के साथ तदाकार हो जाते हैं और यही जीवन का यथार्थ दर्शन है। अपने विवेचन में मैंने इसी दृष्टिकोण को सामने रखा है।

पुस्तक तैयार करने की प्रेरणा, जैसा मैं उल्लेख कर चुका हूँ, सधांशु जी से मिली। प्रेरणा के साथ-साथ वह आवश्यक निर्देश भी देते रहे। इसके लिए मैं उनका आजीवन आभारी हूँ। किंतु विषय-विवेचन का वर्तमान रूप प्रस्तुत करने का एक और भी कारण हुआ। श्री कृष्णवल्लभ सहाय—बिहार सरकार के वर्तमान राजस्व मंत्री—संयोगवश हजारीबाग सेंट्रल जेल से स्थानान्तरित होकर भागलपुर सेंट्रल जेल आ गए। कृष्णवल्लभ बाबू अपने कालेज-जीवन तक उर्दू-फारसी के विद्यार्थी थे। एक निपुण राजनीतिज्ञ होने के कारण हिंदी के उज्ज्वल भविष्य की ओर उनकी दूरदर्शी दृष्टि गई। भागलपुर सेंट्रल जेल पहुँचने पर, हमलोगों के सहवास में, उनकी हिंदी साहित्य पढ़ने की प्रवृत्ति हुई और वैसा करने के लिए उन्होंने मेरे सहयोग और सहायता की याचना की। मैं सहमत हो गया और हिंदी साहित्य के अध्ययन में उनकी सहायता करने लगा। उन्होंने निश्चय करके तदनुसार कार्यक्रम स्थिर किया कि एक वर्ष में एम० ए० क्लास तक के संपूर्ण पाठ्यग्रंथों का वह अध्ययन करेंगे। सराहने की बात है कि पूरे एक वर्ष तक, प्रतिदिन चौदह घंटे परिश्रम करके, उन्होंने वैसा कर डाला। उनके अध्ययन-क्रम में सक्रिय सहयोग और सहायता देने के लिए मुझे भी यथेष्ट परिश्रम करना पड़ता था। अलंकार, रस प्रभृति विषयों का विवेचन वैज्ञानिक ढंग से उनके सामने रखने के लिए जो नोट तैयार करने पड़ते थे, उन्हीं का परिष्कृत और परिवर्द्धित रूप इस ग्रंथ के विषयों का एक बड़ा भाग है। अपनी जिज्ञासा-वृत्ति और अध्ययन-प्रवृत्ति से

मेरे लिए नई-नई विधियों से साहित्य के गहन विषयों को उपस्थित करने का जो अवसर उन्होंने दिया इसके लिए स्नेह के साथ स्मरण करके, मैं उन्हें धन्यवाद देता हूँ।

लगभग तीन वर्षों तक नज़रबंद रहने के बाद सन् १९४४ ई० के अंत में मैं जेल से बाहर हुआ। इस पुस्तक में मैंने जो कुछ लिखा है, सब उस समय तक प्रचलित साहित्यिक विचार धारा और काव्य प्रवृत्ति के आधार पर ही। तब से आज तक—लगभग दस वर्षों की अवधि में—साहित्य की नई-नई प्रवृत्तियाँ प्रचलित हुईं। उन प्रवृत्तियों का—प्रतीकवाद, प्रयोगवाद, संकेतवाद प्रभृति—इसमें उल्लेख नहीं हो सका है, न काव्यानुशीलन की नई-नई दिशाओं का इसमें समावेश हुआ है। इस भौति यह पुस्तक समय से कई वर्ष पीछे की मानी जा सकती है, किंतु वैसा होते हुए भी साहित्य के चिरंतन सत्य और काव्य की शाश्वत चिंतन-धारा का विवेचन जिस प्रकार इसमें हुआ है, वह कभी पुराना नहीं होगा, न समय से पीछे का माना जायगा।

पुस्तक के प्रकाशन में अत्यधिक विलंब हुआ, इसके लिए मुझे स्वयं बड़ा खेद है; लेखक और प्रकाशक के बीच की खाई से किसी पुस्तक का ऊपर होना साधारण बात तो है नहीं। जो भी हो, ज्ञानपीठ लि०, पटना के अध्यक्ष का मैं कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने पुस्तक को प्रकाशित करके मेरे प्रति उपकार प्रदर्शित किया है। पुस्तक की पांडुलिपि कई मर्मज्ञ साहित्यिक विद्वानों की दृष्टि से पार हुई है और सभी ने इसकी उपयोगिता स्वीकार की है। प्रिंसिपल डॉ० जनार्दन मिश्र, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री, पं० जनार्दन मिश्र 'परमेश' तथा अन्य साहित्य-मनीषियों ने प्रोत्साहन और सत्परामर्श देकर मुझे अनुगृहीत किया है। पुस्तक की प्रेस कापी तैयार करने में मेरे आत्मीय, गोविंद प्रसाद झा साहित्यालंकार ने—जो संप्रति मंदार विद्यापीठ के आचार्य हैं—बड़ा परिश्रम किया है। साथ ही, इसके माजिर्नल नोट ठीक करने तथा विषय-सूची और अनुक्रमणिका तैयार करने में विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के कर्मचारी श्री राधावल्लभ शर्मा, साहित्यालंकार ने अपने परिश्रम का पूरा योगदान दिया है। प्रूफ-संशोधन का कार्य राधावल्लभ के अतिरिक्त श्री सुरेश्वर पाठक, विद्यालंकार ने किया है। संशोधन से तीनों ही मेरे विद्यार्थी हैं; इसलिए धन्यवाद-प्रहण करने में शायद वे संकोच प्रतीत करें, अतः हृदय से आशीर्वाद देकर उनकी जीवनोन्नति की कामना करता हूँ।

ग्रंथ-प्रकाशन में, जल्दीबाजी के कारण, प्रूफ संशोधन के सिलसिले में जहाँ-तहाँ किंचित अशुद्धियाँ रह गई हैं, जिसके लिए मैं पाठकों से क्षमा-प्रार्थना हूँ।

पटना,
आश्विन कृष्ण ६, बुधवार
(ता० ३० सितम्बर ५३)

बिनीत—
बुद्धिनाथ झा 'कैरव'

विषयानुक्रमणिका

पहला अध्याय

साहित्य-तत्त्व-विमर्श

साहित्य का तात्पर्य

✱ [साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति १, 'सहित' की व्यापकता १, 'साहित्य' का यथार्थ क्षेत्र १, शब्द 'सहित' की अर्थ-भूमि २, 'स्व' और 'पर' के विधान का तात्पर्य २, 'सहित' शब्द की भिन्न-रूपता ३, साहित्य की मूल दशा ३, साहित्य-सृष्टि का रूप ४, साहित्य में 'स्व' का साधारणीकरण ४]

साहित्य की प्रवृत्ति

['स्व' का रूपबोध और उसका बाह्यकरण ४, हृदय की स्थिति और उसका कार्य ५, प्रिय और सुन्दर का आग्रह ५, जड़त्व में चैतन्य का आरोप ६, वातावरण का प्रभाव ६, भारतीय तथा यूरोपीय साहित्य के भिन्न दृष्टिकोण ६, जीवन के संबंध में विभिन्न दृष्टिकोण के कारण ७]

साहित्य और जीवन

✱ [जीवन की स्फूर्तियाँ ७, ज्ञान और भाव ८, बाह्यकरण और अंतर्जीवन ८, अंतर्जीवन और बाह्य क्रिया में सामंजस्य ८, कल्पना, भाव और जीवन ८, साहित्य जीवन का रूपांतर नहीं ९, साहित्य में जीवन का अपेक्षित रूप ९, साहित्य जीवन की अभिव्यंजना ९, शक्तियों का संतुलन १०]

साहित्य और दर्शन

[दोनों की भिन्नता १०, दोनों का संबंध १०, दोनों में जीवन के भिन्न रूप ११, दोनों का लक्ष्य ११, सौंदर्य का रूप ११, यथार्थ और साहित्यिक सत्य ११, रसानुभूति के तत्त्व १२, जड़ और चेतन १२, भावों की विवृति में भिन्नता १२]

साहित्य और विज्ञान

[विज्ञान के दो पक्ष १२, वैयक्तिक, निवैयक्तिक संबंध १३, आनंद और प्रयोजन का संबंध १३, ज्ञान और भाव १४, विज्ञान और साहित्य में क्रमशः ज्ञान और भाव की प्रधानता १४, साहित्य और विज्ञान के भेद की स्पष्ट रूप-रेखा नहीं १४, एक को दूसरे की अपेक्षा १५, एक का सिद्धांत परिवर्तनशील, जब दूसरे का सदा स्थायी १५]

साहित्य और सौंदर्य

[सौंदर्य की परिभाषा और साहित्य के साथ उसका नित्य संबंध १६, अनात्म पदार्थों की सुंदरता परिवर्तनशील १६, सौंदर्य बाह्य सत्ता में प्रकट नहीं १६, सौंदर्य के अवलोकन के लिए मनोविज्ञान की आवश्यकता १७, सौंदर्य वस्तु और भाव पर अपेक्षित १७, सौंदर्य-बोध के विभिन्न मापदंड १८, सौंदर्य में संश्लेषण की आवश्यकता १८, रूप-सौंदर्य और भाव-सौंदर्य १८]

साहित्य का सत्य

[हृदय-योग से जगत् और जीवन के संबंध का निरूपण १६, महाकाव्य का मूलाधार १६, संवेदन की आवश्यकता २०, साहित्य में स्थान, समय और नाम २०, रागात्मिका वृत्ति का विस्तार २१]

साहित्य और धर्मनीति

[धर्म की रसात्मक अनुभूति २१, धर्म का आधार २२, साहित्य में धर्म के दो रूप २२, धर्म और साहित्य का लक्ष्य एक ही, पर विधान में अंतर २३, सत्य-दर्शन के विभिन्न रूप २३, साहित्य और धर्म के मूल में भाव की सापेक्षता २३, धार्मिक और साहित्यिक वस्तु-विधान में क्रमशः अपौरुषेय एवं सामान्य भाव-क्षेत्र की विवृति २४]

साहित्य के उपकरण

[भाव की दो प्रवृत्तियाँ, राग और द्वेष २५, भाव की उत्पत्ति २५, विधि के विवर्तन-कला के विभिन्न रूप २५, साहित्य के वास्तविक उपकरण २६, वस्तुगत सत्ता का भावात्मक रूप २७, उपकरण के दो भेद—यथार्थ और काव्यनिक २७, एक और भेद—लौकिक और अलौकिक २७]

साहित्य की उपयोगिता

[सृष्टि के मूल में एक ही प्रकार के तत्त्वों का उपादान २८, मनुष्य का संसार के साथ संबंध—प्रयोजन-पूर्ति का और आत्मभाव-विस्तार का २८, साहित्य में एकात्मभाव २६, साहित्य में मंगल-विधान का निरूपण ३०, साहित्य और इतिहास के तथ्य-निरूपण में भेद ३०]

साहित्य में स्थायित्व और प्रगतिशीलता

[स्थायित्व का विधान ३१, जीवन के मानसिक और शारीरिक रूपों के सिवा आत्म तत्त्व का विनियोग ३१, विश्व-साहित्य, देशीय साहित्य एवं अस्थायी साहित्य ३२, सर्वदेशीय साहित्य ३२, शील और मर्यादा का अतिक्रमण ३३, विश्व-साहित्य की आधार-भूमि ३३, साहित्य में प्रगतिशील भावना का उद्बेक ३३, ईश्वर और धर्म-भावना पर कुठाराघात ३४, साहित्य-क्षेत्र में इसका प्रभाव ३४, साहित्य वर्गभाव की वस्तु नहीं ३४]

साहित्य कला है या विज्ञान

[कला और विज्ञान का समवाय ३५, भाव और ज्ञान का क्षेत्र ३६, साहित्य कला और विज्ञान दोनों ३६]

दूसरा अध्याय

काव्य-तत्त्व-विमर्श

काव्य की मूल प्रकृति

[काव्य की परिभाषा और उसके संबंध में विभिन्न मत ४३, काव्य की उद्भावना का मूल ४४, काव्य में जीवन-परिवर्तन की दो दिशाएँ ४४, भावना और कल्पना का व्यापार ४६, काव्य का उद्देश्य ४६, सत्य और शिव का प्रयोग ४६, सत्य, शिव, सुंदरम् का आविर्भाव ४७, रस-दशा ४७]

काव्य का रूप और जातिभेद

[काव्य और कविता ४८, काव्य के दो स्वरूप—स्वानुभूतिमूलक, बाह्यार्थमूलक ४८, एक और भेद—आत्मव्यंजक और परव्यंजक ४९, मुक्तक और प्रबंध ४९, खंडकाव्य और महाकाव्य ५०, दोनों की छंद योजना में क्रमशः एक और अनेक के कारण ५०, महाकाव्य और खंडकाव्य में क्रमशः चरित्र एवं कवित्व का विकास ५१, सुख और दुःख क्रमशः संकोच और विकास के कारण ५१, व्यक्ति-जीवन और काव्य-जीवन ५२, श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य ५२]

कविता और-छंद-विधान

[छंद-विधान का तात्पर्य ५३, छंद के संबंध में प्रबोधचंद्र सेन के कथन ५३, छंद की लयात्मक गति ५४, छंदों के दो रूप—मात्रिक तथा वर्णिक ५४, लघु-गुरु ५५, गणभेद और कारण ५५, राग के भिन्न विनियोग ५५, रागात्मक तत्त्व का उपयोग ५६, छंदों के भेद के कारण ५६, तुक ५७]

अतुकांत और मुक्त छंद

[राग का महत्त्व ५७, शास्त्रीय परंपरा को विकृत करने की प्रवृत्ति ५८, काव्य में एकरूपता की आवश्यकता ५९, मुक्त छंद ५९]

काव्य का उद्गम और प्रवाह

[काव्य स्रोत की एकरूपता ६१, संस्कार और प्रतिभा ६१, वर्णन तथा चित्रण और कलात्मक सृष्टि की काव्य-वस्तु और काव्य ६२, सृष्टि का अर्थ ६२, काव्य का उद्गम स्थल ६२, समग्र जीवन काव्य का विषय ६३, काव्य में अनेकत्व में एकत्व का बोध ६३, समाधि और भावयोग ६४, काव्य का लक्ष्य—संपूर्णता तक पहुँचने का बहुविध हृदययोग ६२, विभिन्न देश-कालों में काव्य-वस्तु की एकता ६५, प्रेम का विभिन्न विनियोग ६६, काव्यधारा के विभिन्न पथ ६६]

काव्य में यथार्थ और आदर्श

[यथार्थ और आदर्श का मूलरूप ६७, यथार्थ में 'सत्य का आधार' का तात्पर्य ६८, आदर्श और उसकी नई-नई सृष्टि ६९, काव्य में आदर्श की प्रतिष्ठा का तात्पर्य ६९, यथार्थ के आधार पर आदर्श की प्रतिष्ठा ७१]

छायावाद और रहस्यवाद

[छायावाद और रहस्यवाद का अनिश्चित रूप ७१, छायावाद और रहस्यवाद ७२, रहस्यवाद आध्यात्मिक साधना ७२, छायावाद प्रतीक-पद्धति ७३, ज्ञान-सापेक्ष काव्यक्षेत्र की वस्तु नहीं ७४, काव्य में हृदययोग ७५, रहस्यवाद में ईश्वर का अज्ञातरूप ७५, अप्रस्तुत की व्यंजना ७५]

तीसरा अध्याय

अलंकार-तत्त्व-विमर्श

अलंकार का तात्पर्य और उसका प्रयोग

[अलंकार की व्युत्पत्ति और उसका तात्पर्य ७६, चमत्कार और रमणीयता ७६, स्थूल जगत् का अलंकार और उसका उद्देश्य ८०, अलंकार काव्य-कला का आवश्यक साधन ८०, अलंकार का विनियोग ८१, अलंकार द्वारा भाव में तीव्रता ८२, बिंब का बोध ही नहीं, उसकी यथार्थ प्रतीति के लिए अलंकार की योजना ८२]

अलंकार में द्वैत चित्र-कल्पना-विधान

[द्वैत चित्र-कल्पना-विधान ८३, कल्पित चित्र में प्रभाव की क्षमता ८५, द्वैत चित्र द्वारा रूप, धर्म या व्यापार ८५, वस्तु से पृथक् अलंकार की सत्ता ८६, वस्तु से पृथक् अपनी सत्ता रखने में असमर्थ अलंकार ८६, अलंकारों की अनुपयोगिता की मीमांसा ८६, न्याय के क्षेत्र में भी अलंकार ८८, अलंकार के उचित प्रयोग में ही उसकी योग्यता ८९, वर्य-वस्तु के उत्कर्ष में ही अलंकारत्व ९०, अनर्गल द्वैत चित्र कल्पना ९०]

अलंकार में प्रस्तुत-अप्रस्तुत-योजना

[अलंकार का कार्य-क्षेत्र अप्रस्तुत ९०, अप्रस्तुत द्वारा गति और तीव्रता का उद्देश्य ९१, प्रस्तुत की प्रच्छन्नता में अलंकारत्व नहीं ९२, प्रभाव-साम्य ९३, ज्ञानेन्द्रिय व्यापार द्वारा प्रभाव की समता ९३, हृदय की वृत्ति के व्यापार और अलंकार द्वारा उत्पन्न भाव में अंतर ९४, सादृश्य या साधर्म्य ही यथेष्ट नहीं, प्रभाव की क्षमता आवश्यक ९६, अप्रस्तुत के प्रभाव-विधान में जीवन-संपर्क अपेक्षित ९६, वस्तु या भाव के विस्तृत चित्र-विधान द्वारा अप्रस्तुत योजना ९६]

अलंकार में वस्तुविधान और भावविधान

[वस्तुविधान-भावविधान ६७, अप्रस्तुत योजना के चार प्रकार ६७, वस्तु-वस्तु विधान ६७, भाव-भाव-विधान ६८, भाव-वस्तु विधान ६८, वस्तु-भाव-विधान ६९, अलंकार में भाव का चमत्कार ६९]।

अलंकार की व्यापकता का संबंध

[ध्वनि में अलंकार संभव नहीं १००, वाच्यार्थ के कारण ही अलंकार १००, अलंकार रस व्यंजना में सहायक, प्रधान नहीं १०१, पर्यायोक्ति द्वारा अलंकारत्व १०१, गुण का विश्लेषण १०२, गुण और अलंकार १०२, गुण और अलंकार की संगति १०२, उक्तिवैचित्र्य और अलंकार १०३, अलंकार के साथ रस-रूप-सत्य का संबंध १०४, अलंकार में प्रेषणीयता की जमता १०४, अलंकार में कल्पना तथा अनुभूति का सामंजस्य १०५, विशेषण विपर्यय १०७]

अलंकारों का वर्गीकरण और रूपभेद

[अलंकारों का क्रमशः विकास १०७, अलंकारों के तीन भेद के कारण १०८, सभी अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति १०८, वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति में भेद १०९, वक्रोक्ति लक्ष्यार्थ प्रधान, अतिशयोक्ति वाच्यार्थ प्रधान १०९, दोनों के भेद, पर अलंकारों का वर्गीकरण संभव नहीं ११०, अलंकार के चार मूल तत्त्व ११०, अलंकारों के मूलतः आठ वर्गीकरण ११०]

अलंकार की कुछ विशेषताएँ

[अलंकारों के वर्ग-भेद और रूप-विधान ११६, बाह्य रूप से अलंकारों की भिन्नता का निश्चय संभव नहीं ११६, रूप-विधान में समान, पर प्रयोग की विशेषता से अलंकारों में भिन्नता का निदर्शन ११६, वाचक-धर्म-लुप्ता और रूपक ११७, दृष्टांत और उदाहरण ११७, दृष्टांत और प्रतिवस्तूपमा ११७, परिणाम और रूपक ११८, तुल्ययोगिता और दीपक ११८, दृष्टांत और निदर्शना ११८, श्लेष और समासोक्ति ११८, रूपक और समासोक्ति ११९, विभावना और विशेषोक्ति ११९, असंगति और विरोध ११९, पर्याय और विशेष ११९, कारण-माला और एकावली ११९, परिसंख्या और अपह्नुति ११९, सम और समुच्चय ११९, कारकदीपक और समुच्चय ११९, परिकर और काव्यलिंग ११९, अनुज्ञा और लेश १२०, अवज्ञा और उल्लास १२०, सामान्य और मीलित १२०, सामान्य और तद्गुण १२०]।

चौथा अध्याय

रस-तत्त्व-विमर्श

रस का रूप और आनंद

[रस आत्मा की अभिव्यक्ति १२३, अंतःकरण की वृत्ति १२४, वासना १२४, भाव और रस १२४, आत्मा का रूप १२४, रसानुभूति के दो रूप १२५, रस-दशा १२६, काव्य और रसानुभूति १२६, हृदय का भाव और व्यक्तिगत संबंध १२६, भाव-दशा तथा रस-दशा १२७, रसानुभूति और भावानुभूति १२७, रस की प्राप्ति तथा ज्ञान और विश्वास १२७, बौद्धिक तथा काव्यगत आनंद १२८]

रसात्म-बोध तथा काव्य-विधान

[काव्य का वस्तु-विधान १२८, रसात्म बोध का एक और रूप १२९, मनतरंग संबंधी कल्पना १२९, व्यक्तिगत स्वार्थ और रसदशा १३०, रसात्मकता तथा 'स्व' और 'पर' १३०, भाव-दशा, रस-दशा और शारीरिक कर्म १३०, रस-दशा के व्यापार का लक्षण १३१, काव्य की सृष्टि और उसका उपक्रम १३१, काव्य-रूप में आत्माभिव्यक्ति १३२]

रसोत्पत्ति के साधन और रस-परिपाक

[भाव और इच्छा १३३, मनुष्य और भावात्मक सत्ता १३३, सुख-दुःख के कारण १३३, भाव और सुख-दुःख की स्थिति १३४, भाव के तीन वर्ग १३४, मूल भाव और सहायक भाव १३४, भावों के अनुरूप कार्य-कलाप १३५, भाव की अस्थिरता १३५, रस या आनंद उपलब्ध मात्र १३५, रस का अनुभव और आस्वादन १३६, काव्य द्वारा रसानुभूति १३६, रसानुभूति की दशा १३७]

रसानुभूति और जीवन

[स्थूल और सूक्ष्म शरीर १३८, मानव-रचना में भेद के कारण १३८, इच्छा, संकल्प, भाव और विचार १३९, भाव का साधारणीकरण १३९, रसानुभूति की स्थिति १४०, विषयानंद और ब्रह्मानंद १४०]

रस के भेद और उनका मनोवैज्ञानिक आधार

[रस का मूल रूप अविभाज्य १४१, इच्छा और भाव १४१, राग और द्वेष १४१, भाव और संवेग १४१, प्रधान और गौण भाव १४२, भाव की प्रेषणीयता १४२, स्थायी और संचारी भाव १४२, एक ही आनंद के भिन्न रूप-रस १४३, भक्ति और वात्सल्य १४४, मानवता का साधारणीकरण १४४]

रस का संस्थान और रस-दशा के व्यापार

[रस 'कर्त्ता' को नहीं १४५, आलंबन और आश्रय १४६, रस-प्राप्ति के लिए कलात्मकता की अपेक्षा १४७, भावमग्नता और रसानुभूति १४७, रसदशा में आश्रय के साथ तदाकार वृत्ति १४८, रसानुभूति और शील-दर्शन १४६]

रस और व्यंजना शक्ति

[रस में चमत्कार १४६, रस का प्रयोग और उपयोग पक्ष १५०, वस्तु का स्थूल और सूक्ष्म रूप १५०, चित्त की सत्त्व-गुण-प्रधान अवस्था १५०, रस की व्यंजना १५१, कला में आत्माभिव्यक्ति १५२, काव्य में कवि का व्यक्तित्व १५२]

रसौचित्य और रसाभास

[रस-विनियोग १५३, विभावादि की अस्थिरता १५४, रसानुभूति में विभावादि का प्रभाव १५४, रस-प्रक्रिया और लोकाचार १५५, रसाभास १५५, शृंगार-रसाभास १५५, हास्य-रसाभास १५५, करुण-रसाभास १५५, रौद्र-रसाभास १५६, वीर-रसाभास १५६, भयानक-रसाभास १५६, वीभत्स-रसाभास १५६, अद्भुत-रसाभास १५६, शांत-रसाभास १५६]

पाँचवा अध्याय

दृश्य-काव्य-तत्त्व-विमर्श

दृश्य-काव्य की विशेषताएँ

[दृश्य-काव्य का तात्पर्य और उसका रूप-विधान १५६, दृश्य-काव्य समस्त इंद्रियों के विषय १६०, देखना और सुनना अपेक्षित १६०, कलात्मक रूप में घटना का निर्वाह १६१, मुख्य जीवन-व्यापार ही दृश्य-काव्य के लिए अपेक्षित १६२, दृश्य-काव्य में श्रव्य-काव्यत्व १६२]

दृश्य और श्रव्य-काव्यों का अंतर

[दृश्य और श्रव्य-काव्य १६२, निषेध-विषय १६३, उपन्यास-नाटक में अंतर १६३, नाटक, कहानी और उपन्यास में संवेदना के भिन्न-रूप १६४, नाटक और जीवनचरित १६५, लोक-जीवन ही जीवनचरित का मुख्य विषय १६५]

नाटक में काव्यत्व और रंगमंच

[नाटक शुद्ध काव्य नहीं १६५, दृश्यकाव्य में रंगमंच १६६, काव्यत्व का समुचित समावेश १६६, रंगशाला में काव्य की प्रतिष्ठा की उपादेयता १६७, दृश्य-काव्य में स्थायी प्रभाव की ज़रूरत का कारण १६७, निषेध-विषयों के कारण और उसका अतिक्रमण १६७, नाटक के भेद १६८, 'सूच्य' का विधान १६८]

नाटक के तात्त्विक अंग

[वस्तु, नायक और रस नाटक के समग्र अंग नहीं १६८, 'वस्तु'—ऐतिहासिक तथा काल्पनिक १६९, वस्तु-निर्वाचन में भिन्न दृष्टिकोण और उसका कारण १६९, वस्तु-विधान में सर्वमान्य रूप का अभाव १७०, वस्तु के दो भेद-आधिकारिक और प्रासंगिक १७०, अर्थ, प्रकृति, अवस्था और संधि का विधान १७०, कथानक के तीन भाग—आरंभ, अंत और मध्य १७१, वस्तु-विन्यास उद्देश्य के अनुकूल १७१, यथार्थ जीवन ही नाटक की कलात्मक कसौटी १७२, पात्रों की व्यक्तिगत सत्ता से भिन्न प्रतीति ही नाटकीय सफलता १७२, शील और चरित्र का विकास १७२, नाटक और उपन्यास में अंतर १७३, वस्तु के साथ पात्र की योजना १७३, शील और चरित्र का भेद १७४, शील और चरित्र की मर्यादा १७४, शील की अपने यथार्थ रूप में प्रतिष्ठा १७४, संभाषण का उचित विनियोग १७५, संभाषण के तीन रूप और प्रभावोत्पादक बनाने की कला १७५, स्थान और समय की यथानुरूप एकता संभव नहीं १७६, देश-काल की अन्विति तथा पूर्वापर संबंध की रक्षा १७६, साधारण काव्यों में कलाकार को जैसी सुविधा रहती, नाटक में वैसी नहीं १७७, शैली के दो रूप १७८, भाव-प्रधान और कर्मप्रधान शैली के समन्वय से ही यथार्थ प्रभाव १७८, उद्देश्य का अभिप्राय १७९, नाटकीय जीवन का सांकेतिक विधान १७९,]

नाटक में जीवन की अवतारणा

[अंतर्द्वंद्व और सामयिक उल्लंघन नाटकीय जीवन का प्रमुख लक्षण १८०, यथार्थ जीवन के व्यापार के सारतत्त्व के आधार पर घटना का नूतन क्रम १८०, वृत्ति और प्रकृति के अनुसार पात्रों के रूप-विधान का रहस्य १८१, यथार्थ जीवन और दृश्य-परिवर्तन का स्थान १८१, कार्य के प्रति रुचि तथा आकर्षण एवं उसके लिए तीव्रता की आवश्यकता १८१, बाह्य व्यापार से बढ़कर अंतर्वृत्ति के प्रत्यक्षीकरण में कलाकार की योग्यता १८२]

नाटक और रस

[आत्मानुभव ही रस १८२, काव्य में नाटक के श्रेष्ठ होने का कारण १८३, नाटक द्वारा रसानुभूति के दो मार्ग १८३, नाटक अनुकरण है, यथार्थ नहीं १८३, रस का अनुभव कर्ता या भोक्ता को नहीं, द्रष्टा को १८४, नाटकीय पात्र में रस का अवस्थान संभव नहीं १८४, रस की अवस्थिति अभिनेता पात्र में भी नहीं १८४, रस की अवस्थिति उसके प्रेक्षक या द्रष्टा में ही १८४, काव्य के आनंद का अवस्थान द्रष्टा में १८५, पात्रों के कार्य यंत्रवत् नहीं १८५]

सुखांत और दुःखांत नाटक

[काव्य में प्रकृत-जीवन का प्रभाव मात्र १८६, जीवन में सुख या दुःख १८६, सुख-दुःख की समीक्षा १८६, सुखांत और दुःखांत नाटक १८७, सुखांत

और दुःखांत के संबंध में भारतीय दृष्टिकोण की यथार्थता १८७, आशा और उत्साह का आदर्श १८८, पात्रों के प्रतिकूल सुख-दुःख की अवस्थिति के कारण १८८]

अभिनय की प्रवृत्ति और कलात्मकता का विस्तार

[अभिनय की मूल प्रवृत्ति १८९, प्रदर्शन का हेतु ही अभिनय का प्राथमिक रूप १८९, नाटक का सूत्रपात १८९, आँख और कान की जिज्ञासा से नाटक का जन्म १९०, कलात्मकता के विस्तार के लिए सामाजिक वातावरण की अपेक्षा १९०]

छठा अध्याय

कथा-साहित्य-तत्त्व-विमर्श

कथा-साहित्य की विशेषताएँ

[कथा का मूल और उसके भेद के कारण १९३, काव्य में कथा का आधार अपेक्षित १९३, कथा-साहित्य का उद्देश्य १९४, कथा-साहित्य और इतिहास १९४, इतिहास और कथा-साहित्य के भिन्न-भिन्न प्रभाव के कारण १९५, मनोवैज्ञानिक सत्य की रक्षा १९६, कथा-साहित्य में उसका प्रयोग १९६, कथा-साहित्य में जीवन-दर्शन १९६, सामाजिक जीवन की प्रतिच्छाया १९७, शीलवैचित्र्य का उद्घाटन १९७, लघुता और गतिवेग १९७]

कथा-साहित्य की प्रवृत्ति—आरंभ और विकास

[कथा-साहित्य की प्रवृत्ति—अतीत का संबंध १९८, कथा-परंपरा में विस्मय, जिज्ञासा और उत्सुकता १९९, प्रारंभिक कथा-साहित्य की तीन कोटियाँ २००, कथा का आधार बाह्य वस्तु २००, तृतीय उत्थान २०१]

उपन्यास के सामान्य लक्षण

[उपन्यास की व्युत्पत्ति २०१, उपन्यास का तात्पर्य और उसके कलात्मक रूप का विकास २०२, स्वाभाविक प्रवृत्ति का उद्घाटन २०२, उपन्यास और कथा में भेद २०२, उपन्यास और नाटक २०३, प्रभावोत्पादकता की भिन्न-रूपता २०४]

उपन्यास और कहानी

[उपन्यास और कहानी में भेद २०४]

उपन्यास और प्रबंध-काव्य

[दोनों में साम्य तथा विभेद २०५, एक लक्ष्य किंतु दो भिन्न पथ २०६]

उपन्यास के मूल तत्त्व

[वस्तु २०७, वस्तु-विधान के दो रूप २०७, उपन्यास में घटना तथा चरित्र २०८, चरित्र-चित्रण २०८, कथोपकथन २०९, शैली २०९, वर्णनात्मक शैली २०९, आलोचनात्मक शैली २१०, संभाषणात्मक शैली २१०, उत्तम पुरुषात्मक शैली २१०, गद्य-काव्यात्मक शैली २१०, पत्र या डायरी की शैली २११, उद्देश्य २११, मनोरंजन से कला-प्रदर्शन २११, मानव-हृदय के भावों और अनुभूतियों की व्यंजना २१२, देश-काल की अन्विति २१२]

कहानी के तथ्य और उसकी प्रवृत्ति

[कहानी का आरंभिक रूप २१३, कहानी के विषय २१३, जीवन की मार्मिक अनुभूति की व्यंजना २१४, चिरंतन सत्य की व्यंजना २१४]

कहानी के भेद और उसकी विशेषता

[कहानी के विभिन्न भेद २१५, शैली के अनुसार दो भेद २१५, प्रकृति के विचार से चार भेद २१६, चरित्र-प्रधान की विशेषता २१६, दो धाराएँ २१६, वातावरण-प्रधान २१७, घटना-प्रधान २१७]

कहानी के तत्त्व

[मार्मिकता २१८, कहानी के गुणों का विचार २१८]

कहानी की शैली

[वर्णनात्मक २१८, संलाप २१९, आत्मचरित प्रणाली २१९, पत्र-शैली २१९]

साहित्य-साधना की पृष्ठभूमि

[प्रथम खण्ड]

साहित्य-तत्त्व-विमर्श

साहित्य-साधना की पृष्ठभूमि

दूसरा अध्याय

काव्य-तत्त्व-विमर्श

दूसरा अध्याय

काव्य-तत्त्व-विमर्श

काव्य की मूल प्रकृति

काव्य का लक्षण विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से व्यक्त कर उसको सर्व-मान्यता की किसी सामान्य भूमि पर नहीं रहने दिया है। कोई रसात्मक वाक्य^१ को ही काव्य का रूप मानते, तो कोई रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द^२ को काव्य कहते हैं। कोई रीति^३ को काव्य की आत्मा निरूपित करते, तो कोई ध्वनि^४ को ही उसका सर्वस्व समझते हैं। किसी के विचार से वक्रोक्ति^५ काव्य का प्राण है, तो कोई अलंकार^६ द्वारा ही उसे अनुप्राणित मानते हैं। कोई ऐसे हैं जिन्होंने काव्य के लक्षण में किसी एक ही वस्तु को नहीं मान कर इसमें एकाधिक या सबका समावेश किया है। प्राचीन आचार्यों के ये लक्षण, अपने-अपने रूप में बहुत कुछ सत्य होने पर भी, सर्वसमाहत नहीं रहे और वैज्ञानिक ढंग से साहित्य-शास्त्रियों ने इसकी नई-नई व्याख्या करना शुरू कर दिया है। ऐसी व्याख्याओं में भी एकरूपता नहीं है, किंतु इतने पर सब सहमत हैं कि काव्य को मानवजीवन के स्तर पर ही खड़ा किया जाना उचित है। रमणीयता, रीति, ध्वनि, अलंकार प्रभृति सब काव्य के लिए आवश्यक उपकरण होते हुए भी कोई एक काव्य-जीवन का पर्याय नहीं हो सकता। जिन लोगों ने इनका काव्य के लक्षण में समावेश किया है उनके विचार से ये बाह्य उपकरण नहीं, बल्कि काव्य के स्वरूप ही हैं, किंतु वैसा होने से काव्यजीवन की विविधता

१. 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'—विश्वनाथ—साहित्य दर्पण
२. 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'—पंडितराज जगन्नाथ—रस-गंगाधर
३. 'रीतिरात्मा काव्यस्य'—वामन—काव्यालंकार ।
४. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाभ्यात् पूर्वः—आनंदवर्द्धनाचार्य—ध्वन्यालोक
५. न शब्दस्यैव रमणीयता विशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वम् नाप्यर्थस्येति ।

शब्दार्थी साहिती वक्र कविव्यापारशालिनि,
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विवाहादकारिणी

—कुंतल—वक्रोक्ति जीवित

६. 'अलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्'—रुय्यक—अलंकारसर्वस्व ।

७. साधुशब्दार्थसंदर्भ, गुणालंकारभूषितम् ।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ॥

—वाग्भट्ट—वाग्भट्टालंकार

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिगुणभूषिता ।
सालंकाररसानेका वृत्तिर्वाक्यनामभाक् ॥

—जयदेव—चंद्रालोक

उसको किसी एक स्थान पर खड़ा नहीं होने देती। सभी लक्षणों के अनुसार मानव-हृदय को स्पर्श कर आनंद को उद्रेक करने की शक्ति काव्य के मूल में है। इसलिए इसमें अमान्यता किसी की नहीं है कि काव्य हृदय की प्रकृत संवेदना का कलात्मक व्यापार है। वाणी के क्षेत्र में ही यह व्यापार संघटित हो सकता है, इसलिए उक्त कलात्मकता का वाङ्मयरूप काव्य है।

काव्य की उद्भावनता का मूल क्या है, इस पर जब हम विचार करते तब देखते हैं कि मनुष्य एक संवेदनशील प्राणी है। यह संवेदना बाह्य-जगत् की किसी वस्तु या घटना के विवाधात से उद्बुद्ध होकर उसकी रागात्मिका वृत्ति के द्वारा भाव-रूप में परिणत हो जाती है।

काव्य की
उद्भावनता का
मूल

भाव की विस्तार-दशा में हृदय स्वतः उसका संपूर्ण उपभोग करने में असमर्थ हो जाता है। उपभुक्त होने के बाद भावात्मक-शक्ति का उद्वर्त हृदय में संचित होता जाता है और किसी-न-किसी निर्गम पथ के द्वारा बहिर्गत् होने को व्याकुल हो जाता है। इसी को कला की सृष्टि का मूल मानना

चाहिए^१। काव्य एक कला है, इसलिए इसका भी उद्गम उसी उद्वर्त से है। भाव मानव हृदय की संपत्ति है। उसका कोई स्थिर और एक रूप नहीं रहता। राग-वृत्ति की भिन्नता से संवेदना का संयोग होने के बाद भाव भी भिन्न रूप का हो जाता है, किंतु सब में 'रागवृत्ति' समान रूप से अंतर्हित रहती है। राग का ही प्रतिमुख द्वेष है। इसी रागद्वेष का विनियोग जीवन में काव्य की सामग्री है। मूलभाव जाग्रत होकर जब परिपुष्ट होने लगता है तब अनेक सहायक या अंगीभाव उससे मिलते-बिछुड़ते रहते हैं। उनके संसर्ग से मूल भाव अपने विस्तार से हृदय को अधिकाधिक आच्छन्न कर लेता है। भाव की उस अवस्था में मनुष्य का हृदय जगत् के साथ अपनी पृथक सत्ता को भूल कर केवल अनुभूति मात्र रह जाता है। शुक्लजी के शब्दों में यह अवस्था हृदय की मुक्त-दशा है जहाँ मनुष्य का संपूर्ण व्यक्तित्व केवल भाव ही भाव रह जाता है। यह भाव पिघले हुए धातु के समान हृदय के पात्र में ढुलकते रहता है। इसको यदि मूर्तिमान कर बाहर स्थिर नहीं कर दिया जाय तो संवेदना की आँच धीमी पड़ने पर वह फिर सुप्तदशा को प्राप्त हो जाता है। इसलिए शब्दों की आकृति में उसे ढाल दिया जाता है। काव्यकार की निपुणता इस द्रवीभूत भाव को शब्दों की आकृति में ढाल कर उसे स्थिर कर देना है। अतः कहा जा सकता है कि काव्य भावों का शब्दात्मक चित्र है। ऐसे चित्र में रस, रमणीयतादि को बाहर से आरोपित करने की आवश्यकता नहीं होती। वे स्वतः सरस और सुंदर होते हैं।

काव्य जीवन के उपलक्ष्य को सम्मुख रख कर ही आगे बढ़ता है। काव्य में जीवन के प्रवर्तन की दो दिशाएँ हैं। एक का संबंध कलाकार की परिग्रहणवृत्ति से है। उसमें काव्य में जीवन-देखा जाता है कि बाह्यजीवन किस रूप से उसके जीवन को प्रभावित कर प्रवर्तन की दो सका है—किसको देख कर वह हँसा, वहाँ रोया है, इस ग्राहकता में उसका दिशाएँ अपना जीवन किस रूप से प्रभावित हुआ है। दूसरे का संबंध उसकी अभिव्यंजनावृत्ति से है। उससे प्रकट होता है कि जीवन को किस रूप

1. Man has a fund of emotional energy which is not all occupied with his self-preservation. This Surplus seeks its outlet in the creation of art; for man's Civilisation is built upon this.

Rabindranath—What is art?

से निर्मित कर वह संसार के सामने रख रहा है। जीवन के ऐसे विधान में कलाकार अपने व्यक्तित्व को आरोपित करके बाहर प्रकट करता है। अभिव्यंजना के भीतर ही कलाकार यथार्थ रूप से जीवित रहता है^१। क्योंकि उसने जीवन का जो रूप काव्य में उपस्थित किया वह उसके व्यक्तित्व का यथार्थ रूप है। इन्हीं दोनों रूपों में ग्राहक और विधायक कल्पनाएँ अपना व्यापार करती हैं। कल्पनाओं के व्यापार में यथार्थ जीवन की बहुत-सी बातें छोड़ दी जातीं और उनके स्थान पर प्रायः नई बातें जोड़ दी जाती हैं। काव्य में जीवन की अवतरणिका की एक मर्यादा है। मानवी प्रवृत्ति का सामान्य व्यापार जीवन में कोई विशेषता नहीं लाता। हम खाते हैं, हमारा भाई भी खाता है, दोनों के जीवन का यह सामान्य-व्यापार है। काव्य में जीवन का ऐसा व्यापार कोई प्रभाव नहीं उत्पन्न करता। किंतु, हम भूखे रह कर अपना हिस्सा भी भाई को खिला देते, या भाई का हिस्सा भी छीन कर खा लेते हैं, यह जीवन का असामान्य व्यापार है। इन दोनों के बीच अपना हिस्सा भाई को खिला देने में कर्म-सौंदर्य के साथ-साथ भाव-सौंदर्य की प्रतिष्ठा भी होती है। 'अनुज सखा संग भोजन कर ही'^२ में ऐसे ही कर्म-सौंदर्य की प्रतिष्ठा है। जीवन के ऐसे व्यापार से हृदय की संवेदना स्वाभाविक रूप से जाग्रत होती है। इसलिए काव्य-विधान में जीवन के कर्म-सौंदर्य की ऐसी योजना रहनी चाहिए जो हृदय की संवेदना को सीधे जाग्रत करनेवाली हो^३। परिस्थिति के संघर्ष में जीवन को किस प्रकार किस ओर ले जाने से उसका सौंदर्य उद्भासित होने लगेगा, इसका ज्ञान कवि-कर्म की कसौटी है। कलाकार अपने पात्रों के बाह्य जीवन को काव्य की वस्तु बना कर उसको सबकी संवेदना का परिप्रेरक बना देता है। इस रूप में उपस्थित जीवन के साथ सबका समान संबंध हो जाता है। सूरदास के पदों में उतरने के पहले बालक कृष्ण का बाल-हठ उनके माँ-बाप या परिवार वालों के लिए भले आनंद और आह्लाद का कारण रहा हो। किंतु, कवि ने 'चंद्र-खिलौना लैहों मैया, कारी को पय पान न करिहीं'....^४ में उस हठ का रूप-विधान कर के कृष्ण के बाल्य जीवन पर सबका वात्सल्य-अधिकार समानरूप से निरूपित कर दिया है। यथार्थ कृष्ण को इस प्रकार हठ करते हुए किसीने देखा था या नहीं, कौन जाने, किंतु, काव्य का बालकृष्ण आज भी इस तरह हठ करते हुए प्रत्येक माँ-बाप के सामने खड़ा हो जाता है। प्रकृत जीवन में मनुष्य अपने हर्ष या विषाद, आवेग या क्रोध, शील या सहिष्णुता से व्यक्तियों की एक सीमित परिधि को ही प्रभावित कर सकता है, किंतु काव्य में आने के लिए जीवन का प्रत्येक कार्य मानव मात्र की संवेदना को जाग्रत करनेवाला होना चाहिए। जीवन का ऐसा ही विधान काव्य की स्वीकृत है। इसलिए मानव जीवन को काव्य में उतारने के समय कवि के लिए आवश्यक है कि परिस्थितियों की ऐसी अनुकूलता उत्पन्न करे जिसमें चरित्र का विशेष आभास प्रकट होता हो और भावों के विन्यास में कोई व्यतिक्रम नहीं आ सके।

इस कार्य के लिए कवि को भावना और कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। भावना की तीव्रता के बिना भाव का विस्तार नहीं होता है। भाव की क्रियाशीलता हृदय की

१. सुधांशु—काव्य में अभिव्यंजनाविधान

२. तुलसी दास—रामचरितमानस

३. सुधांशु—जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत

४. भूर पदावली—

रजोगुणवृत्ति का एक व्यापार है। वह बाहर से नहीं आता। भाव का अर्थ ही सत्ता या विद्यमानता है। नहीं रहने की अवस्था को अभाव कहा जाता है। भावना संवेदन की प्रतिक्रिया से उत्पन्न और विलीन होती रहती है। बाह्य जगत् का यथार्थ या सत्यरूप ही काव्य को मान्य है, इसलिए उसकी प्रतिक्रिया से उत्पन्न भावना भी सत्यरूप है। वह संस्कार और वासना के अनुरूप आपही उत्पन्न होती रहती है, किंतु कल्पना मन की अपनी सृष्टि है। भावना की सत्य-प्रतीति के लिए कल्पना का आधार रहता है। कल्पना के लिए मन को व्यायाम करना पड़ता है और अंतर्जगत् में ऐसी रचना का उपक्रम किया जाता है जो भावना को सुरक्षित रखने के लिए रक्षा-गृह का काम दे। जिस प्रकार महल हवा या आसमान में नहीं उठाया जा सकता उसी प्रकार कल्पना का महल भी असत्य वस्तु के आधार पर नहीं खड़ा किया जा सकता है। सत्य में ही आनंद है। असत्य आनंदजनक हो नहीं सकता। काव्य में वर्णित असत्य वस्तु भी सत्य-रूप में गृहीत होने के बाद ही आनंददायक हो सकती है। अथच सत्य और आनंद एक ही वस्तु है। इसलिए कल्पना असत्य भले ही प्रतीत होती हो, किंतु उसे सत्य-रूप में मानने पर ही वह आनंद का कारण हो सकती है। कल्पना भावों की अप्रस्तुतयोजना है जो प्रस्तुत को सम्मुख रख कर ही रची जाती है। काव्य की प्रकृति में भावना और कल्पना का योग आवश्यक है।

किसी वस्तु के निर्माण में उसके अस्तित्व का उद्देश्य निहित रहता है। काव्य का निर्माण मानव जीवन को उपलब्ध करके ही किया जाता है। काव्य का बहुसम्मत सिद्धांत है कि 'वह मनुष्य का और मनुष्य के लिए है।' जीवन की प्रयोजनीयता को अलग कर देने से काव्य में कुछ शेष नहीं रह जाता। वह प्रयोजनीयता आनंद की है और आनंद सत्य की ही प्रतिकृति है। इसलिए सत्य काव्य का मूलाधार है—यही काव्य की वस्तु है। जो है नहीं, जिसके अस्तित्व का बोध नहीं हो सकता, उसकी भावना भी जग नहीं सकती। उसके लिए काव्य का विधान भी नहीं किया जा सकता। किंतु, सत्य को काव्य में लाने के लिए उसका कुछ उद्देश्य होना चाहिए। वह उद्देश्य है, 'शिव'—'मंगल'। 'शिव' में विश्व कल्याण की भावना है। काव्य के सिद्धांत में कि 'वह मनुष्य के लिए है' यहीं 'शिव-रूप'—विश्व-कल्याण की भावना छिपी रहती है। सत्य के आधार पर काव्य की अट्टालिका खड़ी करके यदि उसको 'लोकसुखाय' या 'सर्वजनहिताय' नहीं बना कर केवल 'स्वांतः सुखाय' बना दिया तो वह कलाकार के जीवन के साथ ही विनष्ट हो जाता है। रामचरितमानस में गोपाई जी का 'स्वांतः सुखाय' केवल शिष्टाचार का प्रदर्शन है। 'सत्य' वस्तु है तो 'शिव' उसका धर्म है। जहाँ 'सत्य' है वहाँ 'शिव' रहेगा ही। जो 'शिव' नहीं है उसके 'सत्य' होने में संदेह है। 'शिव' धर्म से युक्त होने के लिए 'सत्य' को 'सुंदर' होना ही चाहिए। 'सुंदर' 'शिव-धर्म' वाले 'सत्य' का रूप है। जबतक कोई वस्तु सुंदर या दर्शनीय नहीं होगी तबतक कल्याणकर होने की संपूर्ण योग्यता उसमें आ नहीं सकती। जगत् के बाह्यव्यापार में भी कुरूप या अंगहीन को अमंगल सूचक कहा जाता है। काने, लंगड़े, या विकृत-शरीर-व्यक्तियों का दर्शन लोक-व्यवहार में अमंगल सूचक माना जाता है। यही काव्य में भी मान्य है। काव्य की सुंदरता उसके

भावना और
कल्पना का
व्यापार

काव्य का
उद्देश्य

सत्य और शिव का
प्रयोग

ऐसे रूप-विधान में है कि वह वह सर्वप्रिय हो। अप्रिय कथन काव्य के सौंदर्य का विघातक है। 'सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्' की नीति में इसी प्रिय कथन का संकेत है। प्रिय और सुंदर में थोड़ा भेद है। 'प्रिय' में हृदय के सामीप्य का और 'सुंदर' में जीवन की अनुरंजकता का आशय है, तभी तो काव्य में प्रिय और सुंदर पर्यायवाची माने जाते हैं। जैनेन्द्र ने अपने विचार में 'शिव' और 'सुंदर' के निरूपण में जीवन का सामंजस्य बतलाते हुए लिखा है कि 'असल में मानव की मूल प्रवृत्तियाँ दो दिशाओं की ओर चलती हैं— एक वर्तमान के हृदय की ओर, दूसरी भविष्य के आवाहन की ओर। एक ऐहिक, दूसरी पारलौकिक। एक में आनंद की चाह है, दूसरी में मंगल की खोज। एक का कामदेव सुंदर है, दूसरी का आराध्यदेव 'शिव' है।

कुछ लोगों का विचार है कि यह 'सत्यं, शिवं, सुंदरम्' अभी कुछ ही दिनों से—जब राजा राम मोहन राय और केशवचंद्र सेन ने ब्रह्मसमाज का प्रवर्तन किया—चला है ; भारतीय काव्य में इसका निरूपण नया-नया है। किंतु, यह ठीक नहीं है। यह सत्य है कि पश्चिमी सभ्यता का विस्तार जब भारतीय जीवन को एक प्रकार से विलुप्त कर देने पर हुआ तब ब्रह्मसमाज के प्रवर्तकों ने पश्चिमी सभ्यता के संस्कारवश, भारतीय जीवन की रक्षा करते हुए, कीट्स और शेली के 'The Truth, the good, the beautiful' को सत्यं, शिवं, सुंदरम् कह कर काव्य में प्रविष्ट किया जिससे भारतीय काव्य की प्रकृति को नये ढंग से कहने की परिपाटी चली ; किंतु भारतवर्ष में पश्चिमी कलाकारों के उक्त सिद्धांत के बहुत पहले 'सत्यं, हितं, प्रियं' का वचन चल चुका था, और उसके भी पहले यहाँ उपनिषदों में ईश्वर के 'सत्' 'चित्' 'आनंद' मय रूप का निरूपण होकर उक्त भावना का विस्तार हो चुका था। काव्य में 'सत्यं', 'शिवं', 'सुंदरम्' का विधान भारतीय साहित्य की प्राचीन परंपरा का ही एक परिवर्तित रूप है और उसका निर्वाह आज भी आवश्यक है।

काव्य की मूल प्रकृति में उसका सबसे आवश्यक अंग रस की योजना है। रस और आनंद एक ही वस्तु है। यदि कोई काव्य श्रोता या पाठक के हृदय में रस का संचार नहीं कर सका, यदि पढ़ने-सुनने के समय लोग अपनी बाह्य सत्ता को भूल कर काव्य में वर्णित वस्तु की संवेदना से मुक्त-हृदय नहीं हो तो काव्य व्यर्थ हो जाता है। रस और उसकी उत्पत्ति तथा विकास का विधान आगे किया जायगा। इतना जान लेना आवश्यक है कि काव्य को पढ़ने या सुनने के समय जो एक नई संवेदना का संचार होता है उसके प्रभाव से हृदय जगत् के बंधनों से मुक्त हो जाता और जब तक लोग उसे पढ़ते-सुनते रहते हैं तब तक अपनी बाह्य सत्ता को विस्मृत किए रहते हैं। यही रस-दशा है। काव्य की प्रकृति ऐसी ही रस-दशा को उत्पन्न करती है। काव्य में रसभोग उसके जीवन का प्रथम और अंतिम लक्ष्य है।

काव्य का रूप और जातिभेद

काव्य के क्षेत्र में जिन तत्त्वों का विनियोग आवश्यक है उन्हीं का समावेश कविता में भी होता है। काव्य और कविता में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है। जिस पद्य में काव्य के गुण हों वही कविता है। दोनों के मूल में भावों की अभिव्यक्ति द्वारा रसोत्पादन करना है किंतु काव्य जहाँ छंद-विधान की मान्यता से स्वतंत्र भी हो सकता है, वहाँ कविता छंदों के बंधन से बाहर नहीं जा सकती। काव्य गद्य में भी लिखा जा सकता है। गद्यात्मक काव्य और साधारण गद्य में अंतर है और वह यह कि साधारण गद्य में भाव विधान का प्रतिबंध शिथिल रहता है, परंतु गद्यात्मक काव्य के लिए भावों के सीधे और आदिम रूप की स्थापना आवश्यक है। वाणी-विधान में भावों का सीधा संबंध जब छंदों के आवरण में व्यक्त होने लगता है तब वह कविता कहलाने का अधिकारी हो जाता है। रूप-भेद के अतिरिक्त कविता और काव्य की ध्वनि में कुछ अंतर है। 'कविता' में कवि का धर्म या व्यक्तित्व और काव्य में कवि की सृष्टि या व्यापार ध्वनित होता है। व्यक्तित्व और उसके व्यापार में ऐसा सामंजस्य है कि एक को दूसरे से भिन्न नहीं किया जा सकता, बल्कि व्यक्तित्व का आभास सन्निहित रहता है। यही कारण है कि कविता और काव्य में एक दूसरे का मर्म छिपा रहता है।

काव्य के रूप-विधान में कवि साधारणतः दो मार्ग से आगे बढ़ते हैं। एक में स्वाश्रयी-भाव को अभिव्यक्त करके उसे ग्रहण करने के लिए बाह्यजगत् के संमुख छोड़ दिया जाता है। दूसरे में बाह्यजगत् के विभिन्न व्यापारों से समुद्भूत अन्याश्रयी भाव को अभिव्यक्त किया जाता है। एक में अंतःकरण का भाव बाह्यजगत् में आरोपित कर नई सृष्टि की जाती है, दूसरे में वर्तमान 'सृष्टि' के संघर्ष से उत्पन्न भाव को सृष्टि के मंगल विधान के लिए अभिव्यक्त किया जाता है। एक का आलंबन कविहृदय के अपने भाव की प्रतिक्रिया है, दूसरे का जागतिक व्यापार। इसी का दूसरा रूप है कि एक में कवि अपने हृदय की सजनशील वृत्ति से संवेदना की सृष्टि कर अपनी अनुभूति को आत्मनिवेदन के रूप में रख देता है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति में आरोपित सुख-दुःख कवि का अपना सुख-दुःख रहता है। दूसरे में कवि की अनुभूति का आधार बाह्यजगत् रहता है। इसमें कवि अपने को केवल द्रष्टा के रूप में रख कर वस्तु या पात्रगत जीवनव्यापार को अपने मार्ग पर बढ़ने देता है। दोनों रूप के द्विविध काव्यों में एक को स्वानुभूति-मूलक और दूसरे को बाह्यार्थनिरूपक कहा जा सकता है। इसको रविबाबू ने इस प्रकार लिखा है, 'एक जिसमें कवि की बात होती है, दूसरा जिसमें बड़े समाज या संप्रदाय की बात होती है। कवि की बात का तात्पर्य उसकी सामर्थ्य है जिसमें उसके सुख-दुःख, उसकी कल्पना और उसके जीवन की अभिज्ञता के अंदर से संसार के सारे मनुष्यों के चिरंतन हृदयवेग और जीवन की मार्मिक बातें आप-ही-आप प्रतिध्वनित हो उठती हैं। दूसरी श्रेणी के कवि जिनकी रचना के अंतस्थल से एक सारा देश, एक सारा युग, अपने हृदय को और अपनी अभिज्ञता को प्रकट कर उस रचना को सदा के लिए समादरणीय सामग्री बना देता है।'।

काव्य के रूप में एक भेद यह भी परिलक्षित होता है कि एक में कवि का व्यक्तित्व प्रधान रहता है, दूसरे में पात्रों का व्यक्तित्व । पहले में कवि अपनी कला से स्वयं प्रधान बना रहता है, और विषय-प्रतिपादन में, पात्रों को उपस्थित करके भी, वर्णन-शैली से पद-पद पर अपने प्रति पाठक या श्रोता का आकर्षण प्राप्त करता है, जब दूसरे में कवि स्वयं लुप्त हो जाता है और वर्णित विषय इस प्रकार प्रधान हो जाता कि कवि के व्यक्तित्व का पता ही नहीं रहता । राजा राधिकारमण के राम रहीम' नामक उपन्यास में पात्रों के चरित्र का विकास करते हुए विषय का इस राजसी रूप से वर्णन किया गया है कि मालूम होता है, लेखक पात्रों के बीच में अपने को ही अधिक व्यक्त कर रहा है । विषय-प्रतिपादन की शैली में लेखक का व्यक्तित्व, उसका अनुभव, उसकी रुचि, उसके जीवन का उपभोग, पद-पद पर निखर उठता है । प्रेमचंद के उपन्यासों या कहानियों में लेखक के व्यक्तित्व को ढूँढ़ निकालना बड़ा कठिन है । यों तो शैली में लेखक का व्यक्तित्व छिपा रहता ही है, किंतु उसको सजा-सजा कर बाहर करने और ओट में छिपाये रखने में बड़ा अंतर है । इन दोनों को आत्मव्यंजक और परव्यंजक कहा जाता है । आत्मकथा या भ्रमण-वृत्तांत साधारणतः आत्मव्यंजक ही होते हैं ।

उपर्युक्त रूप-भेद के आधार पर दो प्रकार की कविताएँ रची जाती हैं । एक का नाम है मुक्तक, दूसरे का प्रबंध-काव्य । मुक्तक साधारणतः स्फुट रचना को कहते हैं ।

मुक्तक और प्रबंध

इसमें भाव-व्यंजना ही प्रधान रहती है । वस्तु के रूप-विधान का आग्रह इसमें कम रहता है । वस्तु-रूप-विधान में भावों की एकरूपता नहीं रहती है । मुक्तक रचना में भावों की अभिव्यक्ति के सम्मुख वस्तु का रूप विलुप्त हो जाता है, किंतु प्रबंध-काव्य में रूप-व्यंजना प्रधान होती है । प्रबंध-काव्य में रूप-व्यंजना के साथ-साथ भाव-व्यंजना चलती है । मुक्तक रचना साधारणतः स्वानुभूति-मूलक हुआ करती है, कहीं-कहीं बाह्यार्थ-निरूपक भी हो जाती, किंतु प्रबंध-काव्य बाह्यार्थ-निरूपक ही होता है । इसमें भावों का आधार पात्रों की प्रकृति और प्रकृतिजन्य अनुभूति होता है । मुक्तक में कथानक या घटना क कोई कम निर्धारित नहीं रहता, किंतु प्रबंध-काव्य में कथानक की गति पात्रों के जीवन से संबंध रखती हुई आगे बढ़ती है । मुक्तक में जीवन को प्रतिबिंबित करने के समय कलाकार को उसके आगे-पीछे जाने की जरूरत नहीं होती किंतु प्रबंध-काव्य में जीवन के त्वापर संबंध का निर्वाह करना पड़ता है । मुक्तक की घटना का एक स्थिर बिंदु है किंतु प्रबंध-काव्य में घटनाओं का एक क्रम रहता है जिस क्रम के साथ काल और परिणाम की संगति होनी चाहिए । यथार्थ में भाव की तरंगों पर तो दोनों ही प्रकार की रचनाएँ नाचती हैं, किंतु मुक्तक रचना भावों के सम्मुख वस्तु को भुला देती है, जब प्रबंध-काव्य भावों के साथ वस्तु-विधान को लिये ही नहीं चलता, बल्कि उसका उपचय और उपसंहार करके साह्रिक रूप से एक परिणाम या संदेश छोड़ जाता है ।

इस प्रकार जीवन के नियत क्रम का अनुसरण करके रस-सिद्धांत द्वारा उसको लोक-हृदय की वस्तु बना देनेवाला वाग्बिधान प्रबंध-काव्य कहलाता है । ऐसा जीवन अपनी संपूर्णता तथा असंपूर्णता के विचार से काव्य में दो रूप से प्रकट होता है । यही द्विरूप जीवन-विधान खंडकाव्य और महाकाव्य की पृष्ठभूमि है । जैसे मुक्तक रचना में किसी एक

ही भाव की पूर्ति होती है वैसे खंडकाव्य में जीवन के किसी एक ही अंश की। प्रबंध का एक रूप होने के कारण खंडकाव्य में अनेक भावों का आश्रय और उनका सामंजस्य अपेक्षित है, किंतु उनको जीवन के किसी एक अंश से ही संबंध रहता है। खंडकाव्य और महाकाव्य में जीवन की प्रत्येक दिशा पर दृष्टि रख कर सबका सर्वांगपूर्ण और क्रमबद्ध वर्णन किया जाता है। जीवन की जटिल और व्यापक समस्याओं को इस प्रकार मुलभा कर सबके सामने रख दिया जाय जिससे लोक-यात्रा में वह सबका सहायक और मार्गदर्शक बन जाय, तभी महाकाव्य की सार्थकता है। जीवन की आंतरिक और बाह्य प्रकृति के विविध व्यापारों तथा उनकी अनुरूपता और विरूपता से उत्पन्न परिणामों का वर्णन खंडकाव्य और महाकाव्य दोनों ही को मान्य है, किंतु खंडकाव्य में स्थान और काल की अन्विष्टि अपनी परिमिति के कारण जीवन के विशेष अंश को ही छूती है। जब महाकाव्य अपनी विस्तृति से देश, काल और स्थान की परिधि को बहुत बढ़ा देता है। महाकाव्य के संबंध में रवि बाबू ने लिखा है कि 'मन में जब एक वेगवान अनुभव का उदय होता है तब कवि उसे गीत काव्य में प्रकाशित किये बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार मन में जब एक महत् व्यक्तित्व का उदय होता है, सहसा तब एक महापुरुष आकर कवि के कल्पना-राज्य पर अधिकार जमाता है। मनुष्य चरित्र का उदार महत्त्व मनश्चक्षु के सामने अग्निष्ठित होता है, तब उसके उन्नत भावों से उद्दीप्त होकर उस परम पुरुष की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने के लिए कवि भाषा का मंदिर निर्माण करता है। उस मंदिर की भित्ति पृथिवी के गंभीर अंतर्देश में रहती है और उसका शिखर मेघों को भेद कर आकाश में उड़ता है, उस मंदिर में जो प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है उसके देव-भाव से सुग्ध और उसकी पुण्य-किरणों से अभिभूत होकर नाना दिग्देशों से आ-आकर लोग उसे प्रणाम करते हैं—इसी को कहते हैं महाकाव्य।'

रस-दशा या भाव को उत्पन्न करने के संबंध में खंडकाव्य और महाकाव्य में विशेष अंतर नहीं है। दोनों ही एक लक्ष्य के साधन हैं। खंडकाव्य अपेक्षाकृत अपनी परिमित

**दोनों की छंद-
योजना में क्रमशः
एक और अनेक के
कारण**

परिधि के कारण हमारे हृदय में जितनी संवेदनाएँ जितनी देर तक उठा कर हमें जगत् की बाह्य सत्ता से मुक्त रख सकते हैं, उसकी अपेक्षा महाकाव्य अधिक संवेदनाएँ अधिक देर तक जाग्रत रख कर हमको रस-दशा में स्थिर रख सकते हैं। महाकाव्य में विभिन्न प्रकार के छंदों का प्रयोग इसलिए आवश्यक है कि जीवन के भिन्न भाव-विचारों की अभिव्यक्ति विशेष छंदों में ही हो सकती है। सुकुमार पद-योजना द्वारा क्रोध-वृत्ति को हम छंदों में नहीं व्यक्त कर सकते, न करुणा को प्रकट करने के लिए क्लिष्ट-पद-प्रयुक्त छंद का प्रयोग हो सकता है। लय और छंद के विधान में हृदय की वृत्तियों की अनुरूपता का एक निश्चित रूप है। महाकाव्य में जीवनव्यापी भिन्न-भिन्न वृत्तियों की अभिव्यक्ति में तदनुरूप छंदों का ही आयोजन होना चाहिए, इसलिए खंडकाव्य जहाँ एक ही छंद में आदि से अंत तक लिखा जा सकता है, वहाँ महाकाव्य में वैसा करना संभव नहीं है।

महाकाव्य की घटनाएँ साधारणतः ऐतिहासिक दुआ करती हैं। जहाँ ये घटनाएँ काल्पनिक होती हैं वहाँ भी पात्रों की योजना ऐतिहासिक तथ्य का व्यतिक्रम नहीं कर सकती। खंडकाव्य कल्पित घटनाओं के आधार पर भी रचा जा सकता है और उसके विधान में ऐतिहासिक सत्य-रक्षा का उतना आग्रह नहीं रहता। सच तो यह है कि महाकाव्य में चरित्र का विकास होता है और खंडकाव्य में कवित्व का विकास। महापात्र विश्वनाथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'साहित्य-दर्पण' में काव्य के किसी एक अंश का अनुसरण करनेवाले को खंडकाव्य कहा है जो युक्तियुक्त नहीं मालूम होता। काव्य का एक अंश तो रीति, गुण, अलंकार कोई भी हो सकता है। यदि किसी एक ही अंग की रक्षा में काव्योचित अन्य गुणों को तिरस्कृत किया जाय तो वह काव्य नहीं होगा। महाकाव्य के लक्षण में जिन वस्तुओं का समावेश उन्होंने किया है वे अब प्राचीन परंपरा की वस्तुएँ हो गईं। सवका सम्यक् निर्वाह न संभव है, न आवश्यक। असल में देखना है कि जीवन का आदर्श स्थापित करने के लिए काव्य द्वारा हम कहाँ तक लोक-हृदय को प्रभावित कर सकते हैं। ऐसा प्रभाव अल्पकालीन तथा एकांगी है तो उसका विधायक खंड-काव्य और दीर्घ-कालीन एवं सर्वांगपूर्ण है तो उसका प्रतिपादक महाकाव्य कहलाता है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के काव्यों का पर्यवसान जगत् के सुखात्मक या दुखात्मक रूप में होता है। इसी आधार पर सुख-प्रधान और दुःख-प्रधान दो प्रकार के काव्य हैं। संसार में सुख अधिक है या दुःख, इसका निर्णय आज तक नहीं हो सका है। सुख-दुःख का अपना कोई स्थिर रूप नहीं है, लेकिन यह सच है कि मनुष्य की चित्त-वृत्ति दो में से किसी के अनुरूप होकर जीवन को सुखमय या दुःखमय बनाये रहती है। सुख या दुःख अहंकार की व्यक्त दशा है। दुःख के क्षेत्र में अहंकार सिकुड़ कर संसार से अपने को भिन्न कर लेता है, सुख में विकीर्ण होकर वह संसारमय हो जाता है। रसों के स्थायित्व में इन्हीं दोनों का योग रहता है। शृंगार, हास्य, वीर और अद्भुत सुखमूलक तथा करुण, रौद्र, भयानक, और बीभत्स दुःख-मूलक रस माने जाते हैं। इसका कारण है कि पहले वर्ग के रसों के स्थायी भाव—रति, हास, उत्साह और विस्मय—में अहंता या आत्मभावना विस्तार का

१—सर्गबंधो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः । सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरादातृगुणान्वितः ॥
 एकवंशभवा भूपा कुलजा बहवोऽपिवा । शृंगार-वीर-शांतानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ॥
 अंगानि सर्वेपिरसाः सर्वे नाटकसंधयः । इतिहासोद्भव वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ॥
 चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् । आदौ नमस्त्रिवाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ॥
 कचिन्निन्दा खलादीनां मतां न गुणकीर्तनम् । एक वृत्त-मयैः पद्यैर्वसानेऽन्यवृत्तकैः ॥
 नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह । नाना वृत्तमयः कापि सर्गः कश्चन दुष्यते ॥
 सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् । मन्थान-पुत्रेन्दु-रजनी-प्रदोष-ध्वान्त-वासराः ॥
 प्रातर्मध्याह्न—मृगया—शैलचर—सागराः । संयोगविप्रलंबीच मुनिवर्गपुराध्वराः ॥
 रणप्रयाणोपयममंत्रपुत्रोदयादयः । वर्णनीया यथार्थांगं सांगापांगाश्रयी इह ॥
 कवे ईत्तस्य वा नाम्ना नायकव्यंतरस्य वा । नामास्य सर्गापादिकथया सर्गनाम तु ॥

कम दिखलाती है, जब दूसरे वर्ग के रसों के स्थायी भाव—शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा—में आत्मभावना का संकोच होने लगता है। आत्म-विस्मय की भावना का आधिक्य जगत् की पृथक् सत्ता को अपने में विलीन कर लेता है। संसार में कोई शेष नहीं रहता जिसके साथ वह राग-द्वेष का विनियोग कर सके। इस दिशा में ले जानेवाला काव्य सुख-मूलक कहलाता है। इसके विपरीत दुःख-मूलक काव्य जीवन को इस स्थिति में छोड़ देता है जहाँ संसार से अलग रह कर अपने कष्ट या वेदना को स्थिर करने के लिए उसे अनेक विषय मिल जाते हैं।

व्यक्ति-जीवन और काव्य-जीवन के सुख-दुःख में अंतर है। काव्यगत जीवन के सुख-दुःख की स्थिति अपरिवर्त्तनीय है। वह साधारणीकरण की ऐसी स्थिर भूमि पर स्थिर है

व्यक्ति-जीवन
और
काव्य-जीवन

जिसमें परिवर्त्तन करते रहने से उसका प्राण नष्ट हो जायगा, किंतु व्यक्तिजीवन का सुख-दुःख शिक्षा, संस्कार या ज्ञान के प्रभाव से अपना रूप बदल देता है। जिस प्रकार लोक-जीवन में दुःख के बाद सुख के स्वाद में विशेष मधुरता मालूम होती है, और सुख के उपभोग में दुःख

की आशंका बनी रहती है, इसका निर्वाह काव्य-जीवन में आवश्यक है। दुःख जिस तरह समान रूप से जीवन पर प्रभाव डालनेवाला होता है, वैसा सुख में नहीं देखा जाता। दुःख का आधिक्य अपनी सीमा की ओर अनंत काल तक ले जा सकता है, किंतु सुख की अधिकता एक सीमा के बाद दुःखजनक होने लगती है। ऐसे सुख का संबंध केवल शरीर-सुख से ही समझना चाहिए, नहीं तो सुख का कोई महत्त्व ही नहीं रहेगा। कुछ लोगों का विचार है कि जीवन का आरंभ विभक्तिकरण से ही होता है, इसलिए जीवन दुःखमय है। काव्य में सुख-दुःख का यह निरूपण उसके अंत से ही किया जाता है, इसलिए उसको सुखांत और दुःखांत भी कहा जाता है। जो लोग शरीर-यात्रा के साथ ही जीवन का आदि और अंत मानते हैं, उनके लिए यह नाम उपयुक्त नहीं है। इस तरह भिन्न रूपों और जातियों का होने के बाद काव्य कुछ ऐसे होते हैं जो केवल पढ़ने और सुनने की वस्तु रहते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जिनको पढ़ने-सुनने के साथ प्रत्यक्ष देखा भी जा सकता है। रस या आनंद को प्राप्ति तो काव्य-मात्र द्वारा समान रूप से अपेक्षित है, किंतु जहाँ वह आनंद

श्रव्यकाव्य और
दृश्यकाव्य

केवल पढ़-सुनकर प्राप्त होता है वहाँ उसका नाम श्रव्यकाव्य और जहाँ पढ़ने-सुनने के साथ अभिनय द्वारा उसको प्रत्यक्ष देखने से आनंद होता है वहाँ उसका नाम दृश्यकाव्य है। काव्य का आधार तो लोकजीवन

के सामान्य व्यापार के अनुरूप भाषा में उसकी प्रतिष्ठा करना है। इसलिए कोई भी जीवन-व्यापार श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य में समान रूप से उतारा जा सकता है। किंतु अवतरणिका के बाद जहाँ केवल सुनने से तृप्ति और आनंद हो जाता वहाँ श्रव्यकाव्य और जहाँ बिना प्रत्यक्ष देखे हुए काव्यगत व्यापार से आनंद नहीं हो सकता, वहाँ दृश्यकाव्य कहलाता है। आगे 'दृश्य-काव्य विधान' में इसका विशेष वर्णन किया जायगा।

कविता और छंद-विधान

‘छंद’ शब्द का अर्थ ‘बंधन’ और ‘छादन’ दोनों ही है। अनिरुक्त वाक् को छादन करने अर्थात् उसमें स्वरूप निष्पत्ति करने के कारण उसका नाम छंद पड़ा है, ऐसा एक विचार है। गायत्री आदि छंद में यही अर्थ अभिप्रेत है, अभिव्यक्ति को दूसरे छंद-विधान का हृदय में प्रतिष्ठित होने के लिए स्वरूप धारण करना पड़ता है। बिना स्वरूप के उसमें प्रेषणीयता नहीं आ सकती। हृदय की रागात्मिका वृत्ति को जाग्रत और उद्दीप्त करने के लिए मूर्त्तिमत्ता की अपेक्षा रहती आई है। छंद वाणी की वही मूर्त्तिमत्ता है। बांधने के अर्थ में छंद अभिव्यक्ति को जकड़ या कस नहीं देता, बल्कि उसकी गति को सुरक्षित रखने के लिए निर्धारित सीमा तक उसके साथ जाता है। छंद कोई बाहरी बंधन नहीं जो वाणी के ऊपर बाहर से डाल दिया जाता है। वाणी स्वयं अपने लयात्मक सौंदर्य की रक्षा के लिए छंद का बंधन स्वीकार कर लेती है। बंधन तो यथार्थ में लय का होता है। लय स्वर की गति है। स्वर के आरोह-अवरोह से लय के विभिन्न रूप हो जाते हैं। यदि लय को बीच-बीच में रोकने का कोई क्रम नहीं रहे, तो सुननेवाले को आनंद की प्राप्ति नहीं होकर उलटे उसके धैर्य पर आघात होगा। इसलिए छंद नियत काल-व्याप्ति के भीतर लय के गत्यात्मक रूप को बांधकर उसे मधुर और सुंदर बनाने का आयोजन करता है।

छंद के संबंध में श्री प्रबोधचंद्र सेन का कथन है कि ‘कविता का छंद एक ध्वनि-संबंधी कला है। किंतु, इस ध्वनि का संबंध यंत्र से नहीं, मनुष्य के कंठ से है। हमारी कंठ-ध्वनि की भी तीन विचित्र दिशाएँ हैं—एक उसकी तीव्रता या Pitch से संबद्ध, दूसरी उसकी काल-व्याप्ति या Duration से संबंध, और तीसरी उच्चारण के प्रस्वर या Extent से संबंध। जहाँ तक कविता के छंदों के गठन का प्रश्न है वहाँ तक कंठ-स्वर की तीव्रता वाले रूप का कोई संबंध नहीं है, जब कि यह तीव्रता वाला रूप ही संगीत-कला का प्राण है। हमारे साधारण उच्चारण के काल व्याप्तिमय और प्रस्वरमय रूप ही काव्य-छंद के प्रधान उपादान हैं। और एक तीसरा उपादान है ‘यति’ या ध्वनिविराम (Pause)। जब हम कुछ कहते हैं या कुछ पढ़ते रहते हैं तब हमारी कंठ-ध्वनि अविराम प्रवाह के रूप में नहीं बहती रहती, बल्कि नाना विचित्र भंगियों में बीच-बीच में विरत होती रहती है। केवल बातचीत या गद्य पढ़ने ही के समय नहीं, कविता के छंद पढ़ते समय भी ध्वनि की गति के समान ही यति भी अत्यंत आवश्यक है। काव्य के छंदोनिर्माण के समय ध्वनि की इस यति को नाना विचित्र कौशल्यों से काम में लगाना पड़ता है। इसलिए हमारी उच्चरित ध्वनि की काल-व्याप्ति, प्रस्वर और यति ये तीनों ही बातें ‘छंदः शास्त्र’ की प्रथम और प्रधान बातें हैं’ १।

मनुष्य का स्वभाव है कि वह जब कुछ अभिव्यक्त करना चाहता है तब अपनी अभिव्यक्ति को स्वर के आरोह-अवरोह से युक्त कर ऐसा प्रभावोत्पादक बना लेता है कि सुननेवाले का ध्यान उस ओर चला जाता और उसे सुन कर प्रसन्नता होती है। छंद का यह आरंभिक रूप है। मानव स्वर में छंद का यह आभास जन्म से ही पाया जाता है। छोटे-छोटे बच्चे भूख लगने पर जब माँ से कुछ माँगने लगते हैं तब अपनी वाणी में स्वर की कातरता और अभिव्यक्ति की लयात्मक संयमशीलता प्रदर्शित कर संगीत और छंद की जन्मजात प्रवृत्ति दिखाने लगे हैं। छंदोमय अथवा संगीतमय वाणी से माँ का हृदय सत्वर पिघल जाता और बच्चे को वांछित वस्तु की प्राप्ति हो जाती है। यही लय-वृत्ति आगे जाकर कविता में प्रकट होती है। कविता की प्रकृति ही छंद में प्रवाहित होना है। छंद कविता का बंधन नहीं, उसका जीवन है।

छंद में लय की मर्यादा की रक्षा होने के कारण उसका प्रभाव जीवन पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ता है। इसका कारण है, कि अंतर्जगत् में जीवन के प्रवाह का जो रूप है, वही छंद की बाह्य जगत् में भी अंतर्हित रहता है। जीवन का प्रवाह लय की लयात्मक गति निर्धारित तरंगों के साथ आगे बढ़ता है। साँस की गति, हृदय की धड़कन, नाड़ियों की चाल, रक्त का संचरण सब में लय का ही रूप है। लय के पथ पर ही हम जन्म-ग्रहण करते, बढ़ते और जीवन के छोर को छूते हैं। छोटे-छोटे बच्चे जब रोते हैं तब उसमें भी लय-विधान की रक्षा देखी जाती है। लय की विशेषता जीवन के साथ उसका लगा रहना है। प्रकृति के विशाल क्षेत्र में—स्थावर-जंगम सब में, जहाँ जीवन है वहाँ लय अवश्य है। नदी में, निर्भरिणी में, पेड़-पौधे में, लता-गुल्मों में सर्वत्र लय ही लय है।^१ लय का अर्थ ही है लीन होना। भावों की उत्तेजना में जीवन का हर्ष या विषाद लय के अनुक्रम से ही स्वर या संगीत में अपना रूप बाँध लेता है। स्मृति का लय के साथ कुछ ऐसा संबंध है कि भावातिरेक में जब हमारा संस्कार जग पड़ता है तब कविता या संगीत के रूप और शब्द को भूलते हुए भी हम लय को सम्मुख पाते हैं। यही लय छंदों का प्राण है। कविता का स्वभाव ही छंद में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बंधन की धारा की गति को सुरक्षित रखते, जिसके बिना वह अपनी ही बंधन-हीनता में अपना प्रवाह खो बैठती—उसी प्रकार छंद भी अपने नियंत्रण से राग को स्पंदन-कंपन तथा वेग प्रदान कर निर्जोव शब्द के रोड़ों में एक कोमल, सजल कलरव भर, उन्हें सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियमित साँसें नियंत्रित हो जाती—ताल-युक्त हो जाती; उसके स्वर में 'प्राणायाम', रोआँ में स्फूर्ति आ जाती, राग की असंबद्ध झंकारें एक वृत्त में बँध जाती, उनमें परिपूर्णता आ जाती है।^२

लय-विधान के अनुसार छंदों के दो रूप हैं, एक मात्रिक, दूसरा वर्णिक। साधारणतः मात्राओं की संख्या और क्रम के आधार पर निर्मित छंदों को मात्रिक तथा वर्णों की संख्या एवं गणों के क्रम से रचे छंदों को वर्णिक कहते हैं। दोनों प्रकार के छंदों के दो रूप—
मात्रिक तथा वर्णिक छंदों के लिए इतनी ही योग्यता यथेष्ट नहीं है। मात्रिक छंद में लय की रक्षा के लिए स्वर की गति-रक्षा का विशेष रूप से पालन करना पड़ता है। निर्धारित मात्रा का प्रयोग करके भी लय की मर्यादा नहीं रखने से छंद दूषित

१ सुधांशु—जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत—पृष्ठ—१३४

२ पंत—पल्लव की भूमिका

हो जाता है। इसीलिए मात्रिक छंद में 'यति' का विधान है। मात्रिक छंद के चरणों में मात्राओं के अवस्थान की भिन्नता रहने पर भी 'यति' तक पहुँचने में यद्यपि लय के रूप में कोई बाधा नहीं पड़ती है, फिर भी लय का क्रम अपने लिए कई मान्यताओं को लिए चलता है, और उन सबकी रक्षा आवश्यक है।

लय का काम है कि तरंग के समान स्वर की गति को कहीं हल्के और कहीं वेग से उछालती हुई वह छंद के अंत तक जाती है। यह हल्का और प्रचल वेग स्वर का लघुत्व और गुरुत्व है। संगीत और कविता में लाने के लिए उक्त लघु गुरु का मान मात्रा पर स्थिर कर दिया गया है। लघु की मात्रा एक और गुरु की मात्रा दो मानी जाती है। संगीत में अर्द्ध और चौथाई मात्रा का भी समावेश है, किंतु कविता को उतनी सूक्ष्मता स्वीकार नहीं है। यह मात्रा क्रम ह्रस्व और दीर्घ वर्णों के आधार पर लघु-गुरु के रूप में मान लिया गया है। वर्णों का लघुत्व और गुरुत्व केवल उनके रूप से नहीं, बल्कि अवस्थान से भी निर्धारित होता है। संयुक्त वर्ण के पूर्व के ह्रस्व स्वर की संख्या दो मानी जाती है, किंतु जहाँ वैसे उच्चारण में दीर्घता नहीं हो वहाँ वह एक ही रहती है। यथार्थ में लघु-गुरु का शासन वर्णों के रूप से नहीं, बल्कि उनकी ध्वनि या स्वराघात से होता है।

वर्णिक छंद में गण के अनुसार वर्णक्रम रहने से उसके प्रत्येक चरण में समरूपता रहती है। वर्णों का नियमितक्रम और संख्या-विधान वर्णिक छंद में मात्रिक-छंद की भी योग्यता आरोपित कर देता है। गण का विधान गुरु-लघु के भिन्न अवस्थान से गणभेद और कारण तीन वर्णों में निश्चित किया गया है। तीन ही वर्णों में गण के इस प्रकार निरूपण का कारण यह प्रतीत होता है कि प्रत्येक वर्ण का उच्चारण प्रायः दो रूप से होता है, जिसको अपूर्ण और पूर्ण कहा जा सकता है। 'कल' शब्द में 'ल' का उच्चारण अपूर्ण किंतु कलम में 'ल' पूर्ण उच्चरित है। इसलिए जब तक तीन वर्णों का संयोग नहीं हो तबतक लघु-गुरु के अनुरूप ध्वनि का सम्यक् निर्वाह नहीं हो सकता। यही कारण है कि तीन-तीन वर्णों को लेकर लघु-गुरु के भिन्न अवस्थान से आठ गण निर्मित हुए हैं। लघु-गुरु का जो रूप एक आड़ी लकीर और एक प्रतिकूल दिशाओं में मुड़ने वाली टेढ़ी लकीर से स्थिर किया गया है (जो रूप क्रमशः १ और ५ है) उसका कारण है कि स्वर के आघात से वायुमंडल में कुछ सीधी और कुछ वक्र आकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। हल्के स्वराघात से सीधी आकृति और दीर्घ स्वराघात से सीधी-टेढ़ी मिलकर भिन्न दिशाओं में मुड़ती हुई एक मिश्रित आकृति बनती है। इन्हीं दो प्रकार की आकृतियों को लघु-गुरु का भिन्न रूप मान लिया गया है।

मात्रा या वर्ण के अनुक्रम से छंदोमयी अभिव्यक्ति कविता का बाह्य रूप है। उसके भीतर की शक्ति को उद्दीप्त और उत्कीर्ण करने के लिए उसका रागात्मक रूप स्थिर करना होता है। राग स्वरों या ध्वनियों का वह विशिष्ट क्रम है जिस में स्वर या तान हो और जो लोगों के चित्त को प्रसन्न करे। यह राग या स्वर-संधान कविता में नवजीवन डाल देता है। इसके ही कारण कविता में ऐसी शक्ति प्रकट होने लगती है जो उसके शुष्क बाह्य रूप मात्र से स्पष्ट नहीं हो सकती। संगीत शास्त्र में राग का विधान पद-योजना का निर्धारित रूप स्थिर कर देता है, इसलिए वहाँ कोई

राग का भिन्न
विनियोग

‘पद’ निर्दिष्ट राग में ही गाया जा सकता है, किंतु कविता में यह नियम कुछ शिथिल-सा है। एक ही छंद भिन्न रागों में गाया जा सकता है। इकतीस मात्राओं का ‘वीर छंद’ ‘आल्हा’ गीत है, किंतु आजकल उसको कोमल राग में बिठा कर गायक कवि और अन्य गायक नवीन ढंग से गाने लगे हैं। यही बात सब छंदों के साथ लागू है। एक ही छंद को राग की विभिन्न योजनाओं द्वारा लोग विभिन्न प्रकार से गाकर सुननेवाले को संतुष्ट करते हैं। पंतजी ने लिखा है कि जिस प्रकार कविता में भावों का अंतरस्थ हृत्कंपन अधिक गंभीर, परिस्फुट और परिपक्व रहता है, उसी प्रकार छंदोवद्ध भाषा में भी राग का प्रभाव, उसकी शक्ति, अधिक जाग्रत, प्रबल तथा परिपूर्ण रहती है। राग ध्वनि-लोक की कल्पना है। जो कार्य भाव-जगत् में कल्पना करती, वह कार्य शब्द-जगत् में राग करता है।^१

छंद में राग की योजना और उसके क्रियात्मक प्रयोग से स्वर और लय की जो तरंगें उठती हैं, वे हृदय की रागिनी को अपनी ओर आकृष्ट करके भावनाओं को स्थिर कर देती हैं। ‘लय’ शब्द में, जैसा पहले लिखा जा चुका है, किसी को अपने में विलीन कर लेने की ध्वनि है। छंदगत लय का रागात्मक रूप श्रोता या पाठक की चित्त-वृत्ति को रागात्मक तत्त्व का उपयोग अपने में विलीन करके उसे कविता-मय कर देता है। छंद के साथ अभिव्यक्ति अपने लयात्मक प्रभाव से श्रोता और कवि में तादात्म्य स्थापित कर देती है, इसी में कविता की सार्थकता है।

छंद अभिव्यक्ति के सहगामी होने के कारण अभिव्यक्तियों की बहुरूपता के अनु रूप ही अग्रणी हो सकते हैं। छंदों की परंपरा के निर्वाह में अभिव्यक्ति की रंकता प्रतीत होती है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि अभिव्यक्ति जिस छंद की सहगामिता को स्वीकार

छंदों के भेद
के कारण

किये हुई है, उसमें दूसरे का समावेश नहीं हो सके। मानव-प्रकृति में समरूपता के कारण मनुष्य प्रायः एक ही तरह से सोचते-विचारते हैं। यह सोच-विचार जीवन के विशेष रूप के साथ संबंध

रखता है। जीवन के बाह्य व्यापार में हम एक दूसरे से संपूर्ण भिन्न हैं, किंतु भाव-जगत् में मनुष्य का हृदय साधारणतः एक ही प्रकार से अपना व्यापार करता है। कभी कष्ट-पीड़ित को देख कर साधारणतः सबके हृदय में करुणा जाग्रत होगी। जहाँ वैसा नहीं होता है, मानना होगा, उस व्यक्ति का हृदय साधारण से भिन्न है। भावों की अभिव्यक्ति का रूप भिन्न है। क्रोध में हम चिल्लाकर बोलते, जब कि प्रेम में कोमल स्वर से बातें करते हैं। अभिव्यक्ति के सहगामी होने के कारण छंदों के रूप-भेद पर भावों की प्रतिष्ठा की जाती है, इसलिए ‘चौपाई’ में जितनी करुणा समा सकती, उतना क्रोध नहीं; ‘छप्पय’ में जितना उत्साह जम सकता, उतना प्रेम नहीं। ‘मंदाक्रांता’, ‘द्रुतविलंबित’, ‘शिखरणी’, ‘मालिनी’ में शृंगार, शांत और करुण रस ही शोभा पा सकते हैं। ‘भुजंगप्रयात’, ‘वंशस्थ’, ‘शार्दूल विक्रीडित’ में वीर, ‘रौद्र’ और ‘भयानक’ रस ही अच्छे लगते हैं। ‘सवैया’ और ‘वरवै’ में वीर रस का काव्य नीरस हो जाता है। ‘घनाक्षरी’, ‘दोहा’ प्रभृति में प्रायः सभी रस उद्दीप्त होते हैं। भावों की लघुता और गुरुता भी छंदों के छोटे-बड़े रूप-विधान के कारण हैं। कृतविद्य कवि इस-परंपरा का निर्वाह नहीं करके भले ही अपना कौशल प्रकट करें, किंतु अभिव्यक्ति में भाव-सौंदर्य की रक्षा के लिए छंदों का निर्धारित अनुसरण व्यर्थ नहीं होगा।

लय-सौंदर्य के निर्वाह के लिए ही छंदों में चरणांत की समता या 'तुक' का आयोजन किया जाता है। 'तुक' अभिव्यक्ति के स्वर का श्रोता के हृदय की गति पर एक प्रकार का ताल है, जहाँ ठहर कर हृदय को आगे बढ़ने के पहले थोड़ा विश्राम मिल जाता है। अभिव्यक्ति की छंदात्मक शक्ति लय में विलीन होकर बाह्य जगत् में जो स्पंदन उत्पन्न करती है, उसी के प्रभाव से हृदय भी स्पंदित होकर गति-साम्य प्रकट करने लगता है। दोनों की गतियों में तारतम्य की रक्षा के लिए 'तुक' का विश्राम आवश्यक है। सुधांशु का कथन है कि "तुक का प्रभाव कुछ ऐसा होता है कि वह चरण के मध्य की स्वर-भिन्नता को दबा कर अंत में स्वर को एक ताल पर बैठा देता है। हृदय की लयात्मक वृत्ति से तुकांत का इतना सामंजस्य है कि पदोच्चारण के पहले ही विविक्षित पदांत की कल्पना से 'सम' पर मस्तक झुक जाता है। वर्णवृत्त में प्रत्येक चरण की क्रमागत समरूपता के कारण भिन्न तुकांत कर्णकटु नहीं मालूम पड़ता, किंतु मात्रिक छंद में तुकांत से पद्य की शोभा लय और ताल से युक्त होकर, बढ़ जाती है। तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणों का स्पंदन विशेष रूप से सुनाई पड़ता है। राग की समस्त छोटी-बड़ी नाड़ियाँ मानो अंत्यानुप्रास के नाड़ी-चक्र में केंद्रित रहतीं, जहाँ से नवीन बल तथा शुद्ध रक्त ग्रहण कर वे छंद के शरीर में स्फूर्ति संचार करती रहती हैं। जो स्थान ताल में 'सम' का है वही छंद में तुक का। वहाँ पर राग शब्दों की सरल-तरल ऋजु-कुंचित 'चरणाँ' में घूम-फिर कर विराम ग्रहण करता, उसका सिर जैसे अपनी ही स्पष्टता में हिल उठता है। जिस प्रकार अपने आरोह-अवरोह में राग वादी स्वर पर बार-बार ठहर कर अपना रूप-विशेष व्यक्त करता है, उसी प्रकार वाणी का राग भी तुक की पुनरावृत्ति से स्पष्ट तथा परिपुष्ट होकर लययुक्त हो जाता है।"^१

अनुकांत और मुक्तछंद

तुक के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि छंद में चरणांत की समता उसके नाद सौंदर्य को बढ़ाने वाली और रूप-सौंदर्य की रक्षा करने वाली है। वाणी में भावों की अभिव्यक्ति का रूप प्राप्त कर कविता हृदय की उस मुक्त-दशा की प्राप्ति का उपक्रम करती है, जहाँ जगत् के बाह्य व्यापारों का कोई संबंध नहीं रहता। इसके लिए कविता के छंदों में राग की नितांत आवश्यकता है। लय और ताल की समष्टि का नाम राग है। राग कविता की भाषा का प्राण है। राग ही के द्वारा शब्दों की ध्वनि में परस्पर संबंध स्थापित होता है जो श्रुतियों के द्वारा सीधे हृदय को प्रभावित करता है। 'सद्यः प्रीतिकरो रागः' कह प्रीति या प्रसन्नता की प्राप्ति के लिए राग का महत्त्व बहुत पहले ही विधोषित किया गया है। राग के द्वारा ही स्वर का आनंद मिल सकता है। छंद में चरणांत की समता से राग तालबद्ध हो जाता है। संगीत में 'सम' के स्थान पर जिस प्रकार स्वर और ताल ठहर कर श्रोता के हृदय में नई उद्भावना और उत्साह की स्थिति उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार छंद में तुक पाठक या श्रोता को थोड़ी देर विश्राम करने का अवसर प्रदान कर उसकी आनंद-वृत्ति को तृप्ति और नूतन शक्ति प्रदान करता है। चरणांत

के अनुप्रास या स्वरसामंजस्य का ही नाम तुक है। जिसमें किसी भी चरण का 'अंत्य-स्वर' अन्य किसी चरण के अंत्य-स्वर से मेल नहीं खाता हो, उसको भिन्नतुकांत या अतुकांत छंद कहते हैं। अतुकांत छंद के समर्थकों का कहना है कि चरणांत की समता या तुक छंद को व्यर्थ एक बंधन से जकड़ देता है, इसलिए उससे मुक्त रखने में ही छंद का कल्याण है। संस्कृत वर्णवृत्त के अनुकरण पर हिंदी के छंदों में तुक की रक्षा पर नहीं ध्यान देकर भिन्नतुकांत छंदों का पक्ष समर्थन करनेवालों का एक संप्रदाय खड़ा हो गया है। किंतु वे यह भूल जाते हैं कि वर्णवृत्त में गण के क्रमागत निर्वाह के कारण प्रत्येक चरण में जो एक लयात्मक एकरूपता आ जाती है उसके कारण उसमें तुक की उतनी आवश्यकता नहीं रह जाती। यद्यपि वैसे वर्ण-वृत्तों में भी तुक का समावेश किया जा सकता है जो उन छंदों की शोभा को और भी अधिक बढ़ानेवाला हो जायगा। हिंदी में अधिकतर मात्रिक छंद ही प्रचलित हैं। मात्रिक छंदों में चरणों के मध्य में स्वर की एकरूपता नहीं रहती। इसलिए ऊपर-नीचे गये हुए स्वर को एक ताल पर बिठा कर उसे श्रुति-मधुर बनाने के लिए चरणांत में समता की आवश्यकता होती है।

मानव प्रकृति की यह एक विचित्रता है कि वह वर्तमान स्थिति से संतुष्ट नहीं रह कर विभिन्न दिशाओं में परिवर्तन या क्रांति चाहने लगती है। जीवन के व्यवहार-पक्ष में यह

बात जितनी सत्य है, उतनी ही साहित्य और काव्य में भी। उस क्रांति का परिणाम होता है कि लोग काव्य की शास्त्रीय परंपरा पर आघात करके उसके रूप को विकृत करने लगते हैं। बंगाल के ख्यातनामा क्रांतिकारी कवि माइकेल मधुसूदन दत्त ने इसी परंपरा के उल्लंघन के नाम पर अपनी सामाजिक विद्रोह-भावना को काव्य में भी उतारा और तुक के वहिष्कार के समर्थन में लिख डाला :—

मैं तो उसे भाषे, क्रूर मानता हूँ सर्वथा
 दुख तुम्हें देने के लिए है गद्दी जिसने
 मित्राक्षर बेड़ी ! हा ! पहनने से इसने
 दी है सदा कोमल पदों में कितनी व्यथा !
 जल उठता है यह सोच मेरा जी प्रिये
 भाव रत्न हीन था क्या दीन उसका हिया ,
 भूठे ही सुहाग में भुलाने भर के लिए
 इसने तुम्हें जो यह तुच्छ गहना दिया ?
 रँगने से लाभ क्या है फुल्ल शतदल के ?
 चंद्रकला उज्ज्वल है आप नीलाकाश में !
 मंत्रपूत करने से लाभ गंगाजल के ?
 गंध डालना है व्यर्थ पारिजात-वास में !
 प्रतिमा प्रकृति-की-सी कविता असल के
 चीनावधू-तुल्य पद क्यों हो लौह-पाश में ।^१

हिंदी में कुछ तो अंग्रेजी और बंगला के अनुकरण पर और कुछ स्वतः प्रेरित ऐसे अनुकांत छंदों की रचना होने लगी, किंतु मानव-प्रकृति की रागात्मक वृत्ति पर इसका कोई प्रभावकारी परिणाम नहीं पड़ा और आज भी तुक-विहीन छंद का उतना काव्य में एकरूपता की आवश्यकता आग्रह नहीं है। उपर्युक्त विचार में जैसा व्यक्त किया गया है, तुक छंद का बंधन नहीं है। यदि बंधन की ऐसी मान्यता हो तो सिर या पाँव की पोशाक भी बंधन ही मानी जायगी। एकरूपता (uniformity) जीवन का लक्षण है। सर्वत्र इसका अतिक्रमण करने से जीवन अव्यवस्थित हो जायगा। अंग्रेजी के एक कवि ने लिखा है:-

एकरूपता से है होता आत्मा का उत्थान।

एकरूपता से ही जग का हुआ रुचिर निर्माण ॥^१

प्रकृति के क्षेत्र में भी इसी एकरूपता का सर्वत्र आभास मिलता है। निभर के कल-कल स्वर और वायु की सन-सन गति में एकरूपता ही परिलक्षित होती है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि काव्य-जीवन में सौंदर्य की रक्षा के लिए उसकी रचना में एकरूपता या समता आवश्यक है।

‘मेघनाद वध’ की भूमिका में अनुवादक ने कहा है कि यह सत्य नहीं है कि तुक से कविता के स्वाभाविक प्रवाह में धक्का लगता है, अथवा प्रत्येक चरण के अंत में श्वास-पतन के साथ-साथ भाव पूरा करना पड़ता है। आगे उन्होंने इसका भी खंडन किया है कि एक ओर जिस तरह भावों को संकीर्ण करना पड़ता है उसी तरह दूसरी ओर भाषा के गांभीर्य और कल्पना की उन्मुक्त गति में भी बाधा पड़ती है। कविता का स्वाभाविक प्रवाह तुक से नष्ट नहीं होता, बल्कि खिल उठता है। प्रवाह आदि से अंत तक की गति को कहते हैं। संपूर्ण गति एकरूप होकर भी यदि अंत में उसमें व्यतिक्रम उपस्थित हो जाय तो उसका सौंदर्य नष्ट हो जाता है। तुक के परित्याग से भाव-सौंदर्य की रक्षा होती ही है, यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। भाषा एक शक्ति है जिसमें अभिव्यक्ति सन्निहित होकर भाव का मूर्त रूप प्रकट होता है। ऐसी मूर्तिमत्ता में एकरूपता नहीं हो, तो वह कलाकार की शब्द-रंकता का द्योतक होगा। भावों को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा का ऐसा रूप ग्रहण करना जिसमें नाद-सौंदर्य की रक्षा हो, कवि का कौशल प्रदर्शित करता है। तुक की योजना से कल्पना में व्यवधान नहीं होकर उलटे उसमें रंजकता आती है। कवि की प्रशंसा इसी में है कि भाषा की शक्ति के साथ अपने कौशल से, नाद-सौंदर्य की योजना द्वारा भाषा-भिव्यक्ति को रमणीय-से-रमणीय बना सके।

अनुकांत-छंदों के अतिरिक्त अंग्रेजी के अनुकरण पर, ‘मुक्तछंद’ नाम से एक नवीन पद्य-परंपरा चल पड़ी है। इसमें छंद-विधान के किसी भी नियम का पालन नहीं कर अभिव्यक्ति को संपूर्णतः नवीन रूप में उपस्थित किया जाता है। ऐसे लोगों के प्रयत्न उप-

मुक्तछंद

हासास्पद नहीं हैं; लेकिन जिस क्रांति के नाम पर लोग इसके प्रचलन का समर्थन

करते हैं उसके प्रयत्न की निर्दिष्ट दिशा नहीं मालूम होती है। ‘मुक्त-छंद’ यह पद स्वतः शुद्ध नहीं है मुक्त भी हो और छंद (अमुक्त) भी हो, संभव नहीं। अतः इसका विरोध स्पष्ट रूप से है। मैं यह मानता हूँ कि कृतविद्य कवि के ऐसे छंद में भी राग और लय के एक क्लिष्ट रूप का

1. By harmony the souls are swayed
By harmony the world was made.

पालन किया जाता है जिससे श्रुति-सुगमता की बड़ी कठिनाई से रक्षा होती है, किंतु उसकी बारीकियों को नहीं जान कर अधिकांश तथाकथित कवियों के लिए, जिस रूप से जो कुछ मन में आया, लिखकर उसका नाम मुक्तछंद दे देना एक साधारण काम हो गया है। केवल छंदगत रुढ़ियों के त्याग देने से ही काव्य-क्षेत्र में कौन-सी क्रांति हो जाती, यह सब कोई देख नहीं सकते। रुढ़ि केवल छंद में ही नहीं रहती, काव्य के अन्य अंगों में भी रहती है। यदि सब कुछ बदल देना ही क्रांति है तो छंद ही क्यों; लय, राग, ध्वनि, स्वर, भाव, अलंकार सबको बदलना पड़ेगा। किंतु, यह किसी के सामर्थ्य की बात नहीं। मानव-संस्कार और स्थानीय परिस्थितियों के कारण काव्य के अंगों ने जो स्थायित्व प्राप्त कर लिया है उसको बदल देना साधारण बात नहीं। आज तक किसी भी कवि ने लय, राग, ध्वनि, अलंकार आदि का कोई नवीन रूप नहीं उपस्थित किया, बल्कि उलटे इनके बंधन या मान्यता को स्वीकार करके छंदों का रूप बिगाड़ कर भी इनसे चिपटे रहने की ही प्रवृत्ति दिखलाई है। यही संभव भी है, कारण ये वस्तुएँ जीवन की चिरंतन उद्भावनाएँ हैं। इनमें परिवर्तन लाना जीवन की स्वाभाविक गतियों को प्रतिकूल दिशा में मोड़ना है। इसीलिए 'मुक्तछंद' के समर्थन में पंत ने लिखा है कि अन्य छंदों की तरह मुक्तछंद भी हिंदी में ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत की लय पर ही सफल हो सकता है। छंद का राग भाषा के राग पर निर्भर रहता है। दोनों में स्वरैक्य रहना चाहिए। जिस प्रकार तानपूरा और कंठ के स्वरों का तारतम्य रहता है, उसी प्रकार छंद का राग भी भाषा के तारों पर झूलता और जहाँ दोनों में मैत्री नहीं रहती वहाँ छंद अपना स्वर खो बैठता है।^१ कहने का तात्पर्य है कि छंद-विधान का त्याग करके भी लोग काव्य की अन्य परंपरागत प्रवृत्तियों को छोड़ नहीं सकते। इससे ज्ञाति होती है कि कविता अपना पद्यमय रूप छोड़कर गद्य-सी प्रतीत होने लगती है। यथार्थ में उस समय वह न पद्य रहती है न गद्य, क्योंकि गद्य और पद्य में मौलिक भेद रहते हुए भी दोनों के रूप का निर्धारित विधान है। गद्य बुद्धि-प्रधान क्रिया है और पद्य हृदय-प्रधान। पद्य की रचना के लिए छंद आवश्यक बंधन है। एक उदाहरण :—

दिवावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुंदरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे.....

इसमें प्रकृति के संध्याकालीन रूप के साथ कवि के हृदय का योग होने के कारण कविता की योग्यता आ गई है; किंतु अभिव्यक्ति में छंद के बंधन को छोड़ देने से उसका रूप गद्य-सा हो गया है। भाव की तीव्रता के कारण हृदय में जो एक रागात्मक रूप खड़ा होता है उसकी स्थिति में लय और स्वर की विषमता कंपन पैदा कर देती है। कवितागत बिंबचित्र हृदय की वस्तु होकर बुद्धि की ओर नहीं जा सकता जिससे गद्य और पद्य के बीच की अस्थिर अवस्था में वह झूलते रहता है। निराला-जैसे प्रतिष्ठित कवि के उद्योग करने पर भी कवि-हृदय इस ओर आकृष्ट नहीं हो सका। भारतीय छंद-परंपरा निर्धारित लय और राग के तत्त्वों पर ही चलती आई है। तुक उसका एक आवश्यक अंग है। मुक्त छंद एक प्रकार से अंग्रेजी कविता का अंधानुसरण है; अंग्रेजी में भारतीय पद्धति की राग-परंपरा नहीं है।

अंग्रेजी के कवि केवल 'नाद' पर स्वर-मैत्री करते आये हैं, इसलिए तुक की वहाँ वैसी आवश्यकता नहीं रहती, तब भी समतुकांत कविताओं का वहाँ अभाव नहीं है। हिंदी में ऐसी कविताएँ अब तक आदर प्राप्त नहीं कर सकी हैं।

काव्य का उद्गम और प्रवाह

काव्य की भावना किसी अनादि और अनंत शक्ति की एक धारा है जो अपने निर्गम और प्रसार के नियमों की रक्षा करती हुई, निर्दिष्ट लोक में, परिलक्षित होती है। जिस प्रकार जल द्रव्य-रूप में एक ही रहते हुए, प्रसार भूमि की भिन्नरूपता के कारण, इसके स्रोत की गति और स्वर में भिन्नता हो जाती है, उसी प्रकार काव्य-स्रोत भी मूल में एक ही रहते हुए, देश, काल और पात्र की भिन्नता के कारण, विभिन्न आकृति धारण कर लेता है।

काव्य-स्रोत की
एकरूपता

काव्य की मौलिक शक्ति में स्थान या समय कोई व्यवधान उपस्थित नहीं कर सकता, किंतु उसके निष्क्रमण और विस्तार का निर्दिष्ट विधान है। सब व्यक्ति काव्य नहीं रच सकते और न कोई विशेष व्यक्ति सब समय में काव्य रचना कर सकता है। इसके अनुसंधान के लिए मानव-प्रकृति का रूप-दर्शन आवश्यक है।

मनुष्य क्या है, एक जटिल प्रश्न है। प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख प्रत्यक्ष रहते हुए भी 'मनुष्य' की सर्वसम्मत परिभाषा निर्दिष्ट नहीं हो सकी है। काव्य के प्रयोजन के लिए इतना मान लेने से ही काम चल जायगा कि 'मनुष्य भावनाओं, इच्छाओं और विचारों की कारण-कार्य-परंपरा का वर्तमान गोचर रूप है जिसके एक ओर अतीत का संस्कार और दूसरी ओर भविष्य की प्रेरणा छिपी रहती है। संस्कार आत्मा या जीव के साथ रहनेवाला कर्म-परंपरा का प्रभाव है जो वर्तमान की परिणति और उसके योग से भविष्य की प्रेरणा का कारण बना रहता है। आत्मा के साथ वास करने के कारण ही संस्कार का एक नाम वासना भी है। वस्तुतः संस्कार और वासना, दो सर्वथा पृथक् पदार्थ नहीं हैं। संस्कार से वासना और वासना से संस्कार उत्पन्न होते हैं। बुद्धि के बाद बोधि है। कुछ लोग इसी को प्रतिभा कहते हैं। किंतु, इन दोनों में अंतर है। संस्कार प्रेरणा-स्वरूप और प्रतिभा शक्ति-स्वरूप जीवन में विराजमान रहती है। यही संस्कार जीवन की विभिन्न शक्तियों की उद्भावना और प्रसार का कारण है।

संस्कार
और
प्रतिभा

मानव क्षेत्र में, जन्म या उत्पत्ति की श्रृंखला में, कर्मों के समुच्चय से संस्कार बीज-रूप होकर जीवन के भविष्य का रूप स्थिर करता है। इसी के कारण मनुष्यों को भिन्न शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। काव्य उन्हीं शक्तियों में से एक है, जो हृदय-तंत्र के द्वारा मनुष्य को शेष सृष्टि के साथ मिलाने का उपक्रम करता है। काव्य स्वतः एक सृष्टि है। यह जिस रूप में सबको इष्टिगोचर होता है वह तो उसका वाङ्मय चित्र-भर है। चित्र यथार्थ की छाया-मात्र होता है। किसी वन-चित्र को यथार्थ वन ही समझ लिया जाय तो वह बुद्धि-भ्रम छोड़ क्या कहलायगा? काव्य वर्णन की भी वही अवस्था है। वर्णन और चित्रण एक ही वस्तु के भिन्न नाम हैं। अक्षर और

वर्णन तथा चित्रणा
और
कलात्मक सृष्टि

रंग—दोनों को वर्ण कहते हैं। साधारणतः तूलिका से जो वर्णन (रंजन) किया जाता है उसे चित्रण और वर्ण (अन्तर) से जो चित्रण किया जाता है उसे वर्णन कहते हैं। हम छंद-बद्ध-रूप में जिस पद्य-रचना को पढ़ते-सुनते हैं वह काव्य-वस्तु का छाया-चित्र मात्र है। उस चित्र में जितनी योग्यता और निपुणता का प्रयोग कर हम उसे सुंदर बना सकेंगे वह चित्रकार को उतने ही स्पष्ट और सुंदर रूप में संसार के सम्मुख उपस्थित करेगा। यही कारण है कि काव्य एक उच्चकोटि की कला-कृति माना गया है। कला के क्षेत्र में 'यथार्थ' यथार्थ-रूप में नहीं, बल्कि कृत्रिम रूप में उपस्थित किया जाता है। किसी व्यक्ति का बोध कराने के लिए यदि उस व्यक्ति को ही लाकर खड़ा किया जाय तो उसमें कलात्मकता ही क्या रही? इसीलिए काव्य-कला में काव्य-व्यक्ति के चित्र को अपने मन से चित्रित कर कलाकार हमारे सामने उपस्थित करते हैं।

यह काव्य-वस्तु क्या है—इसका भी थोड़ा विवेचन आवश्यक है। दृश्य-जगत् के भीतर, जो जीवन की एक अविच्छिन्न शक्ति है, जिस शक्ति की विकासमान-क्रिया का परिणाम यह सृष्टि है, वही काव्य-वस्तु है। उसके बोध या परिचय के लिए काव्य का चित्र प्रस्तुत किया जाता है। जिस प्रकार चित्र किसी वस्तु के परिचय का एक साधन है, उसी प्रकार काव्य जीवन की प्रतीति का साधन है। प्रतीति का ही दूसरा नाम रसानुभूति है। रसानुभूति के लिए भाव-व्यापार की आवश्यकता होती है। अतः काव्य वह भावमय चित्र है जो जीवन की प्रतीति या रसदशा का उत्पादक हो।

ऊपर लिखा गया है कि काव्य स्वतः एक सृष्टि है। सृष्टि का अर्थ नई वस्तु की उत्पत्ति नहीं; बल्कि अव्यक्त पदार्थ को व्यक्त करना है। सृष्टि में कोई नवीन वस्तु नहीं उत्पन्न की जाती, प्रत्युत् छिपी हुई वस्तु को बाहर प्रकट करने का काम किया जाता है। शरीर-रचना में शार्नद्रियों का व्यापार अंतर से बाहर की ओर ही हुआ करता है। जो वस्तु बाहर है, इंद्रियाँ उसी को देख-सुन सकती हैं।

आँखों के लिए बाहर की ओर ही देखना संभव है, भीतर की ओर नहीं। जिसको हम जन्म, उत्पत्ति या सृष्टि कहते हैं उससे नई वस्तु प्रकट नहीं होती, बल्कि अव्यक्त ही नाम-रूप से अभिव्यक्त होता है। काव्य-सृष्टि में भी कोई नवीन वस्तु प्रकट नहीं होती, बल्कि छिपी हुई या अज्ञातवस्तु, नये रूप से, सामने प्रकट होती है। ऐसा करने के लिए अपेक्षित चेष्टा का वर्णन काव्य है। जीवन के विस्तार और भिन्नरूपता को देखने से हम उसके दो भिन्न क्षेत्र पाते हैं। एक में बाह्यजगत् का व्यापार और दूसरे में अंतर्जगत् की क्रिया सन्निहित रहती है। एक में शरीर की बाह्यमुखी इंद्रियाँ काम करतीं, दूसरे में अंतःकरण—बुद्धि और अहंकार—अपना व्यापार करता है। दोनों के बीच में मन है जो एक ओर इंद्रियों को क्रियातत्पर करता,

दूसरी ओर अंतःकरण की भावना को उद्बुद्ध करता है। जिस प्रकार बाह्यसृष्टि के नाना रंग-रूपों का अविभांति क्रिया-कलाप हमारे सामने होते रहता है, उसी प्रकार मानसिक जगत् में भी अगणित रूपसृष्टियाँ प्रकट और विलीन होती रहती हैं। काव्य-सृष्टि के समय बाह्यजगत् का रूप और व्यापार मानसिक जगत् की वस्तु हो जाता है। यही काव्य का उद्गम स्थल है।

काव्य-वस्तु
और
काव्य

सृष्टि का
अर्थ

काव्य
का
उद्गम स्थल

काव्य की उद्भावना के विषय में एक विचार है कि किसी सुंदर वस्तु या प्राकृतिक दृश्य—चंद्रोदय, सूर्योदय, पहाड़ी, निर्भर आदि—को देखकर हमारी चेतनता प्रबुद्ध होकर वस्तु या दृश्य को परिब्याप्त करना चाहती है। इसी चेतना-पथ से हमारा हृदय उस वस्तु तक पहुँचता है और उसको अपने हृदय के सामंजस्य के साथ रखना चाहता है। यही चेतना की क्रिया काव्य की उद्भावना करती है। प्रत्यक्ष जीवन में भी देखा जाता है कि प्रेमी अपने प्रिय को अपने ही जीवन के रँग से रँगना चाहता है और यदि वह इसमें असफल रहा तो प्रिय के रँग से ही अपने को रँग लेता है। इसी समरूपता या एकता में आनंद है। इससे पता चलता है कि काव्य-व्यापार में बाह्य जगत् और अंतर जगत् का सामंजस्य होकर उसी का शब्दमय चित्र सबके सम्मुख रख दिया जाता है। इसमें जीवन का ऐसा रूप प्रत्यक्ष होता है जो नित्य नया है, समग्र है और आनंद-स्वरूप है। जीवन के भिन्न-भिन्न अंगों को चित्रित करने की वहाँ कोई आवश्यकता नहीं। जिस प्रकार किसी छवि या चित्र में शरीर के सब अंगों के प्रत्यक्ष नहीं रहते हुए भी व्यक्ति के रूप की संपूर्णता का बोध हो जाता है उसी प्रकार काव्य में भी जीवन के संपूर्ण अंगों को प्रत्यक्ष नहीं देख कर भी हम उसकी समग्रता की प्रतीति कर लेते हैं। यथार्थतः काव्य जीवन ही में ओत-प्रोत है, इसलिए जीवन ही काव्य का उद्गम है, वही प्रवाह है और उसी में उसका पर्यक्सान है। यह जीवन विभक्त और विशेष नहीं, बल्कि समग्र और सामान्य है। जीवन का चित्र लेकर काव्य की सरिता कब, किस तरह, किस दिशा में, प्रवाहित होती है, उसका भी विवेचन आवश्यक है।

यह लिखा जा चुका है कि काव्य एक शक्ति है जो किसी महाशक्तिक का अंश होकर अपनी निर्दिष्ट गति-विधि से मानव-जगत् में परिलक्षित होती रहती है। शक्ति का अपना कोई निश्चित रूप नहीं है। किंतु, उसके व्यापार दो प्रकार से होते हैं। इसो को आकर्षण और विकर्षण कहते हैं। शक्ति किसी आश्रय के द्वारा ही अपने गुण को प्रत्यक्ष करती है। काव्य-शक्ति के आश्रय मानव-हृदय के साथ बाह्य जगत् का संबंध है। इस शक्ति ने आकर्षणात्मक और विकर्षणात्मक वृत्तियों के भिन्न व्यापार द्वारा जीवन की संपूर्णता को संपादित किया है।¹ आकर्षणात्मक पक्ष में वह शक्ति—हृदय का भाव-योग—संसार के सब पदार्थों को आत्मसात् कर लेती है। शक्ति का यही व्यापार कलाकार के शब्दों में, स्वरों में, चित्रों में, क्रियाओं तथा गतियों में दृष्टिगोचर होता है। आरंभ से लेकर आज तक इसने कितने रूपों में अपने को प्रदर्शित किया ; फिर भी उसका विस्तार रुका नहीं है—रुक सकता भी नहीं, कारण, वह शक्ति अनादि है—अनंत है। शब्द-चित्र के रूप में जिस काव्य का दर्शन लोगों को होता है वह अगणित वेश धारण करके उसी विस्तार का क्रम पुष्ट करता है। इस विस्तार का आरंभ महाशक्ति की उस इच्छा से होता है जो 'एकोऽहंबहुस्याम्' के द्वारा एक से अनेक हो गई। एक से विभक्त अनेक में रूप की भिन्नता होने पर भी इच्छा या भावना का एकत्व नष्ट नहीं होता। ऐसे ही भिन्नत्व में

1. Life in its negative side has to maintain seperateness from all else, while in its positive side it maintains unity with all the universe. In this unity lies its fulfilment.—Rabi Babu—The Second Birth

एकत्व की प्रतीति जीवन का कार्य है। जो जीवन को जीव-मात्र की समान संपत्ति नहीं समझ कर उसको अपनी विशेष वस्तु समझता है वह जीवन को पहचान ही नहीं सकता। इस एक रूप में जानने के लिए दो उपाय हैं—अपनेको सबके साथ मिलाकर देखना या सबको अपने साथ मिलाकर देखना। यही विज्ञान और ज्ञान के नाम से प्रसिद्ध है। काव्य अपने को सबके साथ मिला कर देखने की शक्ति है। वह प्रतीति-रूप में रहती है और इस तादात्म्य के क्रम में सविकल्प-समाधि की-सी दशा है। यथार्थ समाधि और प्रतीति की इस दशा में, जिसको भाव-योग कहा जाता है, अंतर यह है कि समाधि में ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाता जब कि भाव-योग में, जिसके प्रति भाव आरोपित करता है, उसका और भावुक—दोनों का अस्तित्व बना रहता है, किंतु भावुक का हृदय भावरोपित वस्तुमय हो जाता है। हृदय की ऐसी अवस्था काव्य की उद्भावन की भूमि है। प्रत्येक देश और काल में काव्य का दर्शन इसी दशा से निर्गत, शब्द रूप में, होता रहा है।

समाधि
और
भावयोग

मानव जाति के विकास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि काव्य-क्षेत्र में मनुष्य के सहचर भिन्न-भिन्न काल में बदलते रहे हैं। सहचर से अभिप्राय केवल सामाजिक जीव-जंतु नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष सृष्टि की वस्तु और व्यापार मात्र है। नदी, नाले, वन, पर्वत, सर, निर्भर, भूमि, आकाश, घर, चौपाल प्रभृति वस्तु-रूप में और खाना-पीना, सोना-बैठना, निंदा करना, प्रशंसा करना, रीझना, खीझना, हँसना, रोना प्रभृति व्यापार रूप में मनुष्य के आदिम सहचर हैं।^१ इन सहचरों के साथ मनुष्य का घनिष्ट संबंध रहा है।

काव्य का लक्ष्य—
संपूर्णता तक पहुँचने
का बहुविध
हृदययोग

काव्य की उद्भावन के लिए हृदय इन्हीं सहचरों के साथ आत्मयोग करते हुए पाया जाता है। जिस देश का प्राकृतिक रूप और सामाजिक जीवन जिस ढंग का होता है, वहाँ की कविता में उसी प्रकार का हृदय-योग परिलक्षित होता है। यही नहीं, मनुष्य अपने जीवन व्यापार और उसके लक्ष्य के प्रति जो धारणा रखता है प्रायः उसी का प्रदर्शन काव्य में पाया जाता है। काव्य की वस्तु या विषय नया नहीं होता। इतिहास या विज्ञान का वस्तु-तत्त्व ही काव्य की वस्तु है। सत्य सर्वत्र एक ही है। काव्य में केवल सत्य की वर्णन-शैली भिन्न हो जाती है। यह वर्णन ही यथार्थ में काव्य है। काव्य में किसी कार्य की समाप्ति या पूर्णता ही केवल वर्णनीय होती तो एक ही कथावस्तु—राम की विजय और रावण का पराभव—के लिए वाल्मीकि और कालिदास से लेकर तुलसी और मैथिलीशरण तक भिन्न-भिन्न काव्य की रचनाएँ क्यों करते? काव्य का लक्ष्य केवल कार्य की समाप्ति नहीं, बल्कि उस समाप्ति तक पहुँचने का बहुविध हृदय-योग है—उसकी भिन्न चेष्टाएँ हैं। यही कारण है कि कार्य की पूर्णता में समरूपता होने पर भी कलाकार अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार भिन्न प्रकार के काव्य रचते हैं। एक ही प्रकार की ऐतिहासिक घटनाओं पर विभिन्न देशों की विभिन्न भाषाओं में, न जाने कितने काव्य रचे गये होंगे, फिर भी, वे घटनाएँ काव्य की वस्तु बनी हुई हैं। घटनाओं को छोड़ जब हम सृष्टि की वस्तुओं या मानव-व्यापारों को देखते हैं तब कोई भी नया नहीं मालूम होता, किंतु तब भी उन पर नित्य कविताएँ लिखी जा रही हैं। रवि बाबू ने लिखा है कि

‘सूर्य गोल है, आग गर्म, यदि इसी तरह सब कोई अपने काव्य में कहने लगें तो पुनश्चित्तियों के कारण लोगों का जी ऊब जायगा। किंतु सूर्य का रूप तथा व्यापार पुराना होते हुए भी सूर्योदय नित्य नये रूप से काव्य में वर्णित होता है और उसमें सबको बड़ा आनंद भी मिलता है। कारण उक्त वर्णन में केवल सूर्योदय का तथ्य ही नहीं रहता, बल्कि काव्यकार का अपना व्यक्तित्व भी प्रतिभासित होता है। यही काव्य को नवीनता और मोहकता प्रदान करता है। कला में जगत् की वस्तु या व्यक्ति को उपलक्ष्य करके कलाकार अपने व्यक्तित्व को ही प्रकाशित करता है’^१ व्यक्तित्व को ऐसी अभिव्यक्ति कभी पुरानी हो नहीं सकती, इसलिए किसी वस्तु का वर्णन पुराना कह कर भी टाला नहीं जा सकता। ‘काव्य में भाव का केवल रूप ही नहीं रहता, वरन् उस रूप की एक निश्चयता रहती है। कलाकार की आभ्यन्तरिक अनुभूति के सम्मिश्रण से बाह्य जगत् की परिवर्तनशील वस्तुओं की भी एक स्वतंत्र सत्ता कायम हो जाती है। कवि जिस भाव को रूप देता है उसे वस्तुगत कर देता है। उसमें निश्चयता आ जाती है’^२ ‘तथ्य और सत्य’ शीर्षक लेख में रवि बाबू ने इसकी और भी विवेचना की है कि मानव व्यापार कोई एक अंग-विशेष लेकर काव्य-वस्तु नहीं बनाता, बल्कि किसी व्यापार में क्रिया, कर्त्ता, परिस्थिति, देश, काल प्रभृति संयुक्त होकर जो एक समग्रता के रूप में सामने आते हैं वही आनंद देने वाले हैं। उस समग्रता को यदि किसी भौति छिन्न-भिन्न कर दिया जाय तो काव्य का सौंदर्य नष्ट हो जाता है। गुलाब के फूल के रंग, वास, रूप आदि को अलग-अलग विश्लेष्य करके सामने लाया जाय तो उनमें कोई आकर्षण नहीं रहेगा। सौंदर्य का तत्त्व संश्लेषणात्मक है, विश्लेषण करने से उसकी मर्यादा नष्ट हो जाती है। गुलाब तभी तक सुंदर है जब तक उसके रूप, रंग आदि की समग्रता उसमें है। काव्य का उद्गम ऐसी ही समग्रता से है।

काव्य की उद्भावनता प्रायः एक ही रूप से सब देशों और सब कालों में होती रहती है। सामाजिक परिस्थिति और सांस्कृतिक तथा भाषा-संबंधी विशेषता के कारण उसमें कितनी भी विभिन्नता क्यों न दिखायी पड़े, किंतु काव्य का मौलिक रूप सर्वत्र एक-सा ही रहता है। ऐसा होना इसलिए भी स्वाभाविक है कि शरीर-रचना के उपादान में देशगत भिन्नता नहीं रहती। इंद्रियों और उसके विषय सर्वत्र एक-ही-से हैं इसलिए मनुष्यमात्र प्रायः एक ही तरह से सोचा करते हैं। सभ्यता, संस्कृति और शिक्षा की भिन्नता के कारण उसका रूप भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। ईसवी सन् से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व यूनान के महाकवि होमर ने ओडिसस और हेलेना को उपलक्ष्य कर जिस महाकाव्य—अडेसी, इलियड—की रचना की, उसी के अनुरूप भारतीय आदिकवि वाल्मीकि ने उसके पहले ही राम और सीता को उपलक्ष्य करके अपने सुप्रसिद्ध महाकाव्य—‘रामायण’—में जीवन का वैसा ही व्यापार संसार विभिन्न देश-कालों में काव्यवस्तु की एकता के समुच्चय उपस्थित किया था। ऐतिहासिक अनुसंधान करनेवाले इन दोनों के पूर्वापर की चाहे जिस भौति आलोचना करें काव्य-जगत् की यह एक मान्यता है कि सब महापुरुष एक ही तरह से सोचते हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि काव्य की वस्तु नयी नहीं है। देश-काल के अनुरूप विभिन्न उपलक्ष्य द्वारा मानव जीवन की सामान्य प्रवृत्तियों का उसमें प्रदर्शन होता है।

1. In art man reveals himself, not the object.—Rabindranath.

२. हंसकुमार तिवारी—कला, पृष्ठ २१

काव्य का आरंभिक रूप सब देशों में प्रायः इतिवृत्तात्मक ही रहता है। विकास के पूर्वरूप में यही संभव है। उस समय लोग जीवन के बाह्य व्यापार पर ही विशेष ध्यान देते हैं। यह व्यापार साधारणतः स्त्री-पुरुष के प्रेम से ही संबंध रखता है। मानव-जीवन प्रेम का ही परिणाम है, इसलिए जीवन में प्रेम का स्थान सर्वाधिक होना स्वाभाविक है। इसी प्रेम को किसी ने दया, किसी ने करुणा, किसी ने उच्छ्वास कह कर पुकारा। प्रेम के प्रदर्शन के लिए ही आज तक युद्ध हुए, संहार मचे। वही प्रेम व्यक्ति के क्षेत्र से बढ़कर परिवार, समाज, जाति और देश के प्रति अनुराग के रूप में प्रकट हो आज कितने ही जटिल व्यापारों का कारण हो रहा है। प्रेम ही के चलते मनुष्य संसार के प्रेम का विभिन्न विनियोग साथ आत्मीयता स्थिर करता है। प्रेम नहीं रहे तब तो संसार का यथार्थ रूप क्या है, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि जिस किसी ने उसका जैसा रूप वर्णित किया है, वह उसके अपने संसर्ग या व्यवहार का ही परिणाम है। मनुष्य अपने लिए संसार आप बनाता है। संसार तो कहने-सुनने के लिए है। वास्तव में किसी मनुष्य का संसार तो वह जनसमाज है जिससे उसका संबंध है। यह संबंध प्रेम का हो सकता है। घृणा या क्रोध के संबंध से संसार को कोई अपना प्रिय वस्तु नहीं बना सकता। जितने ही भाव हैं, सब प्रेम के सहायक हैं। कारलाइल के मतानुसार घृणा एक परिवर्तित प्रेम है और भय एक संकुचित प्रेम, नहीं तो प्रेम भय को कैसे जीत सकता? जिसने करुणा को प्रधान मानकर काव्य की उद्भावना के लिए उसी को सर्वश्रेष्ठ माना है, वह यदि गंभीरतापूर्वक देखेंगे तो उस करुणा के मूल में किसी-न-किसी रूप से प्रेम ही परिलक्षित होगा। आदिकवि वाल्मीकि के—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।

यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

को सुनकर अनेक लोगों की धारणा हो गयी है कि काव्य का उद्गम करुणा से ही होता है, किंतु करुणा का पूर्व पक्ष सर्वत्र प्रेम ही रहा है। यदि काममोहित क्रौंच-पक्षी के प्रति वाल्मीकि के हृदय में प्रेम नहीं होता तो करुणा की उत्पत्ति ही नहीं होती। यदि क्रौंच-मिथुन में पारस्परिक प्रेम नहीं रहता तो एक की हत्या के बाद दूसरे का करुण-क्रंदन ही क्यों होता? जहाँ प्रेम नहीं है, वहाँ करुणा जग नहीं सकती। अतः काव्य का मूल स्रोत प्रेम ही है। काम-वासना उसका एक कुत्सित रूप है। जीवन की अभिव्यक्ति होने के कारण काव्य इसी प्रेम के आख्यान में आश्रित हो एक नवीन रूप में संसार में प्रकट होता रहा है।

काव्य का प्रवाह एक ही दिशा में बराबर स्थिर नहीं रहता। प्राकृतिक सरिता की धारा के समान काव्य-सरिता की धारा भी विभिन्न पथों से मुड़ती हुई नये-नये स्वर से नाना रूपों में बहती आई है। जीवन की परिवर्तनशील गतियों के अनुसार कभी वीरों की गाथा के रूप में, कभी प्रेमी के उत्सर्ग की कथा के रूप में, कभी दुराचारियों की कुत्सित प्रवृत्तियों के दुष्परिणाम के रूप में, कभी

काव्यधारा के
विभिन्न पथ

ईश्वर के चिंतन के रूप में, कभी पुण्य की विजय और कभी पाप के पराभव के रूप में, कभी संयोग के सुख और कभी वियोग के दुःख के रूप में काव्य की धारा बहती रहती है। इस दिशा का प्रवाह एक दिशा में जाता हुआ जब किसी कारण से दूसरी ओर बदल जाता, तब

उसको काव्य का परिवर्तन-काल कहा जाता है। सब देशों में काव्य पहले-पहल जीवन के बाह्य रूपों के लेकर ही बढ़ता है। जब समाज में नये-नये विचारक उत्पन्न होते हैं तब उनके प्रभाव से समाज की विचार-धारा भी बदल जाती है। काव्य उसका अनुसरण कर अपने रूप में भिन्नता ले आता है। उस भिन्नता के प्रधानतः दो रूप हैं,—एक जीवन के बहिरंग से संबंध रखनेवाला, दूसरा उसके अंतरंग से। भारतीय काव्य-परंपरा के आरंभ में देखा जाता है कि प्राकृतिक दृश्यों से विमुग्ध होने के कारण उन्हें देवता समझ कर जो आराधनात्मक उद्गार निकले, उनका वर्णन वेद में है। उसके बाद औपनिषदिक रचनाएँ हुईं। इस समय तक वर्णनीय विषय हृदय की वस्तु नहीं रह कर रहस्यात्मक विवेचन था। यथार्थ काव्य के अर्थ में नहीं उपस्थित किया जा सकता। समाज की वृद्धि के साथ लोगों में संघर्ष होने लगे। धर्म का रूप एक नहीं रहा, विचार में भिन्नता आई और काव्य की धारा भी उन विचारों को लेकर आगे बढ़ी। राज्य स्थापित होने पर राजाओं की स्तुति में काव्य रचे जाने लगे। सुख-वैभव की पूर्णता में काव्य में भी विलासिता आ गई। उसके बाद लोगों का ध्यान अंतर्जगत् के रहस्य और जीवन के आदर्श की ओर गया। वह धारा कभी उस ओर कभी इस ओर मुड़ रही है। किंतु, इतना होने पर भी जीवन का शाश्वत रूप सर्वत्र एक-सा ही दिखाई पड़ता है।

काव्य में यथार्थ और आदर्श

काव्य के वस्तु-विधान में रूप की जो योजना निहित रहती है वह या तो वस्तु के बहिरंग को ज्यों-का-त्यों अवतीर्ण कर लोगों के लिए छोड़ देती है अथवा उसमें अपनी यथार्थ और आदर्श ओर से किसी ऐसे लक्ष्य का आरोप करती है जो प्रत्यक्ष दिखाई नहीं दे, किंतु जिसकी प्राप्ति मानवता का ध्येय हो। यही यथार्थ और आदर्श का मूल रूप है। यथार्थ शब्द में 'यथा' और 'अर्थ' का योग है। कोई शब्द सुनकर उसकी भावना के रूप का जो ज्ञान होता है, वही 'अर्थ' है। यह ज्ञान एक निर्धारित प्रतीक-भावना के आधार पर स्थिर होता है। 'घोड़ा' शब्द सुनकर उसके ज्ञान के लिए एक विशेष आकृति-प्रकृति के जीव का जो प्रतीकत्व मन में स्थिर होगा, यही उसका अर्थ है। बोध के क्षेत्र में अर्थ इस प्रकार के ज्ञान तक ही सीमित है। 'यथार्थ' में ज्यों-का-त्यों अर्थ-बोध मात्र काव्य की वस्तु नहीं हो सकता। काव्य-वस्तु होने के लिए 'यथार्थ' को यह बोध-पक्ष छोड़ कर कला का पक्ष ग्रहण करना पड़ेगा। कला के क्षेत्र में इस यथार्थ को पुनः बाहर निकालने या अभिव्यक्त करने का उपक्रम किया जाता है। बोध का 'यथार्थ' बाहर से भीतर ले जाने का विधान करता है, और कला का 'यथार्थ' भीतर से बाहर ले आने का। इस व्यापार में यथार्थता केवल किसी वस्तु या घटना को ज्यों-का-त्यों चित्रित कर देने में नहीं है, बल्कि उसमें एक अतिरिक्त नैपुण्य की आवश्यकता होती है जो कलाकार की अपनी वस्तु है। चित्रकला के संबंध में श्री नंदलाल बसु ने लिखा है कि एक सिंह अंकित करनेवाला चित्रकार सिंह के सभी अंगों और चेष्टाओं को अंकित करके भी—अर्थात् सिंह की बनावट

के प्रति पूरा ईमानदार रहकर भी—एक ऐसा सिंह बना दे सकता है, जिसमें वह शौर्य, पराक्रम और अकुतोभय भाव नहीं आ सकता जो सिंहत्व की जान है। उसका यह सिंह यथार्थवत् (realistic) तो होगा, किंतु यथार्थ (real) नहीं। दूसरी तरफ एक शिल्पी सिंह के अंगोपांग के चित्रण में कुछ गलती करके भी यदि ऐसी सिंह-मूर्ति बना देता है जिसे देखकर दर्शक के मन में सिंहत्व का भाव जग उठे तो वह यथार्थवत् न करके भी यथार्थ सिंह को अंकित कर सकता है। इस संबंध में आगे उन्होंने लिखा है कि प्रत्येक चित्र के पाँच संयोजक तत्त्व होते हैं जो संयुक्त हो कर उसे समग्रता प्रदान करते हैं। १—विषय—चित्र का यथार्थ अभिप्राय (Idea), २—रीति-नैपुण्य (Technique), ३—भिन्न-भिन्न अंगों को यथास्थान नियोजित करना (Balance), ४—इन सबका पृष्ठ तल पर निर्वाह (Surface quality या Treatment) और ५—वह अकथनीय सूक्ष्म तत्त्व-प्राण (Life या Movement) जो चित्र के सभी अंगों में समाया हुआ होता है।^१ काव्य एक शब्द-चित्र है, अतः उसमें भी इन नियमों का पालन आवश्यक है। कमल का शब्द-चित्र अंकित करने में अर्थात् काव्य में कमल को अभिव्यक्त करने में केवल उसके रंग, रूप और आकार-प्रकार का ही वर्णन यथेष्ट नहीं होगा। उक्त पुष्प-विशेष की सुरम्यता, सुरजिता तथा सुकोमलता आदि की एक समग्र भावना जो चित्त में उत्पन्न होती है वही कमल का प्रतीकत्व है। प्रत्येक वस्तु या व्यापार की एक निर्धारित प्रतीक-भावना है। उसी प्रतीक-भावना के अनुरूप अपनी कृतियों को खड़ा करने में कलाकार का कौशल है। यथार्थ के साधारण क्षेत्र में तो कमल सुरभाया हुआ अथवा विकृत भी रह सकता है, किंतु कला-क्षेत्र में कमल के साधारण चित्रण में उसका स्थान नहीं रहेगा। सुरभाया हुआ कमल सत्य होकर भी कमल की यथार्थता का प्रतीक नहीं होगा। इसलिए काव्य 'यथार्थ' वस्तु या घटना के साधारण रूप की वह प्रतीक-भावना है जो उसकी समग्रता का विधायक है—केवल ज्यों का त्यों चित्रण नहीं।

यथार्थ की सत्ता वस्तुगत नहीं, भावगत है। जीवन की अभिव्यक्ति होने के कारण काव्य में यथार्थ सत्य-रूप में ही गृहीत होता है। परंपरा से चली आती हुई वस्तु यथार्थता के अभाव में भी सत्य ही मानी जाती है। कल्पवृक्ष को किसी ने नहीं देखा, न पारस-स्पर्श से लोहा को सोना होते हुए किसी ने देखा है; इस को मोती चुगते हुए भी शायद ही किसी ने देखा हो। इतना ही क्यों, उदयाचल और अस्ताचल, स्वर्ग तथा नरक इनमें से किसी का भी वास्तविक अस्तित्व प्रमाणित नहीं है, किंतु काव्य में इनका वर्णन यथार्थ रूप में ही किया जाता है। वस्तु-मूलक यथार्थता को छोड़ यदि सत्य की तरह हम कल्पना भी करते हैं तो वह यथार्थ के ही अंतर्गत होगा। इस तरह 'यथार्थ' वस्तु, भावना या कल्पना की उस रूपव्यंजना से संबंध रखता है जो उनके तथ्यगत मूल्य को सुरक्षित रख सके। घटनाएँ सत्य हों, काल्पनिक या संभावित, यदि वास्तविकता या सत्य के आधार पर ग्रहण करके हमने उन्हें काव्य में चित्रित किया है, तो वे सब यथार्थ के अंदर ही आयँगी।

‘आदर्श’ इसके विपरीत है। आदर्श शब्द में ‘आ’ और ‘दर्श’ का योग है। ‘आ’ का अर्थ है—अपनी ओर। ‘आदर्श’ का अर्थ इसलिए अपनी ओर देखना है। आदर्श का लक्ष्यार्थ इसीलिए दर्पण माना गया है कि उसमें हम अपनी ओर देखते हैं। साधु, विद्वान्, गुणी या महात्मा को लोग आदर्श इसलिए कहते हैं कि उनमें मानव-जीवन की प्रतिच्छवि सबको दिखाई पड़ती है। उनके अवलोकन से अपनी ओर देखने का अवसर मिलता है, जिससे हम उनके माहात्म्य को प्राप्त करने का प्रयत्न कर सकें। आदर्श-मूलक कविता में कलाकार वस्तु या घटना के वास्तविक रूप को नहीं लेकर अपनी ओर से ऐसी भावना का विधान करता है जिसके सम्मुख खड़ा होकर सब अपनी-अपनी ओर देखें और गुण-विशेष को आत्मसात् करने की क्षमता प्राप्त कर सकें। ऐसा करने का अभिप्राय है कि लोकसूचि की भिन्नताओं के रहते भी संसार के सम्मुख ऐसा चित्र उपस्थित हो जो अधिक-से-अधिक मंगलविधायक, सुसूचि-संपादक और शक्ति-वर्द्धक हो सके। आदर्श में पूर्णता का भाव विद्यमान रहता है। बाह्य जीवन भौति-भौति से सुखकर होकर भी पूर्ण नहीं हो सकता। जीवनोपयोगी उपभोगों की उपलब्धि होने पर भी मनुष्य तृप्त नहीं होता, वह और भी अधिक सुख की आकांक्षा करते रहता है। यह अपूर्णता उसको वैभव की गोद में भी अतृप्त रखती है, इसलिए मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति पूर्णता को देखने की ओर बनी रहती है। काव्य का ‘आदर्श’ उसी पूर्णता का विधान करता है। ‘आदर्श’ कोरी कल्पना नहीं है, न भविष्य की केवल प्रतिमा है। सत्य या वास्तविकता का आकार नहीं रहे तो आदर्श से केवल विस्मय या कुतूहल ही उत्पन्न होगा, आनंद की प्राप्ति नहीं। ऐसा होने से काव्य का तात्पर्य ही नष्ट हो जाता है। इसलिए ‘आदर्श’ का आधार भी सत्य या यथार्थ ही है। यथार्थ की अनुभूतियों को काट-छाँट कर उसका एक ऐसा रूप स्थिर कर लिया जाता है जो सभ्यता और समाज के विकास का दर्पण हो। यही कारण है कि आदर्श का रूप सर्वदा एक समान नहीं रहता। उन्नति की दिशा में समाज की बदलती हुई अवस्था के अनुरूप आदर्श की नई-नई सृष्टि होती रहती है।

आदर्श की रूप-योजना को लेकर पूर्व और पश्चिम की काव्य-प्रणाली में बड़ा अंतर रहता आया है। ‘जगत् की भिन्नता में हमें जो विरोध दिखाई देता है वह विरोधी अनुभवों या भावों के सामंजस्य से मिट जाता है; भिन्नता या विरोध के स्थान पर एकता और पूर्णता के दर्शन होने लगते हैं। प्रकृति के द्वारा उपस्थित किये हुए सुंदर पदार्थों में यह एकता सुषमा के रूप में पहले ही से विद्यमान रहती है। इसी को लक्ष्य करके पश्चिमी विद्वानों ने सौंदर्य को भिन्नता में एकता कहा है। जिस काव्य में आदर्श की प्रतिष्ठा का तात्पर्य पदार्थ में भिन्नता और एकता का सामंजस्य हमें स्पष्ट लक्षित नहीं होता उसे हम असुंदर कहते हैं। परंतु हमारी भावना या कल्पना सामान्यतः असुंदर लगनेवाली वस्तुओं में भी सामंजस्य उपस्थित कर उसे सुंदर रूप में देख लेती है। बहुत-सी सुंदर और असुंदर वस्तुओं को एक मेल में रखकर वह असुंदर वस्तुओं की असुंदरता का लोप ही कर देती है।’ समाज में अच्छे विचार भी रहते हैं और बुरे भी। सद्बिचारों का व्यायाम ही अच्छे काव्य का ध्येय है। पूर्वी साहित्य में अच्छे

विचारों के व्यायाम के लिए ऐसे ही काव्य की महत्ता स्वीकार की जाती है जो सद्वृत्तिमूलक हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि अश्लील या दुष्प्रवृत्तिमूलक घटनाएँ होती ही नहीं या उनका उल्लेख करना नहीं चाहिए, बल्कि ऐसी घटनाओं के मेल से जीवन का वह पुरुषार्थ-पूर्ण परिणाम उपस्थित किया जाय जिसमें न्याय, प्रयोजन, दया, त्याग प्रभृति निखर पड़ें; जिसमें सद्वृत्तियों को जाग्रत और पुष्ट होने की प्रेरणा मिले। कुप्रवृत्तिजनक घटनाएँ सत्य होने पर भी भारतीय काव्य की वस्तु नहीं बनाई जाती, क्योंकि उनसे बृहत्तर मानव-समाज के मंगल-विधान में बाधा उपस्थित होने का भय रहता है। यही कारण है कि किसी सुन्दर विचार को सम्मुख रखकर घटनाओं के वर्णन में उसका इस प्रकार समावेश करते हैं कि सबका ध्यान घटनाओं की ओर नहीं, बल्कि उस विचार की ओर चला जाय। काव्य में आदर्श का यही मूल रूप है।

आदर्श और यथार्थ में कौन अच्छा है, यह निर्णय की अपेक्षा विवाद का ही विषय बना हुआ है। इसका निर्णय हो भी नहीं सकता। कारण, मानव प्रकृति में विचार और रुचि की भिन्नता किसी स्थान और समय में एक की उपयोगिता स्वीकार करती है, तो अन्य स्थान और समय में दूसरे की। सच तो यह है कि एक दूसरे के सहयोग और सहगामिता के बिना दो में से किसी की स्थिति संभव नहीं। काव्य कला की वस्तु है। कला की स्थिति के संबंध में अबतक पूरा मतभेद है। कुछ विद्वानों की राय है कि कला वास्तव की प्रतिच्छवि है और कुछ का कथन है कि कला है अंतर की संपूर्णता के आदर्श का प्रकाश।^१ हमारा विचार है कि दोनों ही दो छोर पर हैं और जब तक दोनों का सामंजस्य नहीं होगा तब तक कला की वास्तविक स्थिति सुनिश्चित नहीं रह सकती है। काव्य का मूल भाव है। भाव हमारे मन में यथार्थ वस्तुओं के (Things which have objective reality) साक्षात्कार से उत्पन्न या जाग्रत होते हैं। इसलिए काव्य में यथार्थ (Objective reality) का वहिष्कार नहीं किया जा सकता। परंतु भाव वस्तुएँ नहीं हैं, वरन् वे वस्तुओं के द्वारा हमारे मन पर पड़े हुए प्रभाव हैं, और हमारा मानस प्रिय प्रभाव का ही पक्षपाती है, अप्रिय का नहीं। अतः जो वस्तुएँ हम पर प्रिय प्रभाव डालनेवाली होती हैं, उन्हीं को हमारा मन ग्रहण करता है, और जिन वस्तुओं के यथार्थ (Real) रूप, गुण हमें अप्रिय होते हैं, उन्हें भी हम अपने मानस के अनुकूल बना लेते हैं—उन्हें एक मानस या आदर्श (Ideal) रूप दे देते हैं। इस कारण काव्य में केवल यथार्थवाद या बाह्य सत्ता ही सत्य नहीं है, अपितु मानस सत्य भी सत्य है।^२ यथार्थ यदि किसी आदर्श की स्थापना नहीं करे तो लोकरुचि को किसी विशेष दशा की ओर अभिमुख नहीं कर सकने के कारण वह प्रयोजनहीन हो जायगा। काव्य में वस्तु या घटना का मूल्य जीवन के संपर्क से ही स्थिर किया जाता है। यदि वस्तु या घटना जीवन पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकी तो उसका होना और नहीं होना समान है। जीवन पर प्रभाव डालने का अर्थ है जीवन को मंगल-पथ पर आरुढ़ करना। यह तभी संभव है, जब घटनाओं के आयोजन में किसी आदर्श का संकेत हो। उसी प्रकार आदर्श भी यदि यथार्थ के अंचल को छोड़कर खड़ा होता है तो केवल

१—हंसकुमार तिवारी—कला—पृष्ठ २७

२—पुरुषोत्तम लाल—यथार्थ और आदर्श—

कल्पना का कौतुक हो जायगा, जीवन पर उसका प्रभाव भी नहीं पड़ेगा। आदर्श के निर्वाह में काव्य के पात्रों को मानवता के सामान्य स्तर पर ही विचरण करना चाहिए। जहाँ ऐसा नहीं होता है वहाँ काव्य के पात्र या तो देव हो सकते हैं या दैत्य, मनुष्य नहीं। सत्य की रक्षा के लिए हरिश्चंद्र नाटक में हरिश्चंद्र की साधनाओं और कठिनाइयों का निरूपण कर पुत्र के शव की अंत्येष्टि-क्रिया के पूर्व बिकी हुई अपनी स्त्री से कफन माँगने का जो दृश्य उपस्थित किया जाता है वह मनुष्य की संवेदना को पूर्ण रूप से जाग्रत कर सत्य-रक्षा का सुंदर आदर्श निरूपित करता है, किंतु 'रघुवंश' में लोक-प्रियता की रक्षा के लिए महाराज रामचंद्र द्वारा, गुप्तचर की मात्र उपश्रुति पर कि रावण के घर रही हुई सीता को अपने साथ रखने के लिए कोई व्यक्ति उनकी निंदा करता है, यह जानते हुए भी कि महारानी सीता निर्दोष हैं, गर्भावस्था में, बिना औचित्य प्रमाणित किए और बिना पूर्वसूचना दिये, लक्ष्मण को साथ कर उन्हें निर्जन वन में भेज दिया जाता है, वह वर्णन मनुष्यता के सामान्य स्तर से बहुत ऊँचा होने के कारण मानव संवेदना को जाग्रत करने में पूर्ण समर्थ नहीं होता। ऐसा आदर्श यथार्थ से इतनी दूर चला जाता है कि वह जीवन में प्रयोग की नहीं, बल्कि कल्पना में ही चित्रित करने की वस्तु रह जाता है। इसलिए काव्य में न कोरे यथार्थ का निर्वाह हो सकता है, न निरे आदर्श का। बाह्य जगत् का हमारे मन के साथ संबंध होने के कारण किसी भी वस्तु या घटना का यथार्थ रूप स्थिर नहीं रह सकता है, इसलिए काव्य की सार्थकता इसी में है कि यथार्थ के आधार पर आदर्श की स्थापना इस रूप में हो जिससे मानवता प्रभावित हो सके—जिससे कल्याण की भावना सर्वत्र जग जाय।

छायावाद और रहस्यवाद

हिंदी साहित्य में 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' अपने अनिश्चित रूप से विविध विवादों और उलझनों के कारण बने हुए हैं। आज तक इन दोनों का न कोई सर्वसम्मत रूप स्थिर हो सका और न किसी निर्धारित अर्थ में इनका स्पष्ट प्रयोग किया जाता है। अपनी-अपनी रुचि और मति के अनुसार विभिन्न अर्थों में इनके प्रयोग की मान्यता स्वीकार की गयी है। कोई छायावाद को रहस्यवाद का मूल मानते और कोई रहस्यवाद को ही छायावाद का आधार निरूपित करते हैं। कुछ लोग दोनों को एक रूप ही समझते हैं और किसी-किसी के विचार से दोनों एक दूसरे से अत्यधिक भिन्न हैं। यथार्थ में ये किस रूप से काव्य-प्रणाली की भिन्नता को परिलक्षित करते हैं, इसकी ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। अंधाधुंधी के चलते काव्य की जटिलता, अर्थ दुरुहता, क्लिष्ट कल्पनात्मकता तथा दुर्बोधता का नाम कहीं रहस्यवाद और कहीं छायावाद देकर उनके रूप और अर्थ को परिच्छिन्न कर दिया गया है। अनेक स्थलों पर तो अटपटी वाणी में कुछ कह देना ही रहस्यवाद समझा जाता है और अनुकरण या अपहरण करके अभिव्यक्ति को विकृत कर देने में छायावाद माना जाता है; काव्य के क्षेत्र में ऐसी अनिश्चितता वांछनीय नहीं।

छायावाद और
रहस्यवाद का
अनिश्चित रूप

छायावाद काव्य के निर्धारित वर्ग से भिन्न नहीं है। रहस्यवाद का जो व्यापक क्षेत्र निश्चित हो चुका है, उसी की एक दिशा में यह फलता-फूलता रहता है। इस दृश्य-सृष्टि के मूल का अनुसंधान करने पर, आरंभ से आज तक, पूर्व और पश्चिम में, जो विभिन्न विचार स्थिर हुए हैं, उनमें से एक प्रमुख पक्ष का कहना है कि यह संसार जिस रूप में हमको दिखाई पड़ता है, सत्य है। इसके साथ सुख-उपभोग का हमारा शाश्वत संबंध है और

**छायावाद और
रहस्यवाद**

इसके भीतर अन्य कोई वस्तु नहीं है इसलिए भोग-विलास करते हुए जीवन को समाप्त होने देना चाहिए। दूसरे पक्ष का कथन है कि दृश्य-सृष्टि का बाह्य रूप मिथ्या है और इसके भीतर कोई सूक्ष्म तत्त्व है जिसका

कभी विनाश नहीं होता और उसी तत्त्व का विवर्त्तात्मक भिन्न रूप जगत् है। काव्य क्षेत्र के रहस्यवाद या छायावाद को इस दूसरे पक्ष से ही संबंध है। इस पक्ष की भी कई शाखाएँ हैं, किंतु उस स्थान पर सबका समन्वय हो जाता है जहाँ एक ही सत्य में संपूर्ण भिन्नताओं का पर्यवसान स्वीकार किया गया है। भारतीय विचारकों के साथ पश्चिमी दार्शनिकों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि 'ईश्वर के साथ तादात्म्य की अनुभूति में भिन्नताएँ रह नहीं सकती हैं।' अद्वैत वेदांत के प्रधान समर्थक जगद्गुरु शंकराचार्य का मत, कि बाह्य सृष्टि का आँखों से देख पड़नेवाला नाम-रूपात्मक स्वरूप मिथ्या है और उसके मूल में जो अव्यय और नित्य द्रव्य है वही सत्य है, मायावाद कहलाता है। यथार्थ में इसी मायावाद से रहस्यवाद और छायावाद दोनों का प्रवर्त्तन माना जाना चाहिए। जो मूल तत्त्व सृष्टि के भीतर रहकर इस मिथ्या नाम-रूपात्मक जगत् का विस्तार करता है, वही 'रहस्य' है और उसी के साथ काव्य-योग को रहस्यवाद कहना चाहिए। रहस्य यथार्थ वस्तु है इसलिए रहस्यवाद उसके साथ हृदय-योग की अभिव्यक्ति है। रहस्य का बोध सबको एक रूप से नहीं हो सकता, इसलिए अभिव्यक्ति में भिन्नरूपता रहती है। 'छाया' शब्द का अर्थ ही किसी वस्तु का प्रतिबिंब है। प्रतिबिंब में यथार्थ का वस्तुत्व रह नहीं सकता, इसलिए छायावाद उस असत्य वस्तु का ही विधान कर सकता है जिसके भीतर कोई यथार्थ वस्तु हो। यही कारण है कि छायावाद रहस्यात्मक वर्णन की एक शैलीमात्र है। साधारणतः छायावाद में प्रस्तुत की व्यंजना के लिए किसी अप्रस्तुत का कथन इस रूप से किया जाता है कि उसमें लाक्षणिक वैचित्र्य, भावावेश की आकुलव्यंजना, मूर्त्तप्रत्यक्षीकरण, भाषा की वकता, विरोध-चमत्कार, कोमल पद-विन्यास आदि काव्य का रूप संघटित करनेवाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ती है। अंग्रेजी साहित्य से बंगाला द्वारा उस शैली का प्रादुर्भाव हिंदी में हुआ। रहस्यवाद की अंतर्भूत रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने संतों या साधकों की उस वाणी के अनुकरण पर होती हैं जो तुरीयावस्था या समाधिदशा में नाना रूपों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक

ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थीं। इस रूपात्मक आभास को रहस्यवाद आध्यात्मिक साधना

यूरोप में 'फैंटेस्मटा' (Phantasmata) कहते थे जिसका अर्थ हिंदी में 'छाया' है। इसीसे बंगाला में ब्रह्मसमाज के बीच उक्तवाणी के

अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे वे छायावाद कहलाने लगे। धीरे-धीरे यह शब्द धार्मिकक्षेत्र से वहाँ के साहित्य में आया और फिर रवि बाबू की धूम मचने

1. Miss Evelyn Under hill: Introduction to the Autobiography of Devenranath Tagore.

पर हिंदी के साहित्य-क्षेत्र में भी प्रकट हुआ ।^१ यह सच है कि हिंदी में आने के बाद छायावाद केवल आध्यात्मिक रूपाभास को ही प्रकट नहीं कर महादेवी वर्मा के शब्दोंमें 'स्वच्छंद छंद में विरचित मानव अनुभूतियों' के रूप में भी प्रकट होने लगा और समस्त प्राकृतिक सौंदर्य को प्रियतम का प्रतिबिंब मानकर उससे सांयोगिक साक्षात्कार का प्रेम-गान गाने लगा; फिर भी, उसने आध्यात्मिकता का आधार छोड़ा नहीं । इतना भर अवश्य हुआ कि उस आध्यात्मिकता के प्रति परंपरागत मानसिक धारणा में एक परिवर्तन उपस्थित कर दिया गया । जिस स्थूल की प्रभुता असह्य होने पर सूक्ष्म की क्रांति की दुहाई देकर छायावाद का नूतन आधार स्थिर किया जाता है, वह आध्यात्मिकता के संस्कार से दूर कहीं जाता है ! यदि काव्य के शास्त्रीय बंधनों के प्रति महादेवी वर्मा के 'स्वच्छंद छंद' की रचना और टेकनिक के विद्रोह को छायावाद का रूप माना जाय तो वह एक शैली-विशेष की योजना को छोड़ और क्या कहा जा सकता है ? 'आनंद प्रत्येक प्राणी में द्योतमान सच्चिदानंद आत्मा का एक रूप है, उसकी भूमिका है, एक झलक है । आनंद के अतिरिक्त आत्मा के और दोनों रूप—सत्य तथा ज्ञान—क्रम से पिधान से ढके और आवरण से लिपटे रहते हैं । सत्यकाम और जिज्ञासु को सत्य और ज्ञान के लिए गहरी तपस्या करनी पड़नी है । आनंद—आत्मा—हिंसी से पिहित या आवृत तो नहीं होता, पर अवगुंठित अवश्य रहता है । अवगुंठन ही उसके स्वाभाविक सौंदर्य का प्रतीक है । किसी रूपवती के मुखचंद्र का घूँघट उसके विभास्वर लावण्य का अवरोधक नहीं होता, प्रत्युत् पिपासाकुल नेत्रों को रूप-सुधा का पान उसी मात्रा में कराता है जिससे तृप्ति और अतृप्ति का द्वंद्व चलता रहे और उत्सुकता की शांति न होने पावे । आनंद के इसी अवगुंठन को छाया या माया कहते हैं ।' अवगुंठित आनंद की झलक पाने या दिखाने की क्रिया को छायावाद या मायावाद कहते हैं । यद्यपि 'छाया' या 'माया' के नामार्थ से उपर्युक्त विवेचन सत्य नहीं निकलता; फिर भी, इससे इतना स्पष्ट है कि छाया यथार्थ वस्तु नहीं रह कर कोई बाहरी आवरण है जिसके भीतर यथार्थता या रहस्य का अवस्थान है । इससे भी यही प्रतिपादित होता है कि छायावाद रहस्यवाद के उद्घाटन की एक प्रणाली है, प्रत्युत् रहस्यवाद के अंतर्गत है ।

कुछ लोग मानते हैं कि छायावाद के अंदर बहुत-सी विचार धाराएँ काम कर रही हैं जिनका आध्यात्मिकता से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है । ऐसी विचार-धाराएँ, किसी निर्दिष्ट

छायावाद
प्रतीक पद्धति

काव्य-प्रणाली की ओर संकेत नहीं करके, भावबुद्धि को प्रतीक-पद्धति पर अभिव्यंजित करने की दिशा में प्रवाहित होती रही हैं । इस प्रतीक-पद्धति ने रूप-साम्य के स्थान में प्रभाव-साम्य या धर्म-साम्य को ग्रहण किया

और बाह्य सादृश्य के बदले आभ्यंतर साम्य सादृश्य को लेकर अप्रस्तुतों का अधिकाधिक सन्निवेश कर दिया । ऐसे आभ्यंतर प्रभाव-साम्य के आधार पर लक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धति का

१. 'Though mystical theologies of the East and the West differ widely—though the ideal of life which they hold out to the soul differ too—yet in the experience of the saint this conflict is seen to be transcended. When the love of God is reached divergences become impossible, for the soul has passed beyond the sphere of many fold and is immersed in One Reality.

[Radhakrishna, Hindu View of, Life, P. 84]

प्रगल्भ और प्रचुर विकास छायावाद की काव्य-शैली की यथार्थ विशेषता है। ‘सुख, आनन्द, प्रफुल्लता, यौवन-काल इत्यादि के स्थान पर उनके घोटक उषा, प्रभात, मधुकाल; प्रिया के स्थान पर सुकुल; प्रेमी के स्थान पर मधुप; श्वेत या शुभ्र के स्थान पर कुंद, रज; माधुर्य के नाम पर मधु; दीप्तिमान या कांतिमान के नाम पर स्वर्ग; विषाद या अवसाद के स्थान पर अंधकार, अंधेरी रात, संध्या की छाया या पतझड़; मानसिक आकुलता या क्षोभ के स्थान पर भ्रंभा, तूफान; भाव-तरंग के लिए भंकार; भाव-प्रवाह के लिए संगीत या मुरली का स्वर’^१ आरोपित करके काव्य में जीवन के मार्मिक पक्ष को छोड़ वैचित्र्य-प्रदर्शन प्रमुख माना जाने लगा। इससे काव्य के स्वाभाविक विकास और बोधगम्यता में बाधा पड़ने लगी। इसका परिणाम हुआ कि काव्य की अर्थ-भूमि संकुचित हो गई, विभाव पक्ष शून्य हो गया और काव्य की गतिविधि विचित्रताओं की उलझन में पड़ गयी। जिस ‘स्थूल पर सूक्ष्म का विद्रोह’ के नाम पर प्राचीन शृंगारक कविता को उखाड़ फेंकने की चेष्टा की गयी, वही सूक्ष्म रूप से ही सही, काव्य क्षेत्र में प्रधान बनी रही। हाँ, उसका रूप रहस्यात्मक हो गया। यथार्थ में छायावाद को काव्य-शैली के रूप में रहस्यवाद का ही एक अंग मानना चाहिए।

रहस्यवाद काव्य का एक निश्चित और प्राचीन रूप है। जीवन के आरंभ से ही सृष्टि की बाह्य सत्ता के अंदर मानव किसी अदृश्य शक्ति की विद्यमानता का अनुमान करके उसका अनुसंधान करने और उसका रूप स्थिर करने की दिशा में प्रयत्नवान रहता आया है। उपनिषद्काल में, जब मनुष्य का ज्ञान सृष्टि के सूक्ष्म तत्वों को समझने और उनका अनुसंधान करने के योग्य हो चुका था, ईश्वर और आत्मा के रूप की स्थिरता ही रहस्य का उद्घाटन समझी जाती थी। यह व्यापार बुद्धि या ज्ञान-सापेक्ष होने के कारण काव्य-क्षेत्र की वस्तु नहीं हो सका था। बौद्ध काल में इसका रूप बड़ा ही विकृत हो गया। जीवन के बाह्यार्डवर और स्थूल कर्मकांड के प्रति विद्रोह होने के बाद आंतरिक पवित्रता और सूक्ष्म अंतःसाधना का प्रभाव बढ़ने लगा तो ‘रहस्य’ का स्थान ईश्वर या आत्मा के अनुसंधान के बदले निर्वाण या मोक्ष की स्थिरता हो गया। बौद्ध धर्म ने अपने पतन-काल में जब तांत्रिक साधना का रूप धारण किया तब लौकिक सदाचार पर व्याघात होने के कारण स्पष्ट भाषा में ब्रज्यानी लोग (बौद्धों की एक शाखा) नहीं बोल कर अपनी बातों को सांकेतिक रूप में व्यक्त किया करते थे। उनके लिए ‘रहस्य’ अब ईश्वर, आत्मा या मोक्ष की जिज्ञासा के भीतर नहीं रहकर वाणी और कर्म की गोपनीयता के रूप में रह गया। धार्मिक भावना का रूप चंचल होता गया। बौद्धों में कई संप्रदाय हो गए। नाथ पंथ के नाम से योगियों का एक दल हिंदू संप्रदाय में खड़ा हो गया। एक ओर तांत्रिक और कापालिक अपनी अद्भुत एवं घृणित साधना-पद्धति से जीवन और जगत् के यथार्थ रहस्य को विदलित कर रहे थे, दूसरी ओर हठयोगियों का एक संप्रदाय शारीरिक क्रियाओं और यौगिक साधनाओं के चमत्कार से रहस्य का नवीन रूप स्थिर करने लगा। ‘रहस्य’ का वास्तविक रूप दुर्बोध आडंबरों के जाल में छिप गया। इस समय तक मुसलमानों का भारत में आगमन हो चुका था। ईश्वर के एकत्व और निर्गुणत्व में हिंदू और मुसलमान, दोनों की समान मन्यता देखी गयी। मुसलमान लोग सूफी मत के

अनुसार जिस निराकार ईश्वर को मानकर अपने विचार का प्रचार कर रहे थे, उसी को हिंदुओं की निर्गुणपंथी शाखा ने पहले ही से स्वीकार कर रखा था। अब रहस्य का स्थान घट-घट के भीतर ईश्वर की सत्ता के रूप में स्थिर हुआ। लोग ईश्वरोपासना के बाह्य विधानों को व्यर्थ और आडंबरपूर्ण कह कर वेद-शास्त्र या तीर्थाटन प्रभृति को निस्सार बतलाने लगे। कबीर का प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने उस समय की संपूर्ण प्रचलित भावनाओं के आधार पर जात-पाँत या धर्म-संप्रदाय की बाह्यरूपता को अस्वीकार करके सबके भीतर एक ही मानवता के सामान्य अस्तित्व की धारणा पर प्रेम, भक्ति और ज्ञान के समन्वय द्वारा ईश्वर के साक्षात्कार में 'रहस्य' का रूप स्थिर किया। ऐसे ही ऐसे रहस्य के भिन्न रूपों की अभिव्यक्ति के लिए जो विचार समय-समय पर प्रकाशित हुए, वे ही रहस्यवादी कविता के आधार माने जा सकते हैं। किंतु कबीर के पहले तक की सब रचनाएँ जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और हृदय की संवेदनाओं से कोई संबंध नहीं रखकर केवल योग-मार्ग की विधियों का विधान करती हैं; अथवा अपने-अपने संप्रदाय के लिए शिक्षा भर देती हैं, इसलिए वे काव्य के अंतर्गत नहीं मानी जा सकतीं। कबीर की रचनाओं में शिक्षा या प्रताड़ना के साथ-साथ हृदय-योग का पूरा आभास मिलता है, इसलिए कबीर रहस्यवादी कविता के प्रवर्तक माने जा सकते हैं। उनके बाद भक्ति और रीतिकाल में भी छिट-पुट कई कवियों ने समय-समय पर रहस्यवादी

रचनाएँ कीं किंतु उनमें भी ईश्वर के साक्षात् संयोग का ही विधान 'रहस्य' बना रहा, जीवन और जगत् के मार्मिक पक्ष का उनमें सर्वथा अभाव रहा। आज भी रहस्यवाद का आधार आध्यात्मिक जीवन और अंतःसाधना ही है। ईश्वर को प्रिय, सखा या पूज्य के रूप में ग्रहण करके उसके साथ आत्मा के साक्षात्कार की अभिव्यक्ति को ही रहस्यवादी कविता का यथार्थ रूप मानना चाहिए। रहस्यवादी कविता में

ईश्वर का अनंत और अज्ञात रूप आलंबन होता है, जिसको प्रियतम मानकर आत्मा या जीव को प्रियतमा के रूप में खड़ा करके दोनों के सम्मिलन या साक्षात्कार को सांकेतिक और चित्रमयी भाषा में अभिव्यक्त किया जाता है। इसी रहस्यवादी कविता ने छायावाद के रूप में भिन्न-भिन्न अभिव्यंजना-प्रणालियों को स्वीकार कर आज वेदनावाद, प्रियतमवाद, प्रतीकवाद, हालावाद, सौंदर्यवाद

आदि के रूप में अपना विस्तार प्राप्त किया है। ऐसी कविताओं की विशेषता यही है कि ये प्रस्तुत-विधान की ओर नहीं जाकर अप्रस्तुतों की

व्यंजना, कल्पना-चित्रों द्वारा, वेदना, उत्सुकता, प्रेमोन्माद, वेसुधा आदि की अभिव्यक्ति के रूप में करती है। कल्पना-चित्र का प्रयोग इस रूप से बढ़ गया है कि जहाँ पहले केवल वस्तु या व्यापार की कल्पना की जाती थी वहाँ भावानुभूतियों की भी कल्पना की जाने लगी। काव्य में भावानुभूति का रूप स्वाभाविक और सच्च होना चाहिए। यदि भावानुभूति ही कल्पित हुई तो उसको हृदय से क्या संबंध रहा? और यदि हृदय-योग का संबंध ही नहीं रहा तो कोई भी वाणी-विधान कविता कहाँ रहा? रहस्यवाद और छायावाद के नाम से धर्म-साम्य और प्रभाव-साम्य के आधार पर नया-नया रूपक बौंध कर कविता की भाव-भूमि को बहुत संकुचित कर दिया जाता है और लाक्षणिक मूर्तिमत्ता तथा चित्रमयी भाषा का प्रयोग करके रचना की ठुलहता को बढ़ा दिया जाता है। लब्धप्रतिष्ठ कवियों के साथ ऐसी बात नहीं है। उनकी रचनाएँ भाव-भूमि पर खेलती हुई स्पष्ट और सुंदर अर्थ का अंचल पकड़े रहती हैं, किंतु अधिकांश कविताओं में इसका अभाव ही रहा है। वे न रहस्यवाद की कविताएँ हैं, न छायावाद की।

साहित्य-साधना की पृष्ठभूमि

तीसरा अध्याय

अलंकार-तत्त्व-विमर्श

तीसरा अध्याय

अलंकार-तत्त्व-विमर्श

अलंकार का तात्पर्य और उसका प्रयोग

‘अलंकार’ शब्द का यौगिक अर्थ है, अलं—पूर्ण, बस—करने वाला । जिसके बाद कुछ शेष न रह जाय, वैसे विन्यास या रचना को अलंकार कहना चाहिए । भारतीय साहित्य में इसका पर्याय ‘भूषण’ माना जाता है, इसलिए कुछ लोग ‘अलंकार’ के स्थान पर ‘भूषण’ शब्द का प्रयोग करते हैं; किंतु ‘अलंकार’ और ‘भूषण’ की ध्वन में अंतर अलंकार की व्युत्पत्ति है । भूषण शोभनीयता के साधन मात्र को कहते हैं, परंतु ‘अलंकार’ और उसका तात्पर्य वही कहलायगा जो उक्त शोभनीयता की पूर्णता का प्रतिपादक हो । काव्य में यदि शोभनीयता को किसी पूर्णता की अपेक्षा ही रह गयी तो वह कला की छुट्टि मानी जायगी । अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तक बेनिडिटो क्रोचे ने उक्ति को ही काव्य माना है; अतः शोभनीयता का उसमें ऐसा समावेश होना चाहिए कि वह किसी भौति अपूर्ण नहीं रहे । यदि शोभनीयता की पूर्णता का, जिसको दूसरे शब्द में अलंकार कहा जा सकता है, आग्रह रह गया तो वह उत्तम काव्य नहीं कहलायगा । काव्य एक कला है और अभिव्यक्ति से ही इसका संबंध है, इसलिए अलंकार का काव्य में प्रमुख स्थान है । लाक्षणिक अर्थ में अलंकार उक्ति-व्यंजना के उस प्रयोग या विधि को कहते हैं जिससे कथन में पूर्ण चमत्कार आ जाय ।

चमत्कार उस शक्ति का नाम है जो हृदयगत आनंद के आवरण को अनायास अनावृत्त कर दे ; जिसके श्रवण या दर्शन से हृदय की स्थिति में बोध-जनक विशेषता उत्पन्न हो जाय । काव्य में अलंकार उक्ति-व्यंजना का वह रूप है जिससे बोधगम्यता का पथ सरस या चमत्कृत हो उठता है । चमत्कार के अंतर्गत भावों के उत्कर्ष के साथ वस्तु के रूप, गुण, या व्यापार की विलक्षणता भी है । अलंकार शब्द-कौतुक या अर्थ-वैलक्षण्य के द्वारा उक्ति को इस रूप से सम्मुख लाता है जिसको देख-सुनकर भाव की बोधगम्यता के कारण हृदय गद्गद हो जाता है । पंतजी का कथन है कि ‘अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के लिए विशेष द्वार हैं । भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं ; वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति नीति हैं; पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं ।’^१ अलंकार के लिए भाव का बोध-पक्ष ही आवश्यक है । भाव के ज्ञान-सापेक्ष अनुभव में वृद्धि करने के गुण को ही अलंकार की रमणीयता कहते हैं । यथार्थ में, अलंकार न शब्द को सुशोभित करता है, न अर्थ को, बल्कि उक्ति-व्यंजना के रूप में वह रस

को रमणीय या आस्वादनीय बनाता है। किसी भी अवस्था में अलंकार उक्ति-वैचित्र्य के द्वारा भाव-क्षेत्र में पहुँच कर रस को परिष्कृत और प्रत्यक्ष करता है।

स्थूल जगत् में अलंकार का प्रयोग दृश्य वस्तु के साथ ही संभव है। यदि वस्तु के बाह्य अस्तित्व का पता नहीं रहे तो द्रव्य-मूलक अलंकार की कोई उपयोगिता नहीं रहेगी। वस्तु के प्रत्यक्ष अस्तित्व के बाद ही उसे अलंकृत करने का प्रश्न उठ सकता है। हम मिट्टी की मूर्तियाँ बना कर उन्हें भौति-भौति के अलंकारों से सुशोभित करते हैं, कारण नग्न और निरलंकृत मूर्तियाँ उतनी आकर्षक या आनंदायक नहीं होतीं। मानव समाज में साधारणतः स्त्री जाति को ही अलंकृत करने की परंपरा चली आई है। स्त्रियों के लिए अलंकार के प्रयोग का अभिप्राय केवल आत्म रुचि का ही परिमार्जन नहीं है,

स्थूल जगत् का अलंकार और उसका उद्देश्य

बल्कि उसके भीतर उनके निकट दूसरे का हृदय आकर्षित करने का भाव भी रहता है। ऐसे व्यापार में दूसरों की रुचि की रक्षा का ही प्रश्न प्रधान रहता है। एक ग्रामीण उक्ति है, ‘निज रुच भोजन पर रुच सिंगार।’ इसके भीतर भी अलंकार द्वारा अन्य हृदय को प्रभावित करने की ध्वनि है। साधारण वेश-भूषा से यह सहज नहीं है, इसलिए स्त्रियों को अलंकार-युक्त बनना पड़ता है। इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि पुरुषवर्ग को अलंकार से कोई संबंध नहीं रहता और वे उसका व्यवहार करना नहीं चाहते हैं। अलंकार केवल धातुनिर्मित आभूषणों को ही नहीं कहते, रुचि-बद्ध शरीर की सजावट, यहाँ तक कि केश सँवारना और चंदनादि का धारण भी अलंकार के ही अंतर्गत माना जायगा। चाहे जिस दिशा में अलंकार का प्रयोग हो, उसका उद्देश्य दूसरों के निकट अपना आकर्षण उपस्थित करना है, दूसरों की प्रसन्नता को विस्तृत करना है।

काव्य कला का एक उत्कृष्ट रूप है। कला का उद्देश्य ही अपने को पूर्ण रूप से संसार के समक्ष प्रदर्शित करना है। यह पूर्णता अलंकार के क्षेत्र में आसानी से संपन्न होती है, इसलिए अलंकार काव्यका का आवश्यक साधन है। इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि चाहे शोभनीयता को परिबर्द्धित करे या नहीं, अलंकार का अनावश्यक प्रयोग भी करना ही होगा। अलंकार के प्रयोग का तात्पर्य काव्य में उसके ठीक-ठीक ‘फिट’

अलंकार काव्य-कला का आवश्यक साधन

करने से है, फिर वह ‘फिटिंग’ चाहे समासा शैली से हो अथवा व्यास शैली से। जो लोग ऐसा मानते हैं कि अलंकार के प्रयोग से वस्तु का स्वाभाविक सौंदर्य ही नष्ट हो जाता है, उनको जानना चाहिए कि प्रत्यक्ष जीवन में हमलोग जिस प्रकार किसी-न-किसी रूप में अलंकार का प्रयोग करते ही हैं और उससे हमारे स्वाभाविक सौंदर्य का विकास ही होता है, उसी भौति काव्य-जीवन के लिए भी किसी-न-किसी रूप में अलंकार का प्रयोग आवश्यक माना जाता है। आदिम युग की अवस्था में जाकर आज यदि लोग कपड़ा पहनना और केश सँवारना भी छोड़ दें तो उनको या तो अजायब घर में बंद कर देना होगा अथवा किसी पागलखाने में चिकित्सा के लिए भेजना होगा। पश्चिमी विद्वान् प्लेटो ने यह कह कर अलंकार की निंदा की है कि उससे वासना जाग्रत होती, स्वस्थ को विनाशकारी आहार मिलता तथा सौंदर्य का

अनर्थकारक चित्र उपस्थित होता है ^१ । दूसरे दार्शनिक कांट ने ऐसा विचार प्रकट किया है कि 'सुंदर भाषण और आलंकारिक भाषण में स्पष्ट अंतर है । आलंकारिक भाषण, चूँकि वह मनुष्यों की दुर्बलता से लाभ उठाकर अपना अभिप्राय सिद्ध करता है, आदरणीय नहीं है ^२ । इसके विरुद्ध ऐसा कहा जा सकता है कि अलंकार के बिना कला-कृतियों में प्रेषणीयता आ नहीं सकती । प्रत्येक कला के मूल में भाव की अभिव्यक्ति सन्निहित रहती है । भाषण देने के समय, जो वक्तृत्वकला के नाम से प्रसिद्ध है, हमारे हृदय में जो भाव रहता है उसको यों ही साधारण रूप में कह देने से विशेष प्रभाव नहीं उत्पन्न होता । जो व्यक्ति भूख से पीड़ित है, उसके लिए केवल इतना कहना कि अमुक व्यक्ति भूखा है, पर्याप्त नहीं है । उससे सुननेवाले के हृदय में वक्ता के भाव के अनुरूप प्रभाव नहीं पड़ सकता है । उक्त व्यक्ति की जुधा-पीड़ा का कथन हम केवल इसलिए तो करते नहीं कि लोग सुनें और उसका कोई प्रभाव नहीं हो । हम तो इसलिए उसका वर्णन करते हैं कि उसकी जुधा की पीड़ा से हमारे हृदय में जो सहानुभूति या करुणा का भाव जगा है, वह दूसरे के हृदय में भी समान या न्यूनाधिक रूप से जगे, ताकि उसकी निवृत्ति की ओर, यदि हो सके तो, कार्य किया जाय । इसलिए उसी वस्तु को हम

इस रूप में कहते हैं कि 'भूख के मारे उसका अस्थिपंजर निकल गया है
अलंकार का और चलने-फिरने से वह असमर्थ हो गया है ।' यही अलंकार का रूप-विधान
विनियोग है । काव्य में इसी प्रकार भावों का विनियोग होने के कारण 'यथार्थ'

सुरंजित होकर प्रयुक्त होता है ।' काव्य का उद्देश्य केवल वस्तु का बोध कराना नहीं, बल्कि उसके भाव या रस का संचार करना है । किसी का मुख सुंदर है, इसके लिए काव्य में उसका वर्णन 'मुख' के वस्तुत्व से नहीं, बल्कि 'सुंदरता' के भाव से संबंध रखता है । इस भाव से जिस प्रकार वक्ता प्रभावित हुआ है, उसी प्रकार सबको प्रभावित करने के लिए मुख की सुंदरता के निकट अन्य सुंदरता का विधान किया जाता है, जिससे सौंदर्य की बोधगम्यता में तीव्रता आ जाय । 'भाव की महत्ता स्वतंत्र रहने में ही है । कभी-कभी उसे अपनी स्थिति को तीव्र रूप में प्रकट करने के लिए कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है और यही उसमें अलंकारत्व मिलता है ^३ ।' भाव सूक्ष्म है और शब्द मूर्त । सूक्ष्म को मूर्त रूप में प्रकट करने के लिए कोई भी माप या तौल निर्धारित नहीं है । भाव को मूर्त रूप में व्यक्त करने के समय उसका संपूर्ण व्यय नहीं हो जाता है । कितना भी कह कर हम अपने भाव का कुछ अंश हृदय में

१. 'Plato was quite right to condemn rhetoric (when devoted from a good purpose) as blameworthy and discreditable, directed to arouse passions, a diet ruinous to health, a paint disastrous to beauty'—Croche *Æsthetic* P. 423.

२. Immanuel Kant in his Critique of judgment observes that eloquence, in the sense of art of persuasion, by means of beautiful appearance and dialectical form must be distinguished from beautiful speaking ; and that the art of oratory, playing upon the weakness of men to gain its own end, is worthy of no esteem. *Æsthetic* P. 426.

३. सुधांशु : काव्य में अभिव्यंजनावाद,—पृ० ८९

रखे ही रहते हैं, इसलिए अलंकार द्वारा भाव को अधिक से अधिक रूप में हम व्यक्त कर सकते हैं। वर्य्य वस्तु के भाव और अलंकार-विधान कथन के साध्य और साधन मात्र हैं। अलंकार का तात्पर्य भाव को अधिकाधिक रूप से व्यक्त कर तज्जन्य प्रभाव उपस्थित करना है।

रवि बाबू ने ‘साहित्य के व्यापार’ शीर्षक लेख में अभिमत प्रकट करते हुए लिखा है कि ‘भाषा द्वारा जो नहीं कहा जा सकता, वह चित्र द्वारा कहा जाता है।’ साहित्य में ऐसे चित्रों की कमी नहीं है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा—ये सभी चित्र-रूप अभिव्यक्तियाँ हैं, जो भावों को प्रगट करने में उपयुक्त होते हैं। ‘तुम्हें देखने के अलंकार द्वारा भाव में तीव्रता लिए पक्षी की तरह मेरी आँखें फड़फड़ा रही हैं’ इस कथन द्वारा थोड़े शब्दों में जिस तरह अपनी विवशता, उत्सुकता, व्यग्रता, बंधता आदि की व्यंजना होती है, वह सीधे शब्दों में लाख कहकर भी हम थोड़े प्रकट कर सकते हैं !

पहले जैसा लिखा जा चुका है कि मूर्तरूप के साथ ही अलंकार का विन्यास संभव है, काव्य में अलंकार का प्रयोग होने के कारण उसके मूर्तरूप का विवेचन आवश्यक है। काव्य की साधारण पहचान यही है कि वह श्रोता या पाठक के सम्मुख किसी वस्तु या व्यापार का एक चित्र उपस्थित कर देता है। वह चित्र विंचरूप होता है। जिस कथन या रचना द्वारा इस प्रकार कोई विंच-चित्र उपस्थित नहीं हो, वह काव्य की कोटि में नहीं आ सकता। इसी विंच के केवल बोध के लिए नहीं, बल्कि उसकी यथार्थ प्रतीति के लिए काव्यकार उसमें अलंकार की योजना करता है। किसी की आँखों की चंचलता का विंच-चित्र यदि केवल ‘बड़ी चंचल आँखें’ कह कर ही उपस्थित किया जाय तो पाठक या श्रोता के तज्जन्य और तदनुरूप भाव को टिकने का कोई सुहृद् आधार नहीं मिलता है। किंतु—

‘कमल पर जो चार दो खंजन प्रथम
पंख फड़काना नहीं थे जानते,
चपल चोखी चोट कर अब पंख की
वे विकल करने लगे हैं भ्रमर को।’

—पंतः ग्रंथि, पृष्ठ १४.

इन पंक्तियों द्वारा कमल पर बैठे हुए खंजन की चपलता का विंच-चित्र उपस्थित कर आँखों की चंचलताज्जन्य भाव की जो अतिरिक्त व्यंजना की जाती है, यही अलंकार-प्रयोग की सार्थकता है। हम अपने भावों को दूसरों के निकट यथानुरूप प्रकट करने के लिए किस भाँति सुशोभित करें, यह कलाकार के नैपुण्य पर निर्भर करता है। यदि अलंकारों से संपूर्ण ढँक कर हम अपने बच्चों को दूसरे के निकट उपस्थित करेंगे, तो उसका वास्तविक रूप किसी को दिखाई नहीं पड़ेगा। उसी प्रकार वर्य्य-वस्तु विधान में भावों की तदनुरूप प्रतीति के लिए अलंकारों के प्रयोग में बड़ी सतर्कता की आवश्यकता है। तात्पर्य यह कि अलंकार काव्य का अनिवार्य अंग नहीं रह कर भी उसकी शोभनीयता का आवश्यक साधन है, और इसका प्रयोग भावों की प्रतीति को सहज कर देता है।

अलंकार में द्वैतचित्र-कल्पना-विधान

अलंकार की योजना और उसके विधान पर ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसी वस्तु के रूप, गुण या व्यापार-जन्य भाव की तीव्रता की प्रतीति के लिए उसके निकट किसी अन्य वस्तु का अतिरिक्त चित्र उपस्थित किया जाता है जो वर्य-वस्तु के समान या उससे अधिक रूप-गुण-व्यापार सम्पन्न हो। यही द्वैतचित्र-कल्पना-विधान है। यद्यपि सब अलंकारों

में अनिवार्य रूप से इसका निर्वाह नहीं हो सकता, फिर भी अधिकांश अलंकारों के मौलिक आधार के रूप में इसको ग्रहण किया जा सकता है।

द्वैतचित्र-कल्पना-विधान इस द्वैतचित्र-कल्पना का उद्देश्य है, 'प्रस्तुत' या वर्य-वस्तु को विशेष रूप से उद्भासित करना। काव्य में वस्तु का दर्शन हमें ज्ञान के रूप में नहीं, बल्कि भाव के रूप में होता है, इसलिए अलंकार द्वारा सुशोभित उक्ति-विधान भाव को ही उद्भासित या उद्दीप्त करता है। 'किसी का मुख सुंदर है' इसके प्रत्यक्ष-बोध से हमें कोई आनंद नहीं मिल सकता। सुंदर है तो है, सैकड़ों के मुख सुंदर हैं। सुंदरता का केवल बोध हमारी भावात्मक सत्ता पर कोई प्रभाव नहीं डालता है। बोध-अवस्था में आनंद की प्रतीति के लिए हमारा आत्मभाव सुरक्षित नहीं रहता है—वह उसमें विनिमज्जित हो जाता है। किंतु, 'किसी का मुख सुंदर है', इसके लिए यदि हमारे मन में 'रति' या अनुराग उत्पन्न होता है तो उक्त सौंदर्यजन्य भाव के आस्वादन के लिए हम आत्मभाव को सुरक्षित रखना चाहते हैं। अलंकार उस भाव को आस्वादनीय होने में—उसका रस-रूप परिणत होने में—हमारी सहायता करता है। ऐसी सहायता करने के क्रम में द्वैतचित्र-कल्पना का विधान अपेक्षित है। भाव की तीव्र प्रतीति के लिए अलंकार-क्षेत्र में यह द्वैतचित्र-पद्धति बड़ी प्रभावोत्पादक है। दो-एक दृष्टांत द्वारा इसे स्पष्ट किया जाता है :—

“नायिका के ललाट पर लगी हुई लाल बंदी के बीच एक अक्षत” का चित्र वर्य-वस्तु है। इसको देखकर द्रष्टा के हृदय में जो सौंदर्य-जन्य भाव उत्पन्न हुआ है, उसको यथार्थ रूप में व्यक्त करने के लिए वह व्याकुल है। उक्त दृश्य के प्रत्यक्ष दर्शन से उसको जो आनंद हुआ है, वह अन्य के लिए सुलभ नहीं है। कारण, सबके लिए प्रत्यक्ष दर्शन का संयोग नहीं है। इस प्रत्यक्ष दर्शन की विशेषता का अभाव जो अन्य लोगों के लिए रह गया, उसकी पूर्ति में एक अन्य अधिक प्रभावकारी चित्र उपस्थित किया जाता है, जिससे द्रष्टा के भाव के अनुरूप श्रोता या पाठक के भाव में तीव्रता आ सके। “मानों राहू के डर से भागकर चंद्रमा की कला मंगल नक्षत्र में जा छिपी हैं”, इस दूसरे चित्र द्वारा जो ज्ञान कराया जाता है, उससे पहले चित्र के प्रति भाव में निश्चय तीव्रता उत्पन्न होती है। चंद्र-कला शुभ्र होने के कारण उसके साथ अक्षत का और मंगल नक्षत्र का रंग लाल होने के कारण उसके साथ लाल बंदी का साम्य निरूपित किया गया है। चंद्रमा और मंगल दोनों के प्रत्यक्ष रहने के कारण मंगल में चंद्रमा की अवस्थिति का मानसिक चित्र उपस्थित कर उसके आधार पर 'लाल बंदी के बीच अक्षत' की सुंदरता का अनुमान किया जा सकता है। बिहारी ने निम्नलिखित काव्य रूप में इसी को व्यक्त किया है :—

“भाल, लाल बेंदी ललन, आषत रहे विराजि ।

इंदुकला कुज में बसी, मनो राहू भय भाजि ॥”

अलंकार-क्षेत्र में यही ‘उत्प्रेक्षा’ का रूप है । कल्पना द्वारा द्वितीय चित्र उपस्थित करके प्रस्तुत या वर्य वस्तु के चित्र को अत्यधिक परिष्कृत कर दिया गया है ।

“हालाहल मत गर्व कर—‘मैं हूँ कूर अपार’ ।

क्या न अरे ! तेरे सदृश्य, खल-जन-वचन विचार ॥”

यह ‘प्रतीप’ अलंकार का उदाहरण है । इसमें दुर्जनों के वचन को हालाहल-विष-के अनुरूप मानकर यथार्थ हालाहल का अनादर सूचित किया गया है । ‘खल-जन-वचन’ का एक चित्र था, उसकी तीव्रता की प्रतीति के लिए ‘हालाहल’ का दूसरा चित्र उपस्थित किया गया है । उपमा, रूपक, अपहृति प्रभृति सादृश्यसूचक अलंकारों में तो यह द्वैतचित्र-विधान और भी स्पष्टता के साथ उपस्थित किया जाता है ।

“जा दिन ते छवि सों मुसकात कहूँ निरखे नँदलाल विलासी ।

ता दिन ते मन-ही-मन में ‘मतिराम’ पियें मुसकानि सुधा-सी ॥

नेक निमेष न लागत नैन चकी चितवै लिय देव-तिय-सी ।

चंद्रमुखी न हलै न चलै निरवात-निवास में दीप-शिखा-सी ॥”

उपमा के इस उदाहरण में कवि के लिए कृष्ण के दर्शन से उत्पन्न गोपांगना की अनुराग-जन्य जड़ता का चित्र प्रबुद्ध करना अभीष्ट है । वर्य वस्तु है, “चंद्रमुखी का निर्निमेष नेत्रों से कृष्ण की छवि को चकित होकर देखते रहना ।” इस चित्र के प्रति उत्पन्न होनेवाले भाव की प्रतीति के लिए दूसरा चित्र ‘निरवात निवास’ (जिस घर में जरा भी हवा नहीं बहती हो) में निश्चल दीप-शिखा का उपस्थित किया गया है । जहाँ जरा भी हवा नहीं बहती हो, उस स्थान में रखे हुए दीप की निर्वात-निष्कंप ज्योति का दर्शन सहज है । इसके द्वारा गोपांगना की निर्निमेष दृष्टि की प्रतीति का पथ सुगम कर दिया गया है ।

“लिखकर लोहित लेख, डूब गया है दिन अहा ।

व्योम-सिंधु सखि, देख, तारक बुद-बुद दे रहा ॥”

—मैथिलीशरण

समुद्र के साथ आकाश की अभेदता प्रतिपादित करके ‘रूपक’ अलंकार द्वारा यहाँ एक चित्र व्योम (आकाश) का है जिसमें सूर्य डूब चुका है और तारे निकल आये हैं । दूसरा चित्र सिंधु (समुद्र) का है जिसमें बुद-बुद (पानी के बुल्ले) निकले हुए हैं । यहाँ वर्य वस्तु आकाश का रात्रिकालीन दृश्य है । उसकी प्रतीति के लिए समुद्र का दृश्य उपस्थित किया गया है ।

“तारक चिह्न दुकूलनी, पी-पीकर मधुमात्र ।

उलट गयी रयामा यहाँ, रिक्त सुधाधर-पात्र ॥”

—मैथिलीशरण

इस ‘समासोक्ति’ अलंकार के उदाहरण में रात्रि का एक चित्र, जिसमें चंद्रमा उगा हुआ है, वर्य वस्तु है । उसकी प्रतीति के लिए ‘मदपायनी’ का दूसरा चित्र उपस्थित किया गया है, जिसने जी भर मधु पीकर पीने का वर्तन खाती-छोड़ दिया है ।

ऐसे द्वैतचित्र-विधान में यह ध्यान रखना होगा कि दूसरा या कल्पित चित्र ऐसा ही हो जो श्रोता या पाठक के ज्ञान-क्षेत्र में अपना प्रभाव उत्पन्न कर सके। यदि इस प्रकार का चित्र उपस्थित किया गया जो ज्ञान की सीमा के बाहर हो, अथवा जो सुननेवाले को किसी प्रकार प्रभावित नहीं कर सके, तो अलंकार का विन्यास करके भी हम उसका उद्देश्य पूरा नहीं कर सकेंगे। जिसने पहाड़ कभी देखा-सुना नहीं है, उसको हाथी के भाव-चित्र की प्रतीति के लिए 'पर्वत के समान हाथी' कहना व्यर्थ होगा।

इस प्रकार द्वैतचित्र-कल्पना द्वारा रूप, धर्म या व्यापार साम्यसूचक अलंकारों की योजना की जाती है। इस द्वैतचित्र-कल्पना का विधान उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपहृति, संदेह, समासोक्ति, अन्योक्ति, प्रतीप, अथांतरन्यास, आंति, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टांत, स्मरण प्रभृति में स्पष्ट रहता है। अन्य अलंकारों में भी, जिनका साम्य स्पष्ट नहीं है, इसका प्रयोग किसी-न-किसी भौति प्रमाणित किया जा सकता है। ऐसे अलंकारों में कहीं तो वस्तु के वास्तविक रूप का कथन होता है, कहीं अतिशय कथन और कहीं-कहीं विरोध, तर्क, न्याय, गूढ़ार्थता, उक्ति-वैचित्र्य आदि का विधान किया जाता है। गंभीरतापूर्वक देखने से इन अलंकारों में भी द्वैतचित्र-कल्पना का समावेश प्रत्यक्ष हो सकता है। वास्तव-वर्ग में स्वभावोक्ति एक प्रसिद्ध अलंकार है। इसमें किसी के स्वाभाविक रूप, गुण, कार्य आदि का चमत्कार-पूर्ण ढंग से वर्णन रहता है। साहित्य-दर्पण में इसका लक्षण है "स्वभावोक्तिर्दुरुहार्थ स्वक्रिया-रूप वर्णनम्"—दुरुह अर्थात् कविमात्र से ज्ञातव्य जो बच्चे आदि की चेष्टाएँ या स्वरूप हैं, उनके वर्णन को स्वभावोक्ति कहते हैं। कुछ लोग तो अभी तक इसे अलंकार मानते ही नहीं; किंतु औचित्यपूर्ण प्रयोग से इसमें अलंकारता आ जाती है और अप्रत्यक्ष रूप से द्वैतचित्र-कल्पना का भी समावेश हो जा सकता है। किसी बच्चे की स्वाभाविक चेष्टा का एक वर्णन है—

‘सुंदर सजीला चटकीला वायुयान एक

मैया, हरे कागज का आज मैं बनाऊँगा।

चढ़के उसी पर करूँगा मैं नभ की सैर

बादल के साथ-साथ उसको उड़ाऊँगा।

मंद-मंद चाल से चलाऊँगा उसे मैं वहाँ,

चहक-चहक चिड़ियों के संग गाऊँगा।

चंद्र का खिलौना मृग-छौना वह छीन लूँगा,

मैया के गगन की तरैया तोड़ डालूँगा ॥

इसमें प्रकट तो बच्चों के मनसूबों से तैयार किया हुआ उसका अपना ही एक रूप है। यह चित्र बच्चे के यथार्थ चित्र से भिन्न है। इस काल्पनिक चित्र के योग से बच्चे का वास्तविक चित्र अत्यंत स्पष्ट हो जाता है। बच्चे के वास्तविक चित्र को भूल जाने से इस काल्पनिक चित्र में कोई चमत्कार नहीं रहेगा। हमारे सामने कोई बच्चा वास्तविक रूप में है, उस

चित्र के साथ ही इस दूसरे काल्पनिक चित्र की सार्थकता है। इस भौति द्वैतचित्र-कल्पना का निर्वाह इसमें भी हो जाता है।

द्वैत-चित्र-कल्पना में अलंकार की सार्थकता वस्तु से पृथक् रहकर भावोत्तेजन में योग देना प्रमाणित हो जाती है। जिस अलंकार में इसका निर्वाह नहीं वस्तु से पृथक् हो सकता वह यथार्थ अलंकार की कोटि में नहीं आ सकता है। अलंकारों अलंकार की सत्ता की दिनानुदिन बाद में इसकी रक्षा संभव नहीं है, किन्तु जहाँ इसकी रक्षा हुई है, या हो सकती है, उसको अलंकार से वहिर्गत कर देना उचित नहीं है। सुधांशु जी ने लिखा है कि ‘साहित्य-शास्त्र में अलंकारों की संख्या इतनी अपरिमित हो गयी कि अलग-अलग ढाँचे के रूप में अलंकारों का निर्वाह कठिन हो गया। इसका परिणाम यही हुआ कि अधिकांश अलंकार वस्तु से पृथक् न रहकर विलकुल उसमें मिल गये। असम, अधिक, अनुमान, असंभव, उल्लेख, उदाहरण, उल्लास, उदात्त, काव्यार्थापत्ति, काव्यलिंग, तिरस्कार, निश्चय, प्रत्यनीक, प्रतिषेध, परिसंख्या, पर्याय, प्रहर्षण, भ्रांति, भाविक, मुद्रा, युक्ति, लेश, लोकोक्ति, विप्सा, विरोध, विषादन, विकल्प, विशेषोक्ति, विचित्र, विधि, व्याघात, सम, समाधि, सहोक्ति, समुच्चय, सामान्य, सूक्ष्म, वस्तु से पृथक् स्वभावोक्ति, स्मरण, संदेह, हेतु आदि अनेक अलंकार वस्तु या भाव से अपनी सत्ता रखने अपनी पृथक् सत्ता रखने में पूरे समर्थ नहीं हैं’।^१ इस लंघनी सूची में अलंकार-अलंकार आगतक प्रयुक्त लगभग आधी अलंकार-संख्या को अलंकारता की योग्यता से अक्षम सिद्ध किया गया है। यद्यपि अपने विचार से अन्यथा स्वयं उन्होंने उसी स्थान में ऐसा लिखकर कि ‘अलंकारों की उपयुक्त-सूची में, संभव है, कुछ ऐसे अलंकार भी हों जिन्हें वस्तु से पृथक् रखने का आग्रह किया जा सकता है’, इस बात की सूचना दी है कि ये सब के सब अलंकार की कोटि से बाहर नहीं किए जा सकते; फिर भी, जिस भौति अलंकारों की अक्षमता का अनुमान किया गया है, वास्तव में वैसी बात नहीं है। यह हो सकता है कि प्रयोग की अनुपयुक्तता के कारण इनमें से अधिकांश कोई प्रभाव नहीं उत्पन्न करते हों, किंतु उक्ति-व्यंजना में चमत्कार और द्वैतचित्र-कल्पना की रक्षा द्वारा भाव को तीव्र करने में समर्थ होने के कारण इनकी उपयोगिता अस्वीकृत नहीं की जा सकती। अलंकार तो तब व्यर्थ-से प्रतीत होते हैं जब उनका प्रयोग भावोत्तेजना को छोड़ केवल उनके अस्तित्व को दिखाने के लिए ही किया जाय—वे साधन नहीं रहकर साध्य हो जायँ। वस्तु-बोध में

अलंकारों की अनुपयोगिता की मीमांसा उत्कर्षता का कार्य जब अलंकारों द्वारा नहीं किया जाता है, तभी वे व्यर्थ-से होते हैं। यह तो केवल उपयुक्त सूची ही में क्यों, सब अलंकारों में लागू हो सकता है। सुधांशुजी ने इन अलंकारों को इसलिए ही व्यर्थ-सा नहीं माना है, बल्कि इनमें से अनेक ने केवल ‘वस्तु पर ही अपना अधिकार नहीं जमाया; न्याय, काल, वाणी और क्रिया के क्षेत्रों को भी अपना लिया है।’ मेरा विचार है कि न्याय, काल, वाणी या क्रिया के क्षेत्रों में जाकर भी यदि अलंकार द्वारा वर्ण्य-वस्तु के भाव में उत्कर्ष आता हो, तो अलंकारता में दोष कहाँ रहा ? यह सच है कि जहाँ वस्तु के उत्कर्ष को छोड़कर केवल काल, क्रिया या न्यायादि की बातें प्रतिपादित होती

हों, वहाँ वे अलंकार रूप में नहीं ग्रहण किए जा सकते हैं, किंतु सुधांशु जी द्वारा उपस्थित उदाहरणों में ऐसी बात नहीं मालूम पड़ती है। संभव-प्रमाण के उदाहरण-स्वरूप ठाकुर कवि के एक छंद की केवल दो पंक्तियाँ उद्धृत कर उन्होंने प्रतिपादित किया है कि इसमें अलंकारत्व है ही नहीं, एकमात्र प्रोत्साहन का भाव है। मैं सम्पूर्ण छंद उद्धृत कर इसकी समीक्षा करना चाहता हूँ। छंद इस प्रकार है:—

“सामिल में, पीर में, सरीर में न भेद राखै
हिम्मत कपाट को उघारै तो उघरि जाय ।
ऐसे ठान ठानै तो बिना हूँ जंत्र-मंत्र किए
सोंप के जहर को उतारै तो उतरि जाय ।
ठाकुर कहत कुछ कठिन न जानौ अब,
हिम्मत किए तो कहो काहि न सुधरि जाय ।
चारि जने चारि हू दिसा तैं चारो कोन गहि,
मेरु को हिलाय के उग्यारै तो उखरि जाय ॥”

यद्यपि ‘प्रमाण’ के अंतर्गत न्यायशास्त्र में चार ही भेद—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान—हैं और ‘संभव’ नाम का भेद पौराणिकों का है, फिर भी हमको तो यह देखना है कि उपर्युक्त छंद द्वारा किसी वस्तु के भाव का उत्कर्ष होता है या केवल ‘न्याय’ के सिद्धांत का प्रतिपादन ही होता है। इसमें वर्य-वस्तु तो प्रथम पंक्ति में है कि ‘एक साथ, पीड़ा के समय में भी, शरीर की पृथकता का ख्याल नहीं करते हुए, हिम्मत करने से कोई भी साहसिकता का कार्य किया जा सकता है।’ इसके भाव के उत्कर्ष के लिए चतुर्थ पंक्ति द्वारा कहा जाता है कि ‘चार आदमी चारो तरफ से पकड़ यदि पर्वत को भी हिला-हिला कर उखाड़ने लगे तो वह उखड़ जा सकता है।’ इस भाँति द्वैतचित्र-कल्पना का निर्वाह होते हुए इसमें वर्य-वस्तु का भाव-मूलक उत्कर्ष हो जाता है। वस्तु के उत्कर्ष में उसके रूप, गुण या व्यापार की विशेषता का ही समावेश होता है। वस्तु का अभिप्राय वर्य विषय से है, और वह क्रिया रूप में भी हो सकती है। ‘ट्रेन ऐसी चलती थी कि तूफान जाता हो’, इसमें ‘वस्तु’ ट्रेन का चलना है। उसकी उत्कर्ष-व्यंजना के लिए ‘तूफान’ का चित्र खड़ा किया गया है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि क्रिया-सूचक वस्तु

१. ‘प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणाद सुगतौ पुनः ।
अनुमानञ्च तच्चापि सांख्याः शब्दञ्च ते उभे ।
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानञ्च केवलम् ।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः ।
अभावषष्ठान्येतानि भट्टवेदान्तिनस्तथा ।
संभवैतिष्ठयुक्तानि इति पौराणिका जगुः ।

होने के कारण इसमें अलंकार का प्रयोग ही नहीं हो सकता। न्याय के क्षेत्र में जाने ही से यदि अलंकारता में घुटि आने लगे तो अलंकारों में प्रमुख ‘उपमा’ न्याय के क्षेत्र में स्वयं न्याय का विषय है। इससे ब्या हम उपमा अलंकार को भी दूषित भी अलंकार मानने लगेंगे ? ययार्थ बात तो है कि अलंकार द्वारा हम वर्य-विषय के भाव में उत्कर्ष प्रकट कर सके हैं कि नहीं, और वैसा यदि कर सके हैं तो अलंकार का मूल चाहे ‘न्याय’ में हो या ‘व्याकरण’ में, उसका प्रयोग दूषित नहीं समझा जाना चाहिए। उपर्युक्त छंद द्वारा बिंब-व्यापार का कार्य भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है।

वाणी के बाद क्रिया के क्षेत्र में अलंकार के प्रवेश को अनुचित ठहराकर सुधांशु जी ने ‘सूक्ष्म’ अलंकार के निम्नलिखित उदाहरण द्वारा इसमें अलंकारत्व नहीं माना है—

“स्याम बुलावन समुक्ति तिय, चित समुचित सखि सैन ।
ताकि तनक पिय-तन, करन, कर धरि मूँदे नैन ॥”

इसका अर्थ है कि ‘नायिका ने दूती के इशारे से यह समझकर कि नायक ने मुझे बुलाया है, पति की ओर तनिक देखकर, अपने कान पर हाथ रख, आँखें मूँद लीं।’ सूक्ष्म अलंकार में आकार अथवा चेष्टा से पहचाना हुआ सूक्ष्म अर्थ किसी युक्ति से सूचित किया जाता है।^१ स्थूल बुद्धि से शेष नहीं होने के कारण इसका नाम ‘सूक्ष्म’ है। इस उदाहरण में दूती के इंगित से उसका अभिप्राय (नायक से मिलना) समझ नायिका ने अपनी चेष्टा (कान में हाथ रखकर आँखें मूँद लेना) से मिलन का समय (पति के सो जाने के उपरान्त) सूचित किया। इसमें वर्य-विषय नायक-नायिका के मिलाप का सांकेतिक प्रयत्नजन्य भाव है। नायिका के सांकेतिक व्यापार द्वारा, जो काव्य में कथन के रूप में उपस्थित है, उक्त भाव से निश्चय ही तीव्रता आ जाती है। दूती के इंगित का एक चित्र और नायिका की चेष्टा का दूसरा चित्र उपस्थित होने से बिंब-प्रक्रिया और द्वैतचित्र-कल्पना का भी निर्वाह हो जाता है। ऐसे अलंकार द्वारा भावोत्तेजन में यथेष्ट सहायता मिलती है। काव्य का सहायक होने के कारण अलंकार को उक्ति-व्यंजना से ही संबंध रहता है, वस्तु के यथार्थ व्यापार के औचित्यानौचित्य से नहीं। उक्त अलंकार द्वारा वस्तु के व्यापार का मंडन नहीं किया जाता बल्कि तज्जन्य भाव को तीव्र किया जाता है।

सुधांशु जी के आक्षेप में से एक और उदाहरण उपस्थित किया जाता है। भाविक अलंकार में भी, व्याकरण के क्षेत्र में बेतरीके घुस पड़ने के कारण, उन्होंने अलंकारत्व नहीं माना है। उन्होंने लिखा है कि जहाँ भूत, भविष्य के वर्णन वर्तमान काल की तरह किए जायँ वहाँ भाविक अलंकार की स्थिति बताई जाती है। उदाहरण में निम्न-लिखित पद्य दिया गया है:—

“हमको विदित ये तत्त्व सारे नाश और विकास के ।
कोई रहस्य छिपे न ये पृथ्वी तथा आकाश के ॥

१ संलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थ आकारेणैकितेन वा ।

कपापि सूच्यते भङ्गया यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते ।

जो ये हजारों वर्ष पहले जिस तरह हमने कहे ।
विज्ञानवेत्ता अब वही सिद्धांत निश्चित कर रहे ॥^१

यह सच है कि प्रस्तुत छंद में चमत्कार नहीं रहने के कारण अलंकारता का गुण नहीं माना जा सकता, लेकिन भूत और भविष्य के वर्तमान की तरह वर्णन-मात्र में 'भाविक' का आरोप करके उन्होंने विषय को जटिल कर दिया है । साहित्य-दर्पण में भाविक अलंकार के संबंध में लिखा है कि 'भूत या भविष्यत् किसी अद्भुत पदार्थ को प्रत्यक्षवत् अनुभव करने पर 'भाविक' अलंकार होता है ।' उक्त ग्रंथ में इसका उदाहरण इस भाँति दिया गया है, 'तुम्हारे इन नेत्रों की वह अवस्था, जब इनमें अंजन लगा था, अब भी हमारे सामने है और आगे होनेवाले भूषणों से रमणीय तुम्हारी आकृति भी मेरे सामने खड़ी-सी है ।' औरों से इसका भेद बतलाते हुए साहित्य-दर्पणकार लिखते हैं कि इसे 'प्रसाद-गुण के अंतर्गत नहीं कह सकते, क्योंकि भूत और भविष्यत् के प्रत्यक्षवत् भासित होने में प्रसाद-गुण हेतु नहीं है । यह अद्भुत रस भी नहीं है, क्योंकि यह (भाविक) विस्मय का हेतु है और अद्भुत रस विस्मय स्वरूप होता है । अतिशयोक्ति भी यह नहीं, क्योंकि यहाँ अध्यवसान नहीं है ।

भूत और भविष्यत् की वस्तुओं के ठीक उसी वास्तविक रूप में प्रकाशित होने अलंकार के उचित के कारण यह आतिमान भी नहीं है । स्वभावोक्ति में वस्तु का सूक्ष्म प्रयोग में ही स्वरूप वर्णित रहता है । वही उस अलंकार का स्वरूप है । किंतु उसकी योग्यता यहाँ वस्तु की प्रत्यक्षायमाणता विशेष है ।^२ प्रश्न है कि भाविक अलंकार की इन विशेषताओं में वर्ण्य-वस्तु के भाव को तीव्र करने की योग्यता है अथवा नहीं ? उत्तर में कहा जायगा कि यदि इसका प्रयोग उचित रूप से किया जाय तो अलंकार की योग्यता इसमें माननी पड़ेगी । भूत या भविष्यत् का यों ही किसी भाँति वर्णन वर्तमान काल में कर देने से भाविक अलंकार नहीं होता है । काव्य-कल्प-द्रुम में इस अलंकार के संबंध में लिखा गया है कि 'भाविक शब्द में 'भाव' और 'इक' दो अवयव हैं । 'भाव' का अर्थ है कि सत्ता (स्थिति) 'भू सत्तायाम्' और 'इक' का अर्थ है, रक्षा करना । भाविक अलंकार में भूत और भविष्यत् भाव को वर्तमान की भाँति कहकर उनकी रक्षा की जाती है ।^३

“जा दिन ते वृजनाथ भद्र ! इहि गोकुल ते मथुराहि गये हैं ।
छाकि रही तब तैं छवि सों छिन छूटति ना छतियाँ में छये हैं ।
वैसिय भाँति निहारतिहौं हरि नाचत कालिदीन-कूल ठये हैं ।
सबु सँहारिके छत्र धर्यो फिर देखत द्वारिकानाथ भये हैं ॥”

इस छंद में गोपी द्वारा कथित अपने भूतकाल के सुख का भाव वर्ण्य वस्तु है, जब वह कृष्ण के साथ प्रेम-व्यापार किया करती थी । भाविक अलंकार द्वारा वर्तमान काल

१ अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः ।

यत्प्रत्यक्षाय माणत्वं तदभाविक मुदाहृतम् ॥

—विश्वनाथः साहित्य-दर्पण, दशम परिच्छेद

२ शालिग्राम, शास्त्री—साहित्य-दर्पण की टीका, दशम परिच्छेद

३ सेठ कन्हैया लाल पोद्दार—काव्य-कल्पद्रुम, दूसरा भाग, पृष्ठ ३७०

की तरह कि 'मैं उसी प्रकार देख रही हूँ कि कृष्ण यमुना के तट पर नाचने का ठान ठाने हुए हैं,' कहकर उक्त भाव में प्रत्यक्ष तीव्रता उत्पन्न की जाती है। ऐसे स्थान में अलंकार नहीं मानना उसके उद्देश्य को ही मिटाना-सा होगा।

लिखने का तात्पर्य यह नहीं है कि अलंकारों की नित्य नयी बाढ़ अच्छी है, और उनका प्रयोग सर्वत्र ठीक ही हुआ है। किंतु, जहाँ किसी भी अलंकार से यथार्थ में वर्ण्य-वस्तु के भाव में उत्कर्ष होता है, वहाँ उसकी उपयोगिता माननी होगी। अलंकारगत द्वैतचित्र-कल्पना-विधान में बड़ी सतर्कता रहनी चाहिए। मनगढ़ंत कल्पना द्वारा यदि ऐसा चित्र उपस्थित किया जाय जिसकी संभवनीयता में हृदय की विश्वासवृत्ति जाग्रत नहीं हो, तो उससे कल्पना का विधान ही व्यर्थ नहीं होगा, बल्कि भाव को तीव्र करने का उसका उद्देश्य भी नष्ट हो जायगा। यही कारण है कि कल्पना को यथार्थ सत्य का छोर छोड़कर केवल हवा में नहीं उड़ना चाहिए। कल्पना के साथ जब तक हृदय की अनुभूति नहीं होगी तबतक वह आकाश में ही उड़ती रहेगी। अलंकार के तात्पर्य और प्रयोग में जैसा दिखलाया गया है कि इसमें चमत्कार और रमणीयता चाहिए, इसके लिए आवश्यक है कि कल्पना-विधान उक्त चमत्कार या रमणीयता का परिवर्द्धक हो। अलंकार के रूप की रक्षा करके भी यदि कहा जाय कि 'उसने अपनी जीभ-रूपी तलवार से सैकड़ों के सिर काट दिए' तो इसमें जीभ के साथ तलवार की अभेदता होने पर भी उसके कार्य से किसी की रुचि का मार्जन नहीं हो सकता है। व्यंजना द्वारा जीभ में तलवार का घायल करना गुण आरोप करके उसका परिणाम सिर काटना कहकर भावोत्कर्ष में किसी प्रकार सहायता नहीं पहुँचाई जाती है। ऐसी कल्पना प्रभावोत्पादक नहीं हो सकती। चमत्कार में भाव, रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष व्यंजित होना चाहिए। और रमणीयता में भावानुभाव में संवर्द्धन करने का गुण होना चाहिए। जहाँ ये दोनों नहीं हों, वहाँ अलंकार का प्रयोग उचित नहीं है और द्वैतचित्र-कल्पना का विधान भी अनर्गल हो जायगा।

अलंकार में प्रस्तुत-अप्रस्तुत-योजना

द्वैतचित्र-कल्पना-विधान का प्रतिपादन करते हुए पूर्व प्रकरण में लिखा गया है कि अलंकार का उद्देश्य किसी वस्तु के रूप, गुण या व्यापार के प्रति भाव का उत्कर्ष-बोध करना है। इसके लिए वर्ण्य या यथार्थ वस्तु के निकट उसके अनुरूप अलंकार का कार्य-क्षेत्र अप्रस्तुत प्रस्तुत का अप्रस्तुत-विधान है। जो वर्ण्य-वस्तु है, अर्थात् जिसके रूप, गुण या व्यापार के प्रति भाव को तीव्र करना है, वह 'प्रस्तुत' और जिस काल्पनिक या अप्रत्यक्ष वस्तु-चित्र द्वारा उक्त भाव में तीव्रता लाई जाती है वह 'अप्रस्तुत' है। अलंकार का कार्यक्षेत्र अप्रस्तुत को उपस्थित करना ही है। जहाँ केवल प्रस्तुत ही रहेगा, वहाँ अलंकारता नहीं समा सकती।

कहीं व्योम में सौंभ की लालिमा है,
कभी स्वच्छ है दृष्टि आकाश आता ।
कभी रात्रि में मेघ की कालिमा है,
कभी चौंदनी देख जी है लुभाता ।

इन पंक्तियों में कोई अलंकार नहीं हो सकता, कारण इसमें केवल प्रस्तुत—प्रकृति का सांध्य और रात्रि-कालीन दृश्य—रमणीय रूप में वर्णित है । कवि की प्रतिभा का परिचय कल्पनामूलक 'अप्रस्तुत' के चमत्कारपूर्ण वर्णन में जितना नहीं मिलता, उतना प्रस्तुत के रसात्मक वर्णन में मिलता है । यदि केवल प्रस्तुत-विधान द्वारा ही रसात्मकता की अनुभूति कराने में कलाकार सफल हो जाय तो अप्रस्तुत की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जायगी । प्रकृति के प्रफुल्ल और आनंदमय चित्र का अंकन करते हुए जहाँ लिखा गया है:—

रूपहले, मुनहले आम्र - बौर,
नीले, पीले औ' ताम्र भौर,
रे गंध-अंध हो ठौर - ठौर
उड़ पाँति-धौंति में चिर उन्मन,
करते मधु के वन में गुंजन !

—पंत

उस जगह कोई अप्रस्तुत चित्र उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं रह जाती । कारण, प्रस्तुत से ही भाव में यथेष्ट तीव्रता आ जाती है । जहाँ 'अप्रस्तुत' लाकर भी 'प्रस्तुत' में भावात्मकता की वृद्धि नहीं की जा सकती, वहाँ उसका प्रयोग व्यर्थ होता है ।

कहीं आम्र बौर, कहीं डालियों के,
तले फूल आके गिरे बीच थाले ।
रखे हैं मनो टोकरे मालियों के,
इकट्ठे जहाँ भौर-से भीर वाले ॥

—वागीश्वर मिश्र

इन पंक्तियों में कवि ने प्रस्तुत—डालियों के नीचे थालों के बीच फूल गिरे हैं—के साथ अप्रस्तुत का—मालियों के टोकरे रखे हुए हैं—विधान कर यथार्थ में प्रस्तुत के भाव के प्रति कोई विशेषता उत्पन्न नहीं की है । थाली में एकत्र फूल अप्रस्तुत द्वारा गति और टोकरे में रखे फूल दोनों में गुंसा विशेष अंतर नहीं है जिससे प्रस्तुत की प्रतीति में अप्रस्तुत द्वारा अधिक सहायता मिलती हो । यह तो प्रस्तुत का बोध-मात्र कराना है, जो अलंकार का उद्देश्य नहीं है । अप्रस्तुत-योजना की सार्थकता तो प्रस्तुत के भाव में गति और तीव्रता उपस्थित करना है ।

लता भवन ते प्रगट मे तेहि अवसर दुहु भाइ ।
निकसे जुग जुग विमल विधु जलद पटल बिलगाइ ॥

इसमें लता-भवन से राम-लक्ष्मण के बाहर निकलने का दृश्य 'प्रस्तुत' है। इसके प्रति भाव में उत्कर्ष लाने के लिए 'अप्रस्तुत' का अन्य चित्र उपस्थित किया जाता है कि 'मेघमाला को फाड़कर दो चंद्रमा बाहर निकले हों।' इस दूसरे (अप्रस्तुत) चित्र की भावना से कि मेघमाला के समान श्याम लताएँ होंगी और दो चंद्रमाओं के समान दोनों राजकुमार होंगे, प्रथम (प्रस्तुत) के रूप-गुण के प्रति भाव में निश्चय तीव्रता आ जाती है। इस भाँति अप्रस्तुत-योजना सजावट या शोभाकारक द्रव्य के समान प्रस्तुत को विशेष शोभनीय बना देती है। यही उसकी अलंकारता है। जहाँ ऐसा नहीं होता हो, वहाँ अप्रस्तुत विधान व्यर्थ ही नहीं होगा, बल्कि अलंकार का प्रयोग भी निष्प्रयोजन समझा जायगा।

जिस प्रकार केवल बोध भर करा देनेवाली अप्रस्तुत-योजना अलंकारता को नहीं प्राप्त कर सकती, उसी प्रकार अप्रस्तुत का ऐसा विधान भी वांछनीय नहीं है जिसमें प्रस्तुत बिलकुल छिप-सा जाय। ऐसे स्थान में प्रस्तुत के प्रति भाव की तीव्रता प्रस्तुत की प्रच्छन्नता के बदले अप्रस्तुत की चकाचौंध उत्पन्न हो जाती है। 'गंभीर या मुख्य में अलंकारत्व नहीं भावों के वर्णन में झूठे आधार प्रतीति और रसानुभूति में बाधक हो जाते हैं। यदि आधार सत्य हो और उसका हेतु भी संभावित हो तो प्रभाव की व्यापकता बढ़ जाती है।'१ विरह की तीव्रता के वर्णन में:—

गोपिन के अँसुवान के नीर पनारे बहे बहि के भये नारे ।
नारेन हूते भई नदियाँ, नदियाँ नद हवै गये काटि कँगारे ।
बेगि चलौ तौ चलौ ब्रज को 'कवितोष' कहे बहु प्रानन प्यारे ।
वे नद चाहत सिंधु भये अब सिंधु ते हवै हैं हलाहल भारे ॥

इस प्रकार का कथन रसानुभूति या भाव की तीव्रता में विश्वास-वृत्ति पर आघात करता है। गोपियों की विरह-दशा प्रस्तुत विषय है। कृष्ण के विरह में गोपियाँ रोती हैं, इसी भाव का वर्णन करना कवि का अभीष्ट है। उसकी प्रतीति के लिए अप्रस्तुत का इस भाँति विधान कि गोपियों के आँसू पहले नाले के रूप में बहे, फिर नदी रूप हो गये और वे बढ़ते-बढ़ते समुद्र-रूप होगये तथा अब उनसे हलाहल उत्पन्न होनेवाला है, पाठक या श्रोता को आश्चर्य या कुतूहल में डाल देता है। अप्रस्तुत-विधान का ऐसा रूप वांछनीय नहीं है जो प्रस्तुत को ही प्रच्छन्न कर दे।

प्रस्तुत और अप्रस्तुत में साधारणतः साम्य या प्रभाव की रक्षा की जाती है। साम्य रूप या धर्म के आधार पर खड़ा किया जाता है। 'चंद्रोदय' शीर्षक कविता में द्वितीया के चंद्रमा और वक्रदंत में रूपसाम्य तथा हृदय और मोम में धर्म-साम्य है। प्रभाव साम्य के लिए दो वस्तुओं के बाह्य रूप-गुण पर ध्यान नहीं देकर अप्रस्तुत के व्यापार से प्रस्तुत की क्रियानुरूपता का निर्वाह किया जाता है।

मेरा पावस ऋतु-सा जीवन,

मानस-सा उमड़ा अपार मन ।

गहरे, धुँधले, धुले, सौँवले,

मेघों से मेरे भरे नयन ॥

—पंत

इसमें प्रस्तुत जीवन, मन और नयन के लिए क्रमशः पावस-श्रुत, मानसरोवर और मेघमाला के अप्रस्तुत चित्रों का विधान करके अप्रस्तुत के प्रभाव को ही प्रस्तुत के साथ बिठाया जाता है। जीवन और पावस में, मन और मानसरोवर में तथा नयन और मेघमाला में रूप-रंग की कोई समानता नहीं हो सकती। आर्द्रता, तरंगिता तथा सजलता क्रमशः तीनों प्रस्तुत-अप्रस्तुत युग्मों का समान प्रभाव है और इसी आधार पर उनका विधान किया गया है। प्रभाव-साम्य वाला अप्रस्तुत-विधान व्यंजना-प्रधान रहता है अर्थात् भाव की तीव्रता के लिए अप्रस्तुत के वाच्यार्थ को ही नहीं ग्रहण कर उसके व्यंग्यार्थ से काम लेना पड़ता है।

‘कहो कौन हो दमयंती-सी तुम तरु के नीचे सोई?’

हाय, तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि नल-सा निष्ठुर कोई ?

—पंत

इसमें प्रस्तुत ‘छाया’ का अप्रस्तुत ‘दमयंती’ से मिलान करने का अभिप्राय उसके रूप, गुण या धर्म का साम्य स्थिर करना नहीं है। दमयंती के प्रभाव-साम्य जीवन-व्यापार से जो व्यंजित होता है कि वह पति द्वारा परित्यक्ता, खिन्न-वदना, एकाकिनी कोई जीव है, वही व्यंग्य छाया में निरूपित है। दोनों में प्रभाव का ही साम्य हो सकता है।

आधुनिक कलाकारों ने प्रभाव-साम्य का एक जटिल रूप नवीन ढंग से प्रदर्शित करने की परिपाटी चलाई है। इसमें ज्ञानेंद्रियों के व्यापारजन्य परिणाम से उत्पन्न प्रभाव की समता के लिए प्रस्तुत-अप्रस्तुत का ऐसा रूप उपस्थित किया जाता है जिनमें कोई भी मूर्त या सूक्ष्म समता नहीं रहती। व्यंजना को बहुत व्यायाम करके प्रभाव की समता स्थिर करनी पड़ती है। ‘उसका मुख बाँसुरी के स्वर जैसा सुन्दर है’, इसमें ‘मुख’ प्रस्तुत और ‘बाँसुरी का स्वर’ अप्रस्तुत है। दोनों में न कोई सादृश्य है न साधर्म्य। मुख देखने से चक्षुरिन्द्रिय द्वारा आनन्द प्राप्त होता है, यही वर्य-विषय है। बाँसुरी के स्वर को सुनकर कर्णेंद्रिय द्वारा आनन्द प्राप्त होता है, यह अप्रस्तुत है। भिन्न ज्ञानेंद्रियों के व्यापार से हृदय में जो आनन्द होता है, उसके प्रभाव में साम्य है; इसलिए ‘मुख’ और ‘बाँसुरी का स्वर’ प्रस्तुत अप्रस्तुत रूप से वर्णित किया जाता है। इसे परिणाम-साम्य भी कहा जा सकता है।

तुम शैशव-स्मिति-सी सुकुमार

मर्म-रहित पर मधुर अपार

खिल पड़ती हो बिना विचार।

—पंत

सुकुमारता, स्पर्शेंद्रिय का विषय है। शैशव की स्मिति स्पष्ट नहीं हो सकती, किंतु कवि ने प्रस्तुत ‘तुम’ को धर्म—सुकुमारता—के लिए अप्रस्तुत ‘शैशव-स्मिति’ को लाकर प्रभाव-साम्य की बड़ी मार्मिक व्यंजना की है।

अधिकांश अलंकारों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के स्पष्ट कथन होते हैं। उपमा, उदाहरण, प्रतीप, रूपक, परिणाम, उल्लेख, स्मरण, संदेह, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत, निदर्शना, समासोक्ति प्रभृति अलंकारों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही स्पष्ट रहते हैं। आक्षेप, विभावना, विरोध, विशेषोक्ति, असंगति, विचित्र, मीलित, उन्मीलित, परिकर, परिकुरांकुर, व्याजस्तुति, पर्यायोक्ति आदि में केवल प्रस्तुत का ही चमत्कारपूर्ण कथन होता है। अप्रस्तुत प्रशंसा में केवल अप्रस्तुत का ही विधान होता है। उसमें प्रस्तुत व्यंग्य रहता है। कुछ ऐसे भी अलंकार हैं जिनमें प्रस्तुत-अप्रस्तुत का कोई स्पष्ट विधान नहीं रहता, केवल वर्णन के रूप में ही रमणीयता रहती है।

कुछ आलोचकों का विचार है कि अलंकार-सूची में स्मरण, भ्रम, संदेह, प्रहर्षण, विषादन, तिरस्कार प्रभृति को अलंकार नहीं मानना चाहिए, कारण वे हृदय की वृत्ति के हृदय की वृत्तियाँ मात्र हैं जिनसे भावोत्तेजन में कोई सहायता नहीं मिल सकती। किंतु हृदय की वृत्ति के स्वाभाविक व्यापार और अलंकार द्वारा उत्पन्न उत्पन्न भाव की तीव्रता में स्पष्ट अंतर है। सादृश्य-मूलक संदेह की चित्रकल्पना में चमत्कार होने से वह 'संदेह' वृत्ति न रहकर अलंकार हो जाता है।

‘कैधों रूप-रासि में सिंगार रस अंकुरित
संकुरित कैधों तम तड़ित जुन्दाई में ।
कहै पदमाकर किधौं ये काम मुनसी ने
नुकता दियो हैं हेम पट्टिका सुहाई में ॥
कैधों अरबिंद में मिलिंद सुत सोयो आज
राज रह्यो तिल कै कपोल की लुनाई में ।
कैधों पर्यो हं दु में कालिंदी जल बिंदु आन
गरक गुबिंद कैधों गोरी की गुराई में ॥’

इस छंद में प्रस्तुत—राधा की ठोढ़ी का श्याम बिंदु—के लिए अप्रस्तुतों का एक तौता-सा लगा दिया गया है। रूप की ढेरी में शृंगार-रस का अंकुरित होना, चौदनी में अंधकार का सिकुड़ जाना, सोने की पट्टी पर काम मुंशी द्वारा नुकता (बिंदा) दिया जाना, कमल में भौंरे के बच्चे का सोया रहना, चंद्रमा में यमुना-जल का छीटा पड़ना, राधा की गुराई में कृष्ण का झूवा-सा रहना इत्यादि जितने अप्रस्तुत चित्र हैं उनसे हृदय की संदेह-वृत्ति के प्रकाश में सादृश्य-विधान द्वारा प्रस्तुत के प्रति भाव को सतेज कर अलंकारता उपस्थित की गयी है। जहाँ सादृश्य-विधान द्वारा प्रस्तुत-अप्रस्तुत के विनियोग से भावोत्कर्षता नहीं लाकर केवल संदेह-वृत्ति की उद्भावना की जाती है, वहाँ अलंकार नहीं माना जाना चाहिए।

‘मोहन सौं मन मेरे लग्यो कि लग्यो मन सो मन मोहन करो’ में कोई सादृश्य-मूलक भाव नहीं रहने के कारण केवल संदेह-वृत्ति सूचित होती है।

‘स्मरण’ और ‘भ्रम’ अलंकारों में भी केवल स्मृति या भ्रांति वृत्ति का ही जहाँ विधान है, वहाँ वे अलंकार नहीं हैं; किंतु इन वृत्तियों की व्यंजना में जहाँ सादृश्य-मूलक रूप, गुण या व्यापार का उत्कर्ष उद्भासित होता है वहाँ प्रस्तुत-अप्रस्तुत के प्रसंग से ये अलंकार हो जाते हैं। वृत्ति-मूलक ‘स्मरण’ और अलंकार-मूलक ‘स्मरण’ में यह अंतर है कि वृत्ति-मूलक स्मरण किसी वस्तु को देखकर या सोचकर होता है जिसमें सादृश्य-मूलक कोई व्यंग्य नहीं रहता। किसी के बाल्य काल में व्यवहृत किसी वस्तु को देखकर उसके बाल्य काल का रूप स्मृतिपट पर आ जाता है। परदेश गये हुए व्यक्ति का सामान देखकर उसका रूप याद हो आता है। यह हृदय की वृत्ति-मात्र है। किंतु सादृश्य वस्तु को देखने से प्रत्यभिज्ञा द्वारा जो प्रस्तुत-अप्रस्तुत का विधान किया जाता है वहाँ ‘स्मरण’ अलंकाररूप हो जाता है। ऐसे सादृश्य-विधान में कभी-कभी विपरीत वस्तु की योजना भी की जाती है।

सधन कुंज ल्हाया सुखद, सीतल मंद समीर।

मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर॥

—विहारी

इसमें यमुना किनारे के वर्तमान कुंजादि को देखकर सादृश्य व्यंजना द्वारा उस कुंजादि-पूरित तट का स्मरण होना सूचित किया जाता है जिसमें क्रीड़ा-कौतुक द्वारा पहले आनंद प्राप्त किया गया था। अतीत के क्रीड़ा-कुंजों का सुख प्रस्तुत है जिसके प्रति भाव में स्मरण-मूलक वर्तमान कुंजादि के सादृश्य-विधान से उत्कर्ष प्रतीत होने लगता है। यह स्मरण अलंकार है, किंतु यों ही ‘मुझे नित्य घर की याद आती है’ कहना केवल स्मरण-वृत्ति को सूचित करता है।

‘भ्रम’ में भ्रांति-मात्र को अलंकार मानने से सुधबुधहीन व्यक्तियों का प्रलाप भी अलंकार हो जायगा। अलंकार होने के लिए ‘भ्रम’ में भी सादृश्य व्यंग्य अपेक्षित है। इसमें सादृश्य प्रभाव से एक वस्तु का रूप-गुण भ्रम-पूर्वक दूसरे में आरोपित कर दिया जाता है। प्रस्तुत-अप्रस्तुत की योजना इसमें भी अपेक्षित है। जहाँ प्रस्तुत में सादृश्य-मूलक भ्रम नहीं होकर केवल मस्तिष्क का विकार या हृदय की भ्रांति सूचित होती है, वहाँ वह अलंकार नहीं हो सकता।

‘समभकर किंशुक कली, होकर भ्रमित—

मुग्ध मधुकर गिर रहे शुक्र-तुंड पर।

हे झपटता पकड़ने शुक्र भी भ्रमित

जम्बु फल वह समभ उस अलि-भुंड पर॥’

यहाँ तोते की चोंच को (सादृश्य के कारण) ढाक का पुष्प समभकर भौरों का उस पर गिरना और उसी सादृश्य के कारण सुग्गे का भौरों को जामुन समभ कर उन्हें पकड़ने का प्रयत्न करना, कहने से अनुरागजन्य भाव में उत्कर्ष-व्यंजित होता है। यह ‘भ्रम’ अलंकार है। किंतु ‘उसने भ्रमवश रस्सी को साँप समभ लिया’, इसमें केवल भ्रम-वृत्ति की उद्भाषना होती है।

प्रस्तुत-अप्रस्तुत की योजना में कहीं दोनों स्थूल या मूर्त रहते हैं और कहीं दोनों सूक्ष्म या अमूर्त। कहीं-कहीं प्रस्तुत स्थूल रहता है तो अप्रस्तुत सूक्ष्म और प्रस्तुत सूक्ष्म रहता है तो अप्रस्तुत स्थूल। कविता की आधुनिक प्रवृत्तियों में सूक्ष्म या अमूर्त-विधान अधिकता से परिलक्षित होता है।

प्रस्तुत और अप्रस्तुत में सादृश्य या साधर्म्य रहना ही यथेष्ट नहीं है। उसके लिए देखना होगा कि उनमें प्रभाव की क्षमता है या नहीं। यदि अप्रस्तुत योजना केवल सादृश्य की रक्षा करने में ही लगी रही और भाव के ऊपर प्रभाव डालने में असमर्थ रही तो अलंकार का उद्देश्य नष्ट हो जायगा। 'विल्ली की आँख बाघ की आँख जैसी है', इसमें सादृश्य-विधान की रक्षा होते हुए भी प्रभावोत्पादकता नहीं लाई जा सकती है। अलंकार का ऐसा रूप बांछनीय नहीं है। अप्रस्तुत-योजना का उद्देश्य रस को अस्वादनीय बनाने में सहायता पहुँचाना है। रस में व्याघात या शिथिलता उत्पन्न करनेवाली अप्रस्तुत योजना दूषित है।

अप्रस्तुत-विधान की प्रभावोत्पादकता के लिए उसको जीवन के संपर्क से बहुत दूर नहीं रखना चाहिए। जिस वस्तु से हमारा परिचय नहीं रहेगा, अथवा जिसका प्रभाव हमारे जीवन पर प्रत्यक्ष नहीं पड़ेगा, वैसा अप्रस्तुत चित्र भाव को तीव्र करने में समर्थ नहीं हो सकेगा। यही कारण है कि विभिन्न देशों में वहाँ की सांस्कृतिक और सामाजिक धारणा के अनुसार औपम्य और प्रतीकत्व में भिन्नता रहती है। किसी के उल्लास-युक्त गान के भावोत्कर्ष के लिए भारत में कोयल का कुहुकना कहा जायगा, तो फारस में बुलबुल का चहकना। हमारे सांस्कृतिक जीवन से जितना संबंध कोयल को है, उतना बुलबुल को नहीं।

अप्रस्तुत-योजना का एक रूप वस्तु या भाव के विस्तृत चित्र-विधान द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। अप्रस्तुत के ऐसे चित्रण में उसके साथ कई आनुषंगिक विधायक वस्तु या भाव के व्यापारों का उल्लेख करके उसे प्रभावोत्पादक बनाया जाता है। इसमें विस्तृत चित्र-विधान अप्रस्तुत के गुणोत्कर्ष के लिए वाक्यों का इस भाँति लंबा विस्तार किया जाता है कि उसका स्पष्ट चित्र-सा सम्मुख खिंच जाता है। योजना 'मेघनाद-बध' में राम द्वारा मेघनाद की मृत्यु पर रावण के विलाप का ऐसा ही अप्रस्तुत चित्र उपस्थित किया गया है—

रक्षोराज रावण ने करके आक्षेप यो
शोक से विलाप किया; हाय ! इस्तिनापुर में ज्यों
सुनकर दिव्य दृष्टि-संजय के मुख से
अंधराज, भीम भुज भीम के प्रहरां से
पुत्रों का प्राणाश, कुरुक्षेत्र-काल-रण में
रोये थे विलाप कर बार-बार शोक से ।^१

अलंकार में वस्तुविधान और भावविधान

काव्य में वस्तु का बोध हमें भाव-रूप में ही होता है। कोई वस्तु अपने द्रव्यात्मक रूप से काव्य का विषय नहीं हो सकती। इसके लिए तो उसकी भावात्मक सत्ता ही अपेक्षित है। 'हिमालय' काव्य की वस्तु होने के समय भाव-रूप से ही हृदय वस्तुविधान-भाव- में प्रविष्ट होता है। भाव का यह रूप स्थूल वस्तुजन्य है। किंतु विधान कुछ भाव ऐसे होते हैं जिनका आधार वस्तु या द्रव्य नहीं, बल्कि गुण या धर्म रहता है। दयालुता, क्रोध, सहिष्णुता, वीरता, उदारता, सौंदर्य प्रभृति किसी व्यक्ति या वस्तु के गुण या धर्म हैं। ये सूक्ष्म हैं, इसलिए इनके आधार पर स्थित भाव भी सूक्ष्म वस्तुजन्य होते हैं। अलंकार में वस्तु-विधान और भाव-विधान से अभिप्राय वस्तु के इतिवृत्तात्मक वर्णन और गुण या धर्म की भाव-योजना से है। जहाँ स्थूल वस्तु का वर्णन किया जाता है, वहाँ वस्तु-विधान और जहाँ सूक्ष्म गुण या धर्म का कथन किया जाता है वहाँ भाव-विधान समझना चाहिए। इसी का दूसरा नाम मूर्त्त-विधान और सूक्ष्म-विधान है। वस्तु-विधान में सादृश्य की प्रधानता रहती है इसलिए अप्रस्तुत-योजना में बिंब प्रहरण कराना होता है और भाव-विधान में साधर्म्य प्रधान होता है इसलिए भाव की तीव्रता ही अभीष्ट होती है। मुख का कमल के साथ सादृश्य स्थिर करने में हम वस्तु-विधान द्वारा अप्रस्तुत की योजना करते हैं, किंतु किसी बालिका को सरल शैशव अप्रस्तुत योजना के की स्मिति के समान कहने में भाव-विधान द्वारा अप्रस्तुत की योजना की चार प्रकार जाती है। इस तरह वस्तु का वस्तु द्वारा, भाव का भाव द्वारा, भाव का वस्तु द्वारा और वस्तु का भाव द्वारा इन चार प्रकारों से अप्रस्तुत योजना की जा सकती है।

वस्तु वस्तु-विधान—

सहज सेत पचतोरिया, पहिरे अति छवि होति ।

जल चादर के दीप लौं, जगमगाति तन-जोति ॥

—बिहारी

इसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही वस्तु-रूप में हैं। बारीक रेशमी साड़ी पहने हुए नायिका प्रस्तुत है जिसके शरीर की कांति को भावगत करके उसे रस-व्यंजक बनाने के लिए जल-चादर के अंदर रखे हुए दीपक की ज्योति का अप्रस्तुत चित्र उपस्थित किया गया है। जल-चादर फव्वारे से निकले हुए जल को कहते हैं जो चादर की तरह होकर चारों ओर गिरते रहता है। जल ऊपर उठकर चारों ओर टँकते हुए इस भाँति गिरता है कि उसके भीतर चिराग रख देने से वह बूझता नहीं, और उसकी झिलमिला-हट फव्वारे के जल के भीतर बड़ी सुंदर मालूम होती है। जल-चादर के अंदर दीपक का अप्रस्तुत वस्तु-विधान करके नायिका के शरीर की कांति के प्रति भाव में बड़ी तीव्रता ला दी गई है। वस्तु-विधान द्वारा जहाँ प्रस्तुत के प्रति भावोत्कर्ष में सहायता नहीं पहुँचाई जाती, वहाँ अलंकार को संपूर्ण सामग्री रहते हुए भी उसका विनियोग व्यर्थ हो जाता है।

कहो तो आज कह दें, आपकी आँखों को क्या समझे ।

सिता सिद्ध मृगमद युक्त अद्भुत कुछ दवा समझे ॥

—दीन

इसमें सादृश्य-योजना द्वारा यदि कवि का उद्देश्य आँखों की सुंदरता के भाव को तीव्र करना है, तो सिता, सिंदूर और मृगमद से मिली हुई दवा का अप्रस्तुत विधान करके वह अलंकार-योजना में सफल नहीं हो सका। दवा के निर्माण में रासायनिक प्रक्रिया द्वारा वस्तुओं का ऐसा मिश्रण कर दिया जाता है कि उनके भिन्न अस्तित्व का पता नहीं लगता। आँखों की सुंदरता में श्वेत, श्याम और लाल तीनों भागों का भिन्न अस्तित्व अपेक्षित है। तीनों के मिल जाने से आँखों में कोई सुंदरता ही नहीं रहेगी। यदि सिता, सिंदूर और मृगमद के प्रभावजन्य गुणों का आरोप करना अभीष्ट हो तो सादृश्य द्वारा बिंब प्रहण का निर्वाह नहीं होता है। इस संबंध में इससे कहीं अच्छा रसलीन का एक दोहा है:—

अमिय हलाहल मद भरे, श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत मुकि-मुकि परत, जिहि चितवत इक बार।

आँखों के तीन रंगों में अमिय, हलाहल और मद तीन आरोपित गुणों के अनुरूप उनका प्रभाव स्थिर करने में यथाक्रम की सुंदर योजना हुई है।

भाव-भाव-विधान—

जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत, दोनों भाव-रूप में अर्थात् सूक्ष्म रहते हैं, वहाँ प्रस्तुत सूक्ष्म के प्रति अप्रस्तुत का चित्र भी सूक्ष्म ही उपस्थित किया जाता है। ऐसी योजना में सादृश्य द्वारा बिंब प्रहण नहीं कराया जाता, बल्कि साधर्म्य द्वारा प्रभाव की क्षमता निरूपित की जाती है।

किसी हृदय का यह विषाद है
छेड़ो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ,
करुणा का यह थका चरण है॥

—प्रसाद

इसमें प्रस्तुत—हृदय का विषाद—सूक्ष्म भावरूप है। उसके साथ अप्रस्तुत—सुख का कण और करुणा का थका चरण—का साधर्म्य निरूपित कर प्रभाव की ऐसी क्षमता स्थिर की गई है कि प्रस्तुत अत्यंत चमत्कृत हो गया है।

भाव-वस्तु-विधान—

प्रीति न अरुण साँझ के घन, सखि !
पल भर चमक बिखर जाते जो
मना कनक - गोधूलि - लगन, सखि !
प्रीति नील गंभीर गगन, सखि !
चूम रहा जो विनत धरणि को
निज सुख में नित मूक-मगन, सखि !

—दिनकर

इसमें प्रस्तुत—प्रीति—सूक्ष्म भावरूप है। उसके प्रति साधर्म्य योजना द्वारा भाव को चमत्कृत कर सरसता की ओर ले जाने के लिए पहले पद में संध्या के अरुण-घन

—जो सुनहली गोधूलि-लगन को मना लेने के बाद विनष्ट हो जाता है—का निषेधात्मक, तथा दूसरे पद में गंभीर नीलाकाश—जो अपने सुख में मग्न होकर चुपचाप नम्रतापूर्वक पृथ्वी को घूम रहा है—का विधानात्मक प्रभाव उपस्थित कर जो अप्रस्तुत चित्र उपस्थित किए गए हैं, वे वस्तु-मूलक हैं। घन और आकाश, दोनों बाह्य इंद्रियों के स्थूल विषय हैं, इसलिए वस्तु रूप हैं, और प्रीति अंतःकरण की वृत्ति होने के कारण सूक्ष्म हैं, इसलिए भाव-स्वरूप हैं। इस भाँति यह भाव-वस्तु-विधान का रूप है।

वस्तु-भाव-विधान—

वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा-सी
वह दीप-शिखा-सी शांत, भाव में लीन,
वह क्रूर काल तांडव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन,
दलित भारत की ही विधवा है।

—निराला

इसमें कवि के सम्मुख विधवा, जो वस्तु-रूप है, प्रस्तुत है। उसके लिए इन पंक्तियों में अप्रस्तुत योजना द्वारा जो औपम्य स्थिर किया गया है, उसमें वस्तु-मूलक और भाव-मूलक दोनों ही चित्र हैं। 'इष्टदेव के मंदिर की पूजा-सी' और 'क्रूर-काल-तांडव की स्मृति-रेखा-सी' दो-दो भाव-मूलक सूक्ष्म चित्र और 'दीप-शिखा-सी शांत' तथा 'टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन' दो वस्तु-मूलक स्थूल चित्र उपस्थित कर साधर्म्य और सादृश्य की बड़ी सुंदर व्यंजना की गई है।

वस्तु-विधान और भाव-विधान का आधार प्रस्तुत और अप्रस्तुत का क्रमशः सादृश्य और साधर्म्य है। बिंब ग्रहण में सादृश्य पर और प्रभाव-निरूपण में साधर्म्य पर ध्यान दिया जाता है। बिंब-प्रतिबिंब तथा वस्तु-प्रति-वस्तु धर्म की समानता में यह कभी संभव नहीं है कि प्रस्तुत-अप्रस्तुत के रूप-गुण में संपूर्ण एकरूपता हो। मुख अलंकार में भाव और चंद्रमा के रूप में कोई सादृश्य नहीं है। फिर भी, बिंब-प्रतिबिंब का चमत्कार भाव से मुख को चंद्रमा के सदृश माना जाता है। अलंकार में भाव का चमत्कार ही अपेक्षित है, इसलिए वस्तु या भाव-विधान में बाह्यरूपता पर ध्यान नहीं दिया जाता है। हृदय की अनुभूति द्वारा जब वस्तु के बाह्यरूप का अध्यवसान हो जाता है तब प्रस्तुत-अप्रस्तुत की भिन्नता नहीं रहती और भावों के विकास का द्वार उन्मुक्त हो जाता है।

अलंकार की व्यापकता का संबंध

ध्वनि से—

अलंकार केवल वाच्यार्थ में ही हो सकता है, किंतु ध्वनि में सर्वदा व्यंग्यार्थ प्रधान रहता है। वाच्यार्थ शब्दों द्वारा साक्षात् संकेत किए हुए अर्थ को कहते हैं। उसमें जाति, गुण, क्रिया या यदृच्छा द्वारा शब्दों के प्रतीकत्व का प्रत्यक्ष बोध कराया जाता है। व्यंग्यार्थ कहने-सुनने की वस्तु नहीं है। यह तो शब्द

और अर्थ दोनों को गौण बनाकर किसी विशेष संकेत को चमत्कारपूर्ण ढंग से व्यंजित करता है। अलंकार में शब्द और अर्थ, दोनों प्रधान रहकर ध्वनि में अलंकार अपना-अपना व्यापार करते हैं, किंतु ध्वनि में शब्द और अर्थ अप्रधान संभव नहीं होकर व्यंग्य-व्यंजक भाव से प्रत्युक्त होते हैं। जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों रहते हैं, वहाँ यदि वाच्यार्थ की प्रधानता हो तभी अलंकार नियोजित हो सकता है, नहीं तो व्यंग्यार्थ प्रधान होने पर वह अलंकार-क्षेत्र से बाहर जाकर केवल ध्वनिमात्र रह जायगा।

सहों कुबत जग कुटिलता, तजौ न दीन दयाल ।

दुखी होहुगे सरल चित, बसत त्रिभंगी लाल ॥

—बिहारी

इसका वाच्यार्थ है 'संसार की निंदा सहते हुए, जान बूझकर मैं अपनी कुटिलता को नहीं छोड़ रहा हूँ, कारण तुम (कृष्ण के प्रति) त्रिभंगी लाल (तीन तरफ से टेढ़ा, मुरली बजाने के रूप से अभिप्राय है) हो, सीधे चित्त में बसने में तुमको कष्ट होगा।' काव्यलिंग अलंकार का एक सुंदर दृष्टांत है। जहाँ किसी पद अथवा वाक्य का अर्थ दूसरों का कारण प्रतीत होता हो, वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है। इसमें वाच्यार्थ के कारण अपने चित्त को कुटिल (टेढ़ा) बनाये रखने के कारण कृष्ण के बसने ही अलंकार योग्य स्थान का निरूपण करने में वाच्यार्थ द्वारा विलक्षण चमत्कार प्रकट होता है। यही अलंकार की विशेषता है। व्यंग्य-व्यंजक भाव से इसका संकेत कि 'मैं कुटिल हूँ, तुम मेरे ऊपर कृपा करो' ध्वनिरूप है। इसमें अलंकारता नहीं हो सकती। ध्वनि गूढ़ रूप से केवल प्रतीति का विषय है। दोहे में वाच्यार्थ ही प्रधान है, इसलिए अलंकार है। किंतु, किसी कथन में अलंकार का रूप रहते हुए भी ध्वनि यदि प्रधान हो जाय, तो वहाँ अलंकार नहीं होकर ध्वनि का ही विनियोग समझना चाहिए।

मन्द विद्युत-सा हँसकर

वज्र-सा उर में धँसकर

गरज गगन के गान,

गरज गंभीर स्वरों में ।

—पंत

इसमें अलंकार के रूप का निर्वाह कराते हुए भी हृदय के अनुताप को व्यंग्य-व्यंजक भाव से व्यक्त किया गया है। 'गगन के गान' का वाच्यार्थ हो नहीं सकता है, इसका बोध तो लक्ष्यार्थ से ही 'शून्य स्थान का हाहाकार' के अर्थ में होता है। उच्छ्वास की व्यंजना इसमें प्रधान है इसलिए इसको ध्वनि-रूप में ग्रहण करना चाहिए।

रस से—

अलंकार काव्य की शोभनीयता के बाह्य उपकरण हैं, किंतु रस काव्य का जीवनस्वरूप है। काव्य में वर्णित विभावादि का संवेग इतना अल्पकालिक होता है कि भाव को जाग्रत कर देने के क्रम में उसकी प्रतीति का पता भी नहीं चलता है। भाव की परिणति—रस या आनंदानुभव—प्रबल और दीर्घकालिक होकर हृदय को परिप्लुत कर

कर देती है। अलंकार ऐसा ही रस को आस्वादीय बनाने में सहायता करता है।
अलंकार और रस का संयोग नित्य और आवश्यक नहीं है। बिना
अलंकार रस-व्यंजना अलंकार के भी रस रहता है, किंतु जहाँ अलंकार का प्रयोग
में सहायक; प्रधान उपयुक्त रूप से होता है, वहाँ वह रस की व्यंजना में सहायक हो जाता है।
नहीं अलंकार रस का अंगभूत होकर ही उसका उपकार कर सकता है।
जहाँ अलंकार का आरोप रस-व्यंजना के ऊपर प्रधान बनाकर बेढंगे रूप से किया जाता है,
वहाँ काव्य-शरीर की शोभनीयता नष्ट हो जाती है। विरह-दशा में किसी के मनस्ताप
की व्यंजना के लिए अलंकार द्वारा जहाँ कहा जाता है—

प्यारी को परस पौन गयो मानसर पहुँ
लागत ही और गति भई मानसर की।
जलचर जरै औ, सेवार जरि छार भयो
जल जरि गयो पंक सूख्यो भूमि दरकी।

—गंग

वहाँ रस की व्यंजना अलंकार की चकाचौंध में पड़कर ऐसी दब जाती है कि उसका पता ही नहीं चलता। ऐसा वर्णन रस-व्यंजक नहीं होकर विस्मयजनक ही होता है। आज तक किसी ज्वालामुखी के भीषण विस्फोट में भी शायद ही ऐसी भयंकरता देखी गयी हो कि उसके स्पर्श में हवा गर्म होकर मानसरोवर के जीव-जंतुओं को जला दे, सेवार को झार बना दे, जल को जलाकर नीचे जमीन में दरार निकाल दे। ऐसे प्रसंग में अलंकार रस की सहायता नहीं कर उसकी व्यंजना में विघात ही करता है। रस की व्यंजना में सहायक होने के लिए अलंकार-विधान को हृदय की विश्वास-वृत्ति और जीवन के सामान्य अनुभव पर आघात नहीं करना चाहिए।

लगत अषाढ़ कहत हो, चलन किशोर।
घन घुमड़े चहुँ ओरन, नाचत मोर॥

—रहीम

इस छंद में वर्णित नायिका का पति विदेश जाने को तैयार हुआ है जिससे विरह की भावी आशंका से वह भयभीत है। किंतु, पति के विदेशगमन की बात से उसके शरीर में प्रकृति-विपरीत ज्वाला या विरहाग्नि का असंभव व्यापार पर्यायोक्ति द्वारा नहीं वर्णित होता है, बल्कि पर्यायोक्ति अलंकार के रूप में उससे केवल अलंकारत्व इतना कहलाया जाता है कि अषाढ़ के शुरू होते ही तुम बाहर जाना चाहते हो, अच्छी बात है; लेकिन देखते नहीं, चारों ओर घटाएँ गरजने लगी और मोर नाचने लगे अर्थात् घटाओं के घिर आने के कारण तुम बाहर जाने की बात कैसे सोच सकते हो? इसकी 'व्यंजना' में कि तुम्हारा बाहर जाना वर्षारंभ में मैं पसंद नहीं करती हूँ, उपयुक्त अलंकार द्वारा बड़ी सहायता मिलती है। रस में अलंकार का यही उपयोग है।

मानव-शरीर में सुकुमारता, तेज-शौर्य, प्रसादन प्रभृति स्वाभाविक गुणों के अवलोकन से जिस प्रकार शरीरगत रस या आत्मा की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार विशिष्ट पद-

योजनागत काव्य-शरीर में सज्जिविष्ट जो माधुर्य, तेज या विकास-विधायक गुण है वही काव्य की आत्मा या रस का धर्म है। इनको छोड़ देने से रस की प्रतीति हो नहीं सकती है। उष्णता यदि नहीं रहे, आग के गुण का बोध हो नहीं सकता है। उसी प्रकार माधुर्यादि गुण को छोड़ देने से रस का आस्वादन संभव नहीं है। हृदय की वृत्ति के साथ उक्त रस-संयोग से वृत्ति के अनुरूप रस भिन्न रूपों में भासित होने लगता है। प्रतीति की इसी भिन्नता को रस का धर्म कहा जाता है।

गुण से—

गुण रस का धर्म माना गया है। रस आत्मस्वरूप है और आत्मा निर्गुण है, इसलिए रस का कोई विशेष गुण निरूपित नहीं किया जा सकता। किंतु आत्मा की अवस्थिति शरीर में मानने से शरीर द्वारा उसके गुणों की अभिव्यक्ति को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

रस के आस्वादन के समय चित्त की वृत्तियों का आत्मा के साथ संयोग गुण का विश्लेषण होता है। इस संयोग के समय रस का कार्य शरीर द्वारा प्रकट होता है।

रस के इस व्यापार में चित्त की भिन्न दशाएँ हो जाती हैं। कभी वह पिघल जाता, कभी उसमें उबाल आ जाता और कभी उसका विस्तार होने लगता है। चित्त-वृत्तियों की इस भाँति भिन्नरूपता को रस का कार्य माना जाता है; अतः रस में गुण या उसका धर्म कहा जाता है।

काव्य के लिए इतना सूक्ष्म विवेचन की आवश्यकता नहीं है। यह तो प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है कि शरीर में लावण्य, काठिन्य और विकास उसके नित्य धर्म-जैसे रहते हैं।

इनकी अभिव्यक्ति सुकुमारता या माधुर्य, दीप्ति या शौर्य तथा सौंदर्य या प्रसन्नता गुण और अलंकार के रूप में हमें स्पष्ट दिखाई पड़ती है। बाहर से ये गुण शरीर में निरूपित नहीं किये जा सकते हैं। काव्य का शरीर उसके शब्द हैं। उन शब्दों में काव्य की माधुर्य, दीप्ति या प्रसरण-वृत्ति अंतर्हित रहती है। रचना के समय इन्हीं वृत्तियों को आयोजित कर काव्य को प्राणमय किया जाता है। ये ही काव्य में काव्यत्व लाने वाले गुण कहे जाते हैं। अलंकार जिस प्रकार शरीर की शोभनीयता की अभिवृद्धि करता है, काव्य में भी उसका प्रयोग उसी अर्थ में होता है। दूसरे शब्दों में, काव्यात्मा की आंतरिक शोभनीयता को गुण और बाह्य शोभनीयता को अलंकार कहते हैं। गुण प्रधान है, अलंकार गौण। आंतरिक शोभा से विहीन शरीर पर अलंकारों का प्रयोग, कहीं-कहीं सुंदर भले ही लगने लगे, किंतु वे उसकी उत्कृष्टता को पूर्ण नहीं कर सकते।

गुण और अलंकार दोनों काव्य के उत्कर्षक हैं। गुण रस का नित्य सहचर है। उसके बिना काव्य निष्प्राण हो जाता है। किंतु अलंकार का रस के साथ नित्य-संगित्व आवश्यक नहीं है। गुण का निर्वाह नहीं हो सकने के कारण कहीं-कहीं गुण और अलंकार अलंकार रस-प्रतीति में बाधास्वरूप हो जाता है। शृंगार की अभिव्यक्ति की संगति में माधुर्य गुण ही रहना चाहिए जिसके लिए श्रुतिमधुर और सुकुमार पद-योजना आवश्यक है।

देखत कलु कौतुक इतै देखौ नेक निहारि ।

कबकी इक टक डटि रही टटिया अंगुरिन डारि ॥

—बिहारी

इसमें आश्रित की अनुरागात्मक चेष्टा के वर्णन में श्रुतिकटु और कठोर वर्णों द्वारा जो काव्य-विधान किया गया है, वह हृदय की सुकुमार वृत्ति पर आघात कर यथार्थ रस की प्रतीति में बाधा ही पहुँचाता है। अलंकार का आरोप करके भी गुण की अनुरूपता के अभाव में रस स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं होता है।

कवि पजनेस केलि मधुप निकेतन के
 दर मुख दिव्य धरि घटिका लटी-सी है ।
 विधु पर वेश चक्रचक्र रवि रथ चक्र
 गोमती के चक्र चक्रताकृत घटी की है ॥
 नीबी तट त्रिबली वली पै दुति कोस तुंड
 कुंडली कलित लोभ लतिका घटी की है ।
 उपटी की टीकी प्रभा टीकी वधूटी की, नाभि—
 टीकी धुर्जटी की कुटी की संपुटी की है ॥

इस पद्य में 'भृंगार' की व्यंजना के लिए टकारात्मक कठोर शब्दों की योजना द्वारा गुण विपरीत रचना से अलंकार का प्रयोग व्यर्थ ही नहीं, बल्कि बोझिल-सा हो गया है।

गुण और अलंकार को काव्य में इस भाँति रहना चाहिए कि एक के स्वाभाविक सौंदर्य में दूसरे का आरोपित सौंदर्य काव्य की आत्मा को द्विगुण सुशोभित करने लगे। जहाँ ऐसा नहीं हो, वहाँ यदि केवल गुण रहे तो शोभनीयता का निर्वाह हो सकेगा, अन्यथा अलंकार का कोई प्रयोजन ही नहीं रहेगा।

उक्ति-वैचित्र्य से—

अलंकार भावोत्कर्ष का बाह्य साधन है। इसके प्रयोग में उक्ति का चमत्कार तो रहता है, किंतु वह चमत्कार केवल उक्ति में सीमित नहीं रहकर काव्यगत भाव को प्रभावित करने का कार्य करता है। उक्ति की विचित्रता अपने आप में ही सिमटी रह सकती है। भावोत्कर्ष के लिए उसी का प्रयोग अलंकार कहलाने लगता है। उक्ति-वैचित्र्य और अलंकार अलंकार-विधान में चमत्कार स्वगत विषय को ही चमत्कृत करता है। उसके लिए अपने स्वरूप को छोड़ दूसरी कोई वस्तु नहीं है; किंतु अलंकार-विधान में चमत्कार का प्रयोग स्वाश्रित नहीं रहकर भाव के क्षेत्र में चला जाता है। उक्ति-वैचित्र्य को कल्पना का मनमाना खेल समझकर जो यों ही बे-सिर-पैर की बातें कह दिया करते हैं, वे उसका मर्म ही नहीं समझते। उक्ति-वैचित्र्य में अर्थ विलक्षण रूप से सज्जिविष्ट रहता है, अलंकार में अर्थ प्रत्यक्ष होता है। अलंकार का रूप नई पहचानकर भी उसके प्रत्यक्ष अर्थ-बोध से आनंद प्राप्त किया जा सकता है; किंतु उक्ति-वैचित्र्य में रूप ही प्रधान रहता है, अर्थ उसका गौण समझा जाता है। अर्थ-बोध के बिना अलंकार की रूप-योजना में उलझने से आनंद से अधिक परिभ्रांति ही मिलती है। किंतु, उक्ति-वैचित्र्य के रूप से ही आनंद प्राप्त होता है। उसको अर्थ-बोध की उतनी अपेक्षा नहीं रहती। अलंकार के साथ उक्ति-वैचित्र्य यदि अर्थ-बोध में सहायक हो तभी उसका

उपयोगिता माननी चाहिए। 'कौए' सवेरा होते ही क्यों चिल्लाने लगते हैं? वे समझते हैं कि 'सूर्य अंधकार का नाश करता बढ़ा आ रहा है, कहीं हमारा भी नाश न कर दे', यह एक सूक्ति या उक्ति-वैचित्र्य मात्र है। कारण, इससे हृदयगत किसी भाव का उत्कर्ष नहीं होता है, केवल कौओं के बोलने का एक चमत्कारिक हेतु दूढ़ निकाला गया है। कुछ लोग ऐसी उक्तियों में अनुमान या अन्य अलंकार निरूपित करते हैं, किंतु इस तरह प्रत्येक उक्ति में अलंकार के निरूपण से उसका कोई मूल्य ही नहीं रह सकता। जहाँ तथ्य केवल आरोपित या संभावित रहते हैं, वहाँ वे अलंकार-रूप में रहते हैं, पर जिन तथ्यों का आभास हमें पशु पक्षी के रूप, व्यापार या परिस्थिति में ही मिलता है, वे हमारे भावों के विषय हो सकते हैं, अलंकार के नहीं। गूढ़ोक्ति, समासोक्ति, विवृतोक्ति प्रभृति अलंकारों में उक्ति का प्रयोग केवल अपने चमत्कार के लिए नहीं, वरन् भाव की पुष्टि या परिवर्द्धन के लिए किया जाता है।

प्रकृत सत्य से--

सत्य स्वयं एक वस्तु-निरपेक्ष पदार्थ है जिसको देश, काल या पात्र का कोई आप्रह नहीं रहता। किंतु जीवन के संगठन में सत्य की प्रतिष्ठा उसकी निर-अलंकार के साथ पेक्षा को स्थिर नहीं रहने देती। जीवन से पृथक् रहकर हम सत्य रस-रूप-सत्य का के दर्शन ही नहीं कर सकते। जीवन के अनुष्ठान में सत्य का प्रयोग संबंध उसको सीमित नहीं, बल्कि विस्तृत तथा प्रत्यक्ष करता है। विज्ञान या दर्शन के क्षेत्र में सत्य निष्ठा का विषय है—वह शक्ति-रूप है, किंतु काव्य में सत्य भाव का विषय है। इसलिए वह रस-रूप है। अलंकार काव्य का अंग होने के कारण रस-रूप सत्य से संबंध रखता है।

कला के क्षेत्र में सत्य की प्रतिष्ठा कलाकार की आत्माभिव्यक्ति का रूप-दर्शन है। कलाकार अपने भावगत चित्र को जब दूसरे के सम्मुख उपस्थित करने लगता है तब उसकी यथानुरूपता की प्रतीति के लिए उसको इस भाँति सुसज्जित करता है कि अलंकार में अतिरिक्त शोभनीयता से उसमें प्रभाव की पूरी क्षमता आ जाय। इसी को कला की प्रेषणीयता कहते हैं। अलंकार द्वारा इस प्रेषणीयता क्षमता की रक्षा की जाती है। सत्य इस रूप में विकृत या खंडित नहीं होता, बल्कि वाणी या चित्र के रूप में वह प्रत्यक्ष होता है। उपा के मनोरम दृश्य में जिस सत्य का दर्शन होता है, उसको शब्द-रूप में प्रकट करने के लिए कलाकार यदि इतना ही कह दे कि 'प्रातःकाल का दृश्य बड़ा सुंदर था' तो जिस सत्य का दर्शन कलाकार के हृदय में हुआ था, उसकी प्रतिष्ठा अभिव्यक्ति में यथानुरूप नहीं हो सकी। ऐसे शब्द में केवल विचार या अनुभूति या सारमात्र है, अपनी प्रतीति का चित्र नहीं। उसके लिए प्रतीति के चित्र को अलंकृत करना होगा, ताकि प्रत्यक्ष दर्शन के अभाव, जो अन्य के हृदय में है, की पूर्ति उसी रूप में, जिस रूप में उसने अनुभव किया है, उस विशेष शोभनीयता से की जा सके। अतः इसके लिए कुछ-कुछ इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'अंतरिक्ष के आंगन में अपने कोमल करों से उषा अनुराग का भंडार लुटा रही थी'। यही अलंकार और सत्य का संबंध है। इसमें सत्य खंडित नहीं हुआ है,

बल्कि प्रत्यक्ष दर्शन के अभाव में अन्य के निकट वह सत्य प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त हुआ है। जिस रूप से जो सत्य भाव-रूप में हमारे हृदय में प्रकट हुआ है उसकी अनुभूति के लिए अन्य के हृदय में वैसा ही भाव उत्पन्न होना चाहिए। यह अलंकार की प्रेषणीयता द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। ऐसी प्रेषणीयता लाने में बड़े संयम की आवश्यकता है। अभिव्यक्ति के समय सत्य को यदि इस भाँति विकृत कर दिया जाय कि प्रेषणीयता के स्थान में विस्मय या असंभवता प्रतीत होने लगे तो अलंकार के साथ सत्य की रक्षा नहीं हो सकती। वहाँ अलंकार के चलते सत्य का अपलाप ही होगा।

इहि विधि अलि ! नित ही बढ़हिँ, तव उरोज सविकास ।

यह विचार नहिं कीन विधि, अलप कियो आकास ॥

अतिशयोक्ति अलंकार के इस प्रयोग में कि 'नायिका का उरोज इस भाँति बढ़-बढ़कर विस्तार पा रहा है कि आकाश में वह शायद ही समा सके, जिसके लिए विधाता को दोष दिया जाता है कि उन्होंने आकाश को छोटा बनाया', सत्य को जिस भाँति विकृत कर दिया गया है कि इसमें अलंकार किसी भाव की शोभनीयता का कारण न होकर बोझ-सा हो गया है। उरोज कभी आकाश से भी बड़ा हो सकता है, यह सत्य को कभी ग्राह्य नहीं हो सकता। किंतु, 'बढ़त उरोज न लखि परै, मसकत कंचुकि बंध' में यद्यपि उरोज की वृद्धि से कंचुकी का बंधन मसकने में सत्य की यथातथ्य रक्षा नहीं होती तथापि इससे सत्य की प्रतीति बहुत कुछ सुलभ हो जाती है।

सत्य की रक्षा के लिए अलंकार-योजना में कल्पना और अनुभूति का सामंजस्य अपेक्षित है। सत्य कल्पना द्वारा ही उद्भासित हो सकता है। अनुभूति के बिना कल्पना को वह शक्ति प्राप्त नहीं हो सकती, जिससे सत्य की उद्भावना के क्षेत्र अलंकार में कल्पना में आगे बढ़ने के लिए कोई प्रेरणा प्राप्त करे। 'कल्पना की दो तथा अनुभूति का श्रेणियाँ हैं। एक मनुष्य को सत्य की विभिन्न अवस्थाओं के दर्शन सामंजस्य कराती है, दूसरी सौंदर्य की अपरिमित क्षेत्र में विहार करने के लिए उसका आह्वान करती है।' 'अलंकार दोनों में ही प्रयुक्त होता है, किंतु पहली श्रेणी में वह केवल सत्य की चर्चा कर देता है, अर्थात् सत्य का रूप ठोस रखते हुए भी उसमें कोई कलात्मकता नहीं ला सकता, जब दूसरी श्रेणी में सत्य का रूप ठोस नहीं रहने पर भी उसकी अभिव्यक्ति के लिए सौंदर्य-सृष्टि के अधिक मूल्यवान् साधनों का उपयोग किया जाता है।

कोऊ कोटिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार ।

मो संपत्ति यदुपति सदा विपति विदारन हार ॥

—बिहारी

इस में हेतु अलंकार का आरोप करके प्रकृत सत्य की रक्षा अवश्य की गयी है। 'कोई चाहे करोड़ों की संपत्ति इकट्ठी करे, चाहे हजारों या लाखों की, मेरी संपत्ति तो यदुपति (कृष्ण)

हैं, जो सदा विपत्तियों को दूर करते हैं।' इस कथन में हृदय की अनुभूति का समावेश अवश्य हुआ है, पर कल्पना का कोई व्यापार इसके द्वारा सिद्ध नहीं होता है। केवल सत्य का निरूपण कला की दृष्टि से उत्तम नहीं होता है। कला का प्रयोग सत्य की अनुभूति में नहीं, बल्कि अनुभूति की प्रतीति कराने में है, जो कल्पना का आश्रय पाकर प्रेषणीयता प्राप्त करती है। काव्य का जीवन ऐसी ही प्रेषणीयता है। उपयुक्त दोहे में अलंकार का प्रयोग, सत्य की रक्षा करके भी, भाव की प्रेषणीयता उत्पन्न करने में असमर्थ है। इसके विपरीत—

पिय के ध्यान गही गही, रही वही हवै नारि।

आप आप ही आरसी लखि रीझत रिझवार॥

—बिहारी

इस दोहे में अभिव्यक्ति के चित्र का जो अलंकृत रूप सम्मुख लाया जाता है, उसमें अपने प्रियतम के ध्यान में लीन होकर नायिका नायक-स्वरूप हो जाती है। किसी के अत्यधिक चिन्तन से उसका तदनुरूप हो जाना साधना-पथ में मान्य है। प्रियतम का ध्यान करते-करते नायिका अपनी सुख-बुध खोकर प्रियतमस्वरूप हो गयी है। अपने को प्रियतम-रूप में समझकर जब वह दर्पण में अपना रूप देखने लगती है तब परिछाई में उसका (नायिकावाला) मुँह प्रकट होने पर उसको अपनी प्रियतमा समझ उस पर रीझ रही है। प्रकृत सत्य को नायिका की यह विदेह-वृत्ति आसानी से मान्य नहीं होगा। ध्यान में कोई ऐसा तल्लीन हो जाय कि अपने मुख को अपना नहीं समझकर दूसरे का समझ ले और उसपर रीझ जाय, यह सत्य की रक्षा नहीं करता, अपितु तल्लीनता का चमत्कार प्रदर्शित करता है। कल्पना के आश्रय से 'सामान्य' अलंकार द्वारा इसमें जो प्रभाव की क्षमता उत्पन्न की गई है, उसे अभिनन्दनीय माना जा सकता है।

लाक्षणिकता से—

काव्य-विधान में पदों के विकार, विपर्यय, विलोप या व्यतिरेक से आधुनिक रचनाओं में कई प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग होते हैं, जो अलंकार के समान ही कथन को चमत्कृत करने में समर्थ होते हैं। लाक्षणिक प्रयोग में अलंकार की रूप-योजना की रक्षा होते हुए भी उसकी अपनी विशेषताएँ रहती हैं। अलंकार वाच्यार्थ में ही होता है, किंतु लाक्षणिकता में वाच्यार्थ का प्रत्यक्ष बोध होने के बाद उससे संबंध स्थापित किया जाता है, इसलिए वाच्यार्थ तक पहुँचने में उसका जो क्रिया-पथ है, वह अलंकार से उसको स्वतंत्र रखता है। अलंकार-विधान में अप्रस्तुत-योजना के अंदर प्रस्तुत के प्रति भावोत्कर्ष का जो रहस्य छिपा हुआ है, उसका आधार वर्य वस्तु के अनुरूप उपमान के अतिरिक्त प्रतीक की स्थापना है। प्रतीक के लिए प्रयुक्त शब्द में ऐसी व्यंजना होती है कि उससे भावोन्मेष में बड़ी सहायता मिलती है। 'सुधा', 'कल्पवृक्ष', 'कामधेनु' प्रभृति के यथार्थ अस्तित्व का प्रमाण नहीं मिलने पर भी उनके द्वारा जो एक विशेष भाव या विचार की उत्पत्ति होती है, अर्थात् 'अमरता', 'इच्छापूर्ति' या 'मनोभिलाषपूर्णता' का आभास मिलता है, उससे भाव-जगत् में हमारे लिए उसका अस्तित्व मान्य है। काव्य-जगत् में प्रतीक के रूप में उनका व्यवहार होता आया है। प्रतीक का प्रयोग उपमान के ही रूप में होता आया है,

किंतु उपमान जहाँ वाच्यार्थ-प्रधान होता है वहाँ प्रतीक लक्ष्यार्थ-प्रधान । प्रतीक में उपमा के समान किसी प्रत्यक्ष साम्य की अपेक्षा नहीं रहती, बल्कि लाक्षणिक रूप से अप्रत्यक्ष प्रभाव-सादृश्य ही अपेक्षित है । 'नवनीत के समान कोमल' में नवनीत का वाच्यार्थ ही कोमलता का प्रत्यक्ष प्रतिपादक है, किंतु 'बचपन के समान शुद्ध' में बचपन के लाक्षणिक अर्थ को ग्रहण करने के अप्रत्यक्ष रूप से अलंकार का अभिप्राय सिद्ध हो सकता है ।

अप्रस्तुत में ही प्रस्तुत का संपूर्ण अध्यवसान कर केवल अप्रस्तुत का विधान काव्य-परंपरा में अति प्राचीन काल से चला आता है; किंतु आधुनिक कविता में इसका प्रयोग विशेषकर लाक्षणिकता के लिए रहता है ।

प्रथम, भय से मीन के लघु बाल जो
थे छिपे रहते गहन जल में, तरल
ऊर्मियों के साथ क्रीड़ा की उन्हें
लालसा अब है विकल करने लगी ।

—पंत

इस पद्य में किसी सुकुमारी के लिए, जो कवि का प्रस्तुत विषय है, केवल अप्रस्तुत का विधानकर प्रस्तुत का अध्यवसान ही नहीं किया गया है, बल्कि लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा आँखों को 'मीन के लघु बाल' बनाकर उनके व्यापारों द्वारा 'ऊर्मियों के साथ क्रीड़ा करने की लालसा का प्रदर्शन' कर अलंकार-पद्धति में विशेष सौष्ठव ला दिया गया है ।

लाक्षणिकता के क्षेत्र में 'किसी कथन को विशेष अर्थ-गर्भित करने के विचार से विशेषण का विपर्यय कर दिया जाता है । अभिधा-वृत्ति से विशेषण की जहाँ जगह है, वहाँ से हटाकर लक्षणा के सहारे उसे दूसरी जगह बैठा देने से वाक्य का विशेषण-विपर्यय सौष्ठव कभी-कभी बहुत बढ़ जाता है । भावाधिक्य की व्यंजना के लिए विशेषण-विपर्यय अलंकार का व्यवहार बहुत सुंदर है ।' अलंकार के रूप में ऐसा प्रयोग लाक्षणिकता-प्रधान हो जाता है । अलंकार का सरल निर्वाह वहाँ कठिन हो जाता है । 'अकेली आकुलता-सी प्राण' में कवि ने अकेली आकुलता सी का आलंकारिक प्रयोग कर अकेलेपन की आकुलता का भाव व्यक्त किया है ।

अलंकारों का वर्गीकरण और रूपभेद

अलंकारों के क्रमिक विकास को देखते हुए ऐसा जान पड़ता है कि ज्ञान-वृद्धि के साथ-साथ भावामिव्यक्ति के क्षेत्र में मानव-समाज बराबर नवीनता को अपनाते आया है ।

जहाँ आरंभ में केवल चार ही अलंकार थे, वहाँ विकास के क्रम में

अलंकारों का उनकी संख्या धीरे-धीरे तीस, अड़तीस, इकतालिस, अनठावन, सत्तर,
क्रमशः विकास अस्सी और अब तो लगभग सवा सौ तक हो गई है । विकास का यह
क्रम बंद नहीं हो गया है । लाक्षणिक प्रयोग की नयी-नयी रीतियों
द्वारा कितने ही ऐसे अलंकार निरूपित किये जा सकते हैं जिनका शास्त्रीय नियमन अब तक

नहीं हुआ है। यद्यपि लाक्षणिक और व्यंजक प्रयोगों ने भावाभिव्यक्ति के क्षेत्र में अलंकार का थोड़ा-सा स्थान ले लिया है, फिर भी अधिकांश प्रयोग प्राचीन अलंकार-पद्धति पर ही स्थिर किए जा सकते हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति प्रभृति अलंकारों को संपूर्ण रूप से छोड़कर हम उक्त लाक्षणिक प्रयोगों के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकते।

अलंकार केवल भावों के उन्मेष के लिए ही प्रयुक्त नहीं होता, बल्कि भाषा के रूप-सौंदर्य की वृद्धि के लिए भी उसका प्रयोग किया जाता है। भाषा की अभिधा शक्ति जहाँ मनुजकूल भावाभिव्यक्ति में असमर्थ-सी प्रतीत होती है, वहाँ अलंकार-अलंकारों के तीन विधान द्वारा भाषा को एक नवीन समर्थता दी जाती है। भाव और भेद के कारण भाषा दोनों के क्षेत्र में अलंकार का स्थान है। वह भाषा के क्षेत्र में शब्द को और भाव के क्षेत्र में अर्थ को अलंकृत करता है, इसलिए रूप के विचार से शब्दालंकार और अर्थालंकार नाम से इसके दो भेद हैं। जिस कथन या रचना में दोनों का समावेश रहे, उसको उभयालंकार कहा जाता है, यद्यपि अलंकार की रूप-योजना में इसका स्वतंत्र विधान नहीं है। शब्दालंकार में केवल भाषा के सौंदर्य के लिए शब्दों में चमत्कार उपस्थित किया जाता है, इसलिए इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। भाषा की सुंदरता भाव को प्रभावित करने के बाद ही अपनी विशेषता की रक्षा कर सकती है। शब्दों को सुनकर हम तभी आनंद प्राप्त कर सकते हैं जब अर्थ-बोध के द्वारा ज्ञान की वस्तु हो जायें। इसलिए शब्दालंकार की उपयोगिता भी अप्रत्यक्ष रूप से अर्थ की महत्ता को स्वीकृत करती है। किंतु अर्थालंकार के लिए भी भाषा की योग्यता तो चाहिए ही। भाषा के उपयुक्त और सुष्ठु प्रयोग के बिना भाव-प्रसार का पथ परिष्कृत नहीं हो सकता, इसलिए अर्थालंकार में भी शब्दों की उपयोगिता स्वीकार की गई है। इस भाँति भाषा और भाव दोनों का किसी-न-किसी भाँति शब्दालंकार और अर्थालंकार से संबंध है। जहाँ भाव को गौण रखकर केवल शब्दों के चमत्कार के लिए भाषा का प्रयोग होगा, वहाँ वह शब्दालंकार और जहाँ भावोत्कर्ष के लिए अर्थ के चमत्कारस्वरूप भाषा का प्रयोग होगा, वहाँ अर्थालंकार होगा।

शब्द या अर्थ में चमत्कार की भिन्नरूपता के कारण प्रत्येक अलंकार का स्वतंत्र अस्तित्व है। यद्यपि किसी निर्धारित तत्त्व के आधार पर उनका वर्गीकरण सहज नहीं है तथापि कुछ मूल तत्त्व ऐसे हैं जिनके आधार पर पृथक्-पृथक् अलंकार एक-एक वर्ग में रखे जा सकते हैं। अलंकारों के प्रयोग में नवीनता और अस्थिरता रहने के कारण उनकी संख्या भी निश्चित नहीं हो सकती है। प्राचीन आचार्यों ने सभी अलंकारों के नए-नए अलंकार निकाले और एक ने दूसरे के प्रयुक्त अलंकारों में मूल में वक्रोक्ति दोष-गुण उपस्थित कर न्यूनाधिकता दिखलाई, किंतु सर्वमान्यता का कोई स्थान निश्चित नहीं हो सका। अलंकारों के उद्भव, प्रयोग और प्रचलन तथा उनके औचित्य की आलोचना यहाँ प्रतिपाद्य नहीं है। प्रचलित अलंकारों में काट-छाँट करके नवीन शास्त्रीय प्रतिपादन प्रस्तुत करना होगा, इसलिए जितने अलंकार साधारणतः प्रयुक्त होते हैं (उनकी संख्या न्यूनाधिक एक सौ है), सबको मानकर ही उनपर विचार करना है। अलंकार के मूल में कथन की विशेषता रहने के कारण 'वक्रोक्ति' किसी-न-किसी

प्रकार सब अलंकारों में समाई रहती है। आचार्य भामह ने 'वक्रोक्ति' को ही संपूर्ण अलंकारों में व्याप्त और सबका मूल माना है।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनायथा विभाव्यते ।

यत्नोऽस्यां कविनाकार्यः कोलङ्कारोऽनया विना ॥^१

पीछे जाकर यही 'वक्रोक्ति' अतिशयोक्ति के रूप में प्रयुक्त होने लगी और उक्ति-वैचित्र्यमात्र को अतिशयोक्ति मानकर उसी को सारे अलंकारों का एकमात्र आश्रय माना गया। अर्थ-वैचित्र्य अथवा वक्रोक्ति वस्तुतः अतिशय-उक्ति ही है। ये दोनों पर्याय हैं। यद्यपि भामह ने इसको वक्रोक्ति संज्ञा दी है तथापि उन्होंने वक्रोक्ति का प्रयोग अतिशय-उक्ति के अर्थ में ही किया है। भामह की वक्रोक्ति और दंडी की अतिशयोक्ति का अर्थ है—

वक्रोक्ति और
अतिशयोक्ति
में भेद

किसी वक्तव्य का लोकोत्तर अतिशय से कहा जाना। किसी वक्तव्य को लोगों की साधारण बोलचाल से भिन्न शैली द्वारा अनूठे ढंग से—चमत्कारपूर्वक—वर्णन करने को ही अलंकार कहते हैं।^२ अलंकार-पद्धति में 'वक्रोक्ति' और 'अतिशयोक्ति' दोनों को स्वतंत्र रूप से अलंकार मान लेने के बाद इनकी एकार्थता का प्रश्न ही नहीं रहता है। अब ये दोनों भिन्न-भिन्न अलंकार के रूप में प्रयुक्त होते हैं। अलंकार की आश्रयिता का आरोप

इनपर होने से 'वक्रोक्ति' और 'अतिशयोक्ति' को दो भिन्न तत्त्वों के रूप में ग्रहण करना होगा। आधुनिक वक्तव्यों में वक्रोक्ति का प्रयोग लक्ष्यार्थ-प्रधान और अतिशयोक्ति का वाच्यार्थ-प्रधान होता है। वक्रोक्ति में ध्वनि और अर्थ का कुछ ऐसा भौकापन होता है कि अभिधा अपना व्यापार करने में समर्थ नहीं हो सकती। अतिशयोक्ति वाच्यार्थ के आधार पर ही वक्तव्यों में चमत्कार उपस्थित करती है। शुद्ध अलंकार की पहचान भी यही है। ऐसा होने पर भी ये दोनों एक दूसरे में इस प्रकार अंतर्हित हो सकते हैं कि इनके आधार पर अलंकारों का स्पष्ट विभाजन नहीं हो सकता। इनको इस रूप में भले हम अलंकारों का आधार मान सकते हैं कि अर्थ-चमत्कार के लिए जितने प्रयोग काम में लाए गए हैं, उनके मूल में 'अतिशय कथन' या 'वक्र कथन' ही है। अतिशय कथन का अर्थ केवल वर्णन को बढ़ा-चढ़ाकर ही उपस्थित करना नहीं, बल्कि किसी वस्तु के बोध के लिए तज्जन्य भाव के समान एक ऐसा अप्रस्तुत भाव-चित्र उपस्थित करना है जिसमें प्रस्तुत की अपेक्षा विशेष प्रेषणीयता हो अर्थात् जो प्रस्तुत के निकट अतिशय प्रभविष्णुता के साथ उपस्थित हो सके। वक्र कथन में प्रस्तुत-अप्रस्तुत के द्वैतचित्र का इस प्रकार कोई प्रश्न नहीं रहता, बल्कि एक ही प्रस्तुत वा अप्रस्तुत का विधान विवरणात्मक, शृंखलात्मक, सांकेतिक, व्यंग्यात्मक या लक्षणात्मक रूप से किया जाता है। वक्र कथन में लाक्षणिक चपलता का सहारा लिया जाना उसके सौंदर्य की अभिवृद्धि का कारण होता है। किंतु इसका प्रयोग जहाँ-कहीं भी देखकर उसको ही अलंकार मान लेने से बड़ी भ्रांति होती है। 'आप खूब आए!' इसका अर्थ 'आप नहीं

१ भामह—काव्यालंकार ।

२ कन्हैया लाल पोद्दार—काव्य-कल्पद्रुम, २ रा भग भूमिका—पृष्ठ ६६

आए' मानकर वक्रोक्ति का आरोप करके यदि इसे अलंकार मान लिया जाय, तो अलंकार का तात्पर्य ही नष्ट हो जाता है। अलंकार का अभिप्राय, जैसा आरंभ में लिखा गया है, भाव को उत्तेजित करना है। ऐसे भावोत्तेजन का स्थान अन्य हृदय रहता है। अपने हृदय के अनुरूप अन्य हृदय के भाव को जाग्रत और पुष्ट करने में अलंकार की सार्थकता है। उपर्युक्त कथन में केवल अपने हृदय का भाव व्यक्त किया जाता है, दूसरे के भाव को प्रभावित करने का प्रश्न नहीं है, इसलिए यह 'काकु' के क्षेत्र में व्यंग्य का एक रूपमात्र है। अतिशयोक्ति के प्रयोग में भी भावोत्कर्ष के इस रूप पर ध्यान रखना होगा; अन्यथा वह एक प्रलाप या असत्य कथन-सा ही रहेगा। इन दोनों के आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण समीचीन नहीं जँचता, यद्यपि सब अलंकारों में इनका समावेश किसी न किसी भाँति हो सकता है।

आचार्य रुद्रट ने चार ऐसे मूल तत्त्व निरूपित किये हैं जिनके आधार पर अधिकांश अलंकार वर्गीकृत हो सकते हैं। ये हैं—'वास्तव', 'औपम्य', 'अतिशय' और 'श्लेष'। किंतु इनके अंतर्गत जिन-जिन अलंकारों को रखा गया है, वे सब लक्षण के अनुसार वहाँ नहीं रह सकते और कई अलंकार, जिनका स्थान इनके अंदर स्थिर नहीं किया गया है, इनके अंतर्गत आ सकते हैं। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने 'काव्य-कल्प-द्रुम' में मुख्यक के वर्गीकरण को अधिक वैज्ञानिक माना है, पर उन्होंने भी जो सात वर्ग किए हैं—सादृश्य-गर्भ,

विरोध-गर्भ, शृंखलावद्ध, तर्कन्याय मूल, काव्यन्याय मूल, लोकन्याय मूल और गूढार्थ प्रतीति मूल—उनमें केवल चौंसठ अलंकारों का समावेश हो सका है। शायद उनसे मिलते-जुलते दस-पॉच और अलंकार उनमें समाविष्ट हो सकें, किंतु इतने पर भी तीस-पैंतीस अलंकार रह जाते हैं जिनका वर्ग अनिश्चित-सा ही रहता है। असम, उदाहरण, कारक दीपक, आवृत्ति दीपक, असंभव, अल्प, विकस्वर, ललित, प्रहर्षण, विषादन, उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, तिरस्कार, लेश, अनुगुण, मुद्रा, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, निरूपित प्रभृति अनेक अलंकारों के मूलतः ऐसे अलंकार रह जाते हैं जिनको या तो किसी नए वर्ग में रखना पड़ेगा आठ वर्गीकरण अथवा अलंकार-सूची से ही निकाल देना होगा। प्रचलित अलंकार-सूची को देखने से पता चलता है कि उनमें सात-आठ मूल तत्त्व पाए जाते हैं और उन्हीं मूल तत्त्वों के आधार पर रुद्रट के वर्गीकरण में थोड़ा परिवर्तन-परिवर्द्धन कर देने के बाद अलंकारों का विभाजन निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है।

१. औपम्य मूल—

(क) जिसमें सादृश्य वाच्य हो—

उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, असम, स्मरण, रूपक, परिणाम, संदेह, भ्रांति, उल्लेख, अपहृति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति (केवल भेदक, रूपक और संबंध) और प्रतीप।

(ख) जिसमें सादृश्य गम्यमान अर्थात् छिपा हुआ हो—

तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिःतूपमा, दृष्टांत, उदाहरण, निदर्शना, व्यतिरेक,

समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा, पर्यायोक्ति, अर्थांतरन्यास, व्याजस्तुति, आक्षेप, विकस्वर, सहोक्ति और विनोक्ति ।

(२) विरोध मूल—

विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, विचित्र, अधिक, अल्प, असंभव, असंगति, विपम, विशेष, व्याघात, अतिशयोक्ति (केवल 'अक्रम', 'चपल' और अत्यंत) और श्लेष ।

(३) न्याय मूल—

काव्यलिंग, अनुमान, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, विकल्प, परिसंख्या, सम्बुद्ध्य, समाधि, प्रत्यनीक, सामान्य, उत्तर, हेतु और अर्थपत्ति ।

(४) शृंखलामूल—

कारणमाला, एकावली, सार और मालादीपक ।

(५) गूढार्थ प्रतीति मूल—

सूक्ष्म, व्याजोक्ति, युक्ति, वक्रोक्ति, पिहित, निरुक्ति, मुद्रा, रत्नावली, विधि, प्रतिषेध और ललित ।

(६) उक्ति-चातुर्य मूल—

गूढोक्ति, विवृतोक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, परिकर, परिकरांकुर, और मिथ्याध्यवसित ।

(७) संसर्ग मूल—

मोलित, उन्मीलित, तद्गुण, अतद्गुण, पूर्वरूप, अनुगुण, उल्लास, अवज्ञा, लेश और प्रौढोक्ति ।

(८) प्रकीर्णक—

सम, स्वाभावोक्ति, उदात्त, भाविक, कारक दीपक, आवृत्ति दीपक, प्रहर्षण, विषादन, अत्युक्ति, अनुज्ञा, निरस्कार और अन्योन्य ।

प्रस्तुत या वर्ण्य-वस्तु 'मुख' को ही आधार मानकर उपर्युक्त संपूर्ण अलंकारों का उदाहरण देने का प्रयत्न नीचे किया जाता है—

(१) उपमा—मुख कमल के समान सुंदर है ।

(२) उपमेयोपमा—मुख कमल के समान और कमल मुख के समान है ।

(३) अनन्वय—मुख के समान मुख ही है ।

(४) असम—मुख के समान कोई नहीं है ।

(५) स्मरण—कमल देखकर मुख याद हो आता है ।

(६) रूपक—मुख कमल है ।

(७) परिणाम—मुख-कमल खिल रहा है ।

(८) संदेह—मुख है या कमल ?

(९) भ्रांति—कमल के धोखे से भ्रमर मुख के चारों ओर उड़ रहा है ।

(१०) उल्लेख—मुख को चकोर चंद्रमा और भ्रमर कमल समझता है ।

(११) अपहृति—मुख नहीं चंद्रमा है !

- (१२) उत्प्रेक्षा—मुख मानो चंद्रमा है ।
- (१३) अतिशयोक्ति—मुख-कमल की शोभा कुछ और ही है ।
- (१४) प्रतीप—कमल मुख के समान है ।
- (१५) तुल्ययोगिता—कमल जल में और मुख पृथ्वी पर खिलते हैं ।
- (१६) दीपक—मुख और कमल खिलकर सब को प्रसन्न करते हैं ।
- (१७) प्रतिवस्तूपमा—मुख पृथ्वी पर शोभता है, कमल जल में चमकता है ।
- (१८) दृष्टांत—मुख प्रिय के निकट क्यों न प्रसन्न हो,
कमल, मित्र (सूर्य) के सामने खिलता ही है ।
- (१९) उदाहरण—मुख उदास होने पर भी शोभता है,
जैसे कमल सूखने पर भी सुंदर मालूम होता है ।
- (२०) निदर्शना—मुख की बड़ाई क्या कलूँ, यह तो भूमि पर कमल उपजाकर
उसकी सुंदरता की तौल करना है ।
- (२१) व्यतिरेक—मुख कमल के समान तो है, लेकिन उसमें भीठी वाणी
अधिक है ।
- (२२) समासोक्ति—(मुख की प्रसन्नता के लिए) मित्र (सूर्य) के कोमल कर-स्पर्श से
कमल खिल रहा है ।
- (२३) अप्रस्तुत-प्रशंसा—कमल की सुंदरता का सार लेकर विधाता ने मुख
बनाया है ।
- (२४) पर्यायोक्ति—मुख को देखकर कमल लज्जा के मारे पानी में गड़ जाता है ।
- (२५) अर्थांतर न्यास—छोटे के साथ बराबरी करने से गौरव की हानि
होती है, कमल के साथ मिलान करने पर मुख की लघुता
सिद्ध होगी ।
- (२६) व्याजस्तुति—मुख में ऐसा दोष है कि जो उसे देखता है वह रीझकर वेसुध
हो जाता है ।
- (२७) आक्षेप—(उसका) मुख सूखकर भी कमल के समान रागयुक्त है, लेकिन
यह कहने से लाभ क्या ?
- (२८) विकस्वर—मुख पर काजल का टीका दोष नहीं है, शोभा के सागर में
एक कालापन छिप जाता है, राजा के साथे पर कीचड़ का
बिंदु भी कस्तूरी समझा जाता है ।
- (२९) सहोक्ति—शोभा सहित मुख विराजमान है, मानों कमल पानी के साथ
खड़ा हो !
- (३०) विनोक्ति—मुख पानी बिना वैसे ही है, जैसे कमल पानी के बिना ।
- (३१) विरोध—मुख देखकर जीवित मर जाता और मृत जी उठता है ।
- (३२) विभावना—बिना मद के ही मुख सबको मतवाला कर देता है ।

- (३३) विशेषोक्ति—मुख में पानी भरा हुआ है, लेकिन उसको पीकर प्यास नहीं मिटती (प्यास बढ़ती ही है) ।
- (३४) विचित्र—मुख बंद होकर ही खिलता है ।
- (३५) अधिक—मुख का पानी शोभा के सागर में नहीं समा सकता ।
- (३६) अल्प—मुख के पानी में सुंदरता का सागर विलीन हो गया ।
- (३७) असंभव—उसको देखकर पथिक बेसुध हो गया, कौन जानता था कि मुख ऐसा उपद्रव करेगा ।
- (३८) असंगति—मुख पर आँखें दौड़ती हैं, लेकिन चित्त गिरता है ।
- (३९) विषम—कहाँ कोमल मुख और कहाँ कठोर भूषण !
- (४०) विशेष—मुख के हट जाने पर भी उसकी शोभा जगमगाती रहती है ।
- (४१) व्याघात—मुख देखकर जब एक प्रसन्न होता तब दूसरा लज्जित होता है ।
- (४२) अर्थश्लेष—मुख और कमल कोमल है, विमल है, सरस है, सुवासमय है और मनहरण है ।
- (४३) काव्यलिंग—तुम्हारे मुख की समानता करनेवाला कमल पानी में डूब गया, मैं जिससे भी जी बहलाता हूँ, उसे विधाता रहने नहीं देता ।
- (४४) अनुमान—विरहिणी के हृदय में पति का मुख-चंद्र बसता है; तभी न उसकी किरण से शरीर पीला और आँखें बंद रहती हैं ।
- (४५) यथासंख्य—मुख की सुंदरता, तेज और मोहकता से मन प्रसन्न होता, आकृष्ट होता और विमुग्ध होता है ।
- (४६) पर्याय—जो कोमलता कमल में थी वह अब उसके मुख में बसती है ।
- (४७) परिवृत्ति—मुख से कमल ने विकास और कमल ने मुख से हास सीखा ।
- (४८) विकल्प—शोभा एकाग्रस्थित होने से या तो कमल ही रहेगा या मुख ही ।
- (४९) परिसंख्या—सुंदरता अब केवल उसके मुख में ही रह गई ।
- (५०) समुच्चय—एक तो मुख ही सुंदर है, उसपर मीठी बात का योग है, फिर सब क्यों न प्रसन्न हों ?
- (५१) समाधि—मुख की शोभा यों ही बढ़ रही थी, उसपर लाल बेंदी पहन लेने से वह और भी बढ़ गयी ।
- (५२) प्रत्यनीक—मुख ने शोभा के क्षेत्र में कमल को जीत लिया, तब कमल ने (मुख के साथी) आँखों को मद पिला दिया ।
- (५३) सामान्य—सर में स्नान करने के समय मुख कमलों में मिल जाने से पहचाना नहीं जाता था कि कौन मुख है, कौन कमल !
- (५४) उत्तर—मनोउत्कूल रंग (राग, प्रेम) नहीं मिलता, इसलिए मुख उदास है ।
(प्रश्न का अनुमान कि क्यों उदास है !)
- (५५) हेतु—कोई किसी से जीये, मेरे लिए तो (उसका) मुख ही जीवन है !

- (५६) **अर्थापत्ति**—मुख पर मोती-जड़ित भूषण लोऽ रहे हैं, जहाँ 'मुक्तों' की यह दशा है, वहाँ सांसारिक लोगों की बात ही क्या !
- (५७) **कारणमाला**—प्रसन्नता का कारण अनुराग, अनुराग का कारण (उसका) मुख है ।
- (५८) **एकावली**—जीवन वहीं जहाँ सुख हो, सुख वहीं जहाँ भोग हो, भोग वहीं जहाँ तृप्ति हो, तृप्ति वहीं जहाँ उसका मुख-दर्शन हो ।
- (५९) **सार**—एक तो सब अंग ही सुंदर हैं, अंगों में शिरोभाग और शिरोभाग में भी मुख सुंदर है ।
- (६०) **मालादीपक**—आचार से ज्ञान, ज्ञान से वाणी और वाणी से मुख सुशोभित होता है ।
- (६१) **सूक्ष्म**—मिलन का संकेत जानकर उसने अपना मुख नीचे कर लिया (यह सूचित करने के लिए कि अन्यासक्त होने के कारण नायक से वह अप्रसन्न है) ।
- (६२) **व्याजोक्ति**—सात्विक भाव से उत्पन्न वैवर्ण्य को रोग के बहाने से छिपाया ।
- (६३) **वृत्ति**—अश्रुमर्म को अन्य नहीं समझ सके, इसलिए प्रियगमन के समय मुख से बार-बार उसने जँभाई ली ।
- (६४) **वक्रोक्ति**—मुख पर लाल-सा क्या है ? (उत्तर में) तुमको देखने की केवल लालसा है ।
- (६५) **पिहिव**—मुख में चंद्रकला की ज्योति है और कृषता भी, किंतु मुखकांति की प्रबलता से कृषता ढँक जाती है ।
- (६६) **निरुक्ति**—मुख पर रोरी का विंदु लाल-सा होने के कारण वह लालसा का प्रतीक है ।
- (६७) **मुद्रा**—भीतर का जो आभास बतावे, वही मुख है ।
- (६८) **रत्नावली**—(शास्त्रार्थ के प्रसंग में) हास-विलास-भरे मुख से उसने चंद्रमा के प्रकाश का खंडन किया ।
- (६९) **विधि**—कठोर बोलने में लाज क्यों, यह तो वही मुख है जिसने प्रियतम को अकारण रुठा दिया ! (अपने से कहने में)
- (७०) **प्रतिषेध**—यह सामान्य नदी नहीं है, जिसको तुम तैर जाते, यह तो उसकी मुख-छवि का समुद्र है जिसमें सब डूब जाते हैं ।
- (७१) **ललित**—उसका मुख देखा, सोने में सुगंध सना हुआ था ।
- (७२) **गूढोक्ति**—(प्रेमिका का मुख निहारनेवाले प्रेमी को सुनाने के अभिप्राय से अपनी सखि से) कल यहाँ फिर हमलोग खेलने आयेंगी ।
- (७३) **विधृतोक्ति**—(उसका) मुख-बंध देखकर मत घबड़ाइये, भीतर रस भरा हुआ है ।
- (७४) **लोकोक्ति**—वह कहता है कुछ, करता है कुछ; 'मुख में राम बगल में छूरी' ।

- (७५) छेकोक्ति—उसके मुख की ओर उसकी आँख लगी, जाने, क्या होगा, चोर की गति चोर ही जाने ।
- (७६) परिकर—तुम्हारा मुख सदीप्ति है, फिर मेरे हृदय में अंधकार क्यों ?
- (७७) परिकरांकुर—मुख को 'शानन' जानकर निधब्बक भीतर जाइए ।
- (७८) मिथ्याध्यवसित—मुख की समता करने के लिए आकाश में रात को कमल खिले, तभी समता हो सकती है ।
- (७९) मीलित—मुख पर लगी हुई गुलाब की पँखुरी दिखाई भी नहीं पड़ती ।
- (८०) उन्मीलन—गोरे मुख पर केसर की बंदी दिखाई नहीं पड़ती, किंतु जब लाली चढ़ती है तब वह प्रकट हो जाती है ।
- (८१) तद्गुण—मुख का कपोल कर्णफूल के मोती की छटा से लाल रंग का हो जाता है ।
- (८२) अतद्गुण—नायिका के मुख की लाली से नायक का हृदय थोड़ा भी रंजित नहीं होता है ।
- (८३) पूर्वरूप—उसकी दृष्टि से मुक्ता नीला हो जाता है और जब मुख से हँसी निकलती है तब फिर मुक्ता का मुक्ता हो जाता है ।
- (८४) अनुगुण—सोने की-सी कांति, कमल की-सी वास और कपूर की-सी हँसी एक साथ जुटी है, फिर मुख का कहना ही क्या !
- (८५) उल्लास—मुख को देख लेने से उदासी में भी आनंद छा जाता है ।
- (८६) अवज्ञा—मुख देखकर भी वह प्रसन्न नहीं हुआ, उसका हृदय था या पत्थर ?
- (८७) लेश—भाल पर टीका मत लगाओ, मुख-दर्शन में अकारण वह दृष्टिपथ को रोक लेता है ।
- (८८) प्रौढोक्ति—गोरे मुख का वचन बड़ा मधुर होता है ।
- (८९) सम—मुख के अनुरूप हँसी सुवर्ण और कपूर का योग है ।
- (९०) स्वभावोक्ति—मुख में तेज भरे मंद गति से (वह) गा रहा है ।
- (९१) उदात्त—मुख पर इतनी मणिमाल है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता । या जिस मुख ने प्यारे को वशीभूत कर लिया, उसकी कितनी महत्ता है ।
- (९२) भाविक—वह यमुना-तट पर खेल रही थी, उसकी मुख-छवि आज भी छिटक रही है ।
- (९३) कारक दीपक—मुख उदास होता और फिर प्रसन्न हो जाता है ।
- (९४) आवृत्ति दीपक—मुख चढ़ा हुआ है और कमल भी चढ़ा हुआ है; एक मनुष्य के निकट, दूसरा देवता के ऊपर ।
- (९५) प्रहर्षण—मुख देखने के लिए प्रकाश खोज ही रहा था कि बिजली चमक उठी ।
- (९६) विषादन—मुख देखने को उत्सुक था ही कि पर्वी गिर पड़ा ।
- (९७) अत्युक्ति—उसकी मुख-छवि के समुद्र में वह डूबता-उतराता रहा है ।

(६८) अनुज्ञा—उसके मुख का दर्शन होता रहे, तो सेवक बनना भी स्वीकार है ।

(६९) तिरस्कार—यदि उसके मुखको नहीं देखा, तो विश्व का वैभव किस काम का ?

(१००) अन्योन्य—मुख से शोभा की और शोभा से मुख की बड़ाई है ।

अलंकार की कुछ विशेषताएँ

उपर्युक्त अलंकारों के वर्गभेद और रूप-विधान के संबंध में भिन्न विचार हो सकते हैं । यह विषय ऐसा जटिल है कि इसकी सर्वमान्यता कभी हो भी नहीं सकती । एक ही वाक्य में अनेक अलंकार हो सकते हैं । जिसका ध्यान उममें से जिसकी अलंकारों के वर्ग-भेद और रूप-विधान उसमें करेंगे; किंतु, इसका ऐसा अर्थ नहीं लेना चाहिए कि अन्य अलंकारों की सत्ता वहाँ से सर्वदा नष्ट ही हो गई ।

लिखन बैठि जाकी सबिहिँ, गहि-गहि गरब गरुर ।

भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥

विहारी के इस एक दोहे में 'नायिका के चित्र नहीं खींच सकने के कारण' पर अनेक अलंकारों का आरोप किया जा सकता है ।

अलंकारों का परस्पर-संबंध ही इतना सूक्ष्म है कि केवल बाह्य रूप देखकर उसका निश्चय नहीं किया जा सकता । कुछ अलंकार एक-दूसरे से इस तरह मिले हुए-से प्रतीत हो सकते हैं कि उनकी भिन्नता आसानी से परिलक्षित नहीं होती है । इसके अलावे एक-एक अलंकार के अनेक भेद किए गए हैं । एक उपमा ही के रूप-भेदों पर विचार करने से पहले उसके 'पूणोपमा', 'लुप्तोपमा' दो भेद हैं । 'पूणोपमा' के 'आर्था' बाह्य रूप से अलंकारों की भिन्नता का निरूपण संभव नहीं और 'श्रौती' तथा लुप्तोपमा के 'धर्म-लुप्ता', 'उपमान-लुप्ता', 'वाचक-लुप्ता', 'वाचक-धर्म-लुप्ता', 'धर्मोपमान लुप्ता', 'वाचकोपमेय लुप्ता', 'वाचकोपमान लुप्ता', 'वाचकधर्मोपमान लुप्ता' आदि अनेक भेद हो सकते हैं । ऐसे ही 'रूपक', 'उत्प्रेक्षा', 'प्रतीप', 'विभावना', 'अतिशयोक्ति', 'तुल्ययोगिता', 'पर्याय' आदि अलंकारों के भी भेदोपभेद हैं । इस भौति अलंकारों का क्षेत्र ऐसा जटिल और दुरुह हो गया है कि भावोत्कर्ष के साधन होने के बदले वह अपने रूप-चमत्कार का शास्त्रीय विवेचन-प्रधान हो गया है । अलंकार-निरूपण में जिस भौति बाल की खाल निकाली जाती है, कि उससे चमत्कृत होनेवाला भाव-रूप कहीं-कहीं संपूर्ण दब-सा जाता है ; जिस प्रकार किसी के शरीर पर नवीन आभूषण को देख, उसका नाम नहीं जानकर भी, उसकी शोभनीयता की प्रतीति करते हैं, उसी प्रकार अभिव्यक्ति में यदि ऐसा चमत्कार लाया गया है कि उससे भावोत्कर्ष में सहायता मिलती है, तो नाम-रूप के पीछे हैरान नहीं रहकर उसमें अलंकार का प्रयोग मान लेना चाहिए । तब भी, कुछ सूक्ष्मताएँ ऐसी हैं जिनका बोध हुए बिना अलंकारों का वास्तविक मर्म नहीं समझा जा सकता है । केवल रूप-विधान से ही अलंकार निर्धारित नहीं होते । रूप-विधान में समानता होने पर भी प्रयोग की विशेषता से अलंकारों की भिन्नता उपस्थित हो जाती है । नीचे कुछ ऐसे ही अलंकारों की विशेषता का निदर्शन किया जाता है ।

वाचक-धर्म-लुप्ता और रूपक--

पूणोपमा का वाचक और धर्म दोनों में लुप्त रहता है, किंतु जहाँ उपमान के धर्म की प्रधानता होती है, वहाँ 'रूपक' और जहाँ उपमेय के धर्म की प्रधानता रहती है, वहाँ वाचक-धर्म-लुप्ता (लुप्तोपमा) अलंकार होता है।

'धर्म-निपुण नर-केसरी' में 'धर्म-निपुण' विशेषण से उपमेय 'नर' के धर्म की प्रधानता सूचित होती है, इसलिए यहाँ वाचक-धर्म-लुप्ता है, किंतु 'मुख-चंद्र' के प्रकाश में है, इसमें प्रकाश उपमान 'चंद्र' का ही धर्म है, इसलिए यह रूपक है।

दृष्टांत और उदाहरण—

'दृष्टांत' में उपमेय और उपमान का बिंब-प्रतिबिंब भाव होता है तथा वाचक शब्द नहीं रहता, किंतु 'उदाहरण' में सामान्य अर्थ को समझाने के लिए उसके अनुरूप एक नमूना उपस्थित किया जाता है तथा वाचक शब्द का प्रयोग होता है।

बुरे लगत सिख के वचन, हिये विचारो आप ।
कइवी भेषज बिनु पिये, मिटै न तन की ताप ॥

—गृन्द्

इसमें 'सिख के वचन' और 'बुरे लगत' उपमेय में 'कइवी भेषज' और 'बिनु पिये' उपमेय का बिंब-प्रतिबिंब भाव है और वाचक पद नहीं है, इसलिए यह 'दृष्टांत' है। किंतु,

होय न जाकी छाँह ढिग, फल रहीम अति दूर ।
बादेहु सो बिन काज ही, जैसे तार-खजूर ॥

—रहीम

इसमें 'जिस व्यक्ति के पास में न छाया मिले (आश्रय), न फल (धन), वह व्यर्थ बढ़ा है'। इस सामान्य अर्थ को समझाने के लिए 'तार' और 'खजूर' का नमूना उपस्थित किया जाता है, साथ ही 'जैसे' वाचक है, इसलिए यह 'उदाहरण' है।

दृष्टांत और प्रतिवस्तूपमा—

दृष्टांत में उपमेय, उपमान और साधारण धर्म, तीनों का बिंब-प्रतिबिंब भाव होता है, प्रतिवस्तूपमा में केवल साधारण धर्म का वस्तु-प्रतिवस्तु भाव प्रकट किया जाता है, अर्थात् एक धर्म भिन्न शब्दों द्वारा कहा जाता है।

चटक न छावत घटत हू सज्जन नेह गँभीर ।
फीको परै न बरु फटै रँग्यो चोल रंग चीर ॥

—बिहारी

इसमें 'चटक न छावत' और 'फीको परै न' द्वारा एक ही धर्म भिन्न शब्दों द्वारा कहा गया है, इसलिए प्रतिवस्तूपमा है। दृष्टांत का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है।

सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से समर्थन होने पर यही 'अर्थांतर-न्यास' हो जाता है ।

रहिमन नीच कुसंग सों लगत कलंक न काहि ।

दूध कलारी-कर लखै को मद जानै नॉहि ॥

(सामान्य का विशेष से समर्थन)

जाय समानी उदधि में गंग नाम भयो धीम ।

काकी महिमा ना घटी, पर घर गये रहीम ॥

(विशेष से सामान्य का समर्थन)

अर्थात् 'दृष्टांत' और 'उदाहरण' में समर्थ्य और समर्थक, दोनों सामान्य या दोनों विशेष होते हैं, किंतु अर्थांतरन्यास में समर्थ्य और समर्थक में एक सामान्य और दूसरा विशेष होता है ।

परिणाम और रूपक--

जहाँ उपमान स्वयं किसी कार्य को करने में असमर्थ होने के कारण उपमेय से एक रूप होकर उस कार्य को करता है, वहाँ 'परिणाम' और जहाँ उपमान स्वयं किसी कार्य को करने में समर्थ होता है, वहाँ 'रूपक' होता है ।

'वचनामृत पीना' में उपमान 'अमृत' का धर्म पिया जाना होता है, इसलिए यह 'रूपक' है, किंतु 'वचनामृत सुनना' में उपमान 'अमृत' का धर्म सुना जाना नहीं होता, अथवा वह उपमेय 'वचन' से एक रूप होकर उस कार्य को कर सकता है, इसलिए यह 'परिणाम' है ।

तुल्ययोगिता और दीपक--

'तुल्ययोगिता' में केवल उपमेयों का अथवा केवल उपमानों का ही एक धर्म कहा जाता है, किंतु 'दीपक' में उपमेय और उपमान दोनों का एक धर्म कहा जाता है ।

दृष्टांत और निदर्शना--

'दृष्टांत' में जो उपमान और उपमेय का परस्पर बिंब-प्रतिबिंब भाव रहता है, उसमें दोनों वाक्य निरपेक्ष रहते हैं, किंतु 'निदर्शना' में उपमेय और उपमान वाक्य परस्पर सापेक्ष होते हैं ।

श्लेष और समासोक्ति--

'श्लेष' में, चाहे वह प्रस्तुत में हो या अप्रस्तुत में, केवल विशेष्यवाचक पद-श्लिष्ट होता है, जब कि 'समासोक्ति' में केवल विशेषण श्लिष्ट होते हैं । जहाँ 'श्लेष' प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों में आश्रित हो, वहाँ विशेष्यपद श्लिष्ट तो नहीं होता, किंतु प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों विशेष्यों का भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कथन किया जाता है । 'समासोक्ति' में दोनों विशेष्यों का भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कथन नहीं किया जाता--केवल प्रस्तुत विशेष्य का ही शब्द द्वारा कथन होता है--समान विशेषणों की सामर्थ्य से ही अप्रस्तुत का बोध होता है ।

(एक देश विवर्ति) रूपक और समासोक्ति--

एक देश विवर्ति 'रूपक' में प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोप किया जाता है, अर्थात् उपमान अपने रूप से उपमेय के रूप को ढँक लेता है। 'समासोक्ति' में स्वरूप का आच्छादन नहीं होता। प्रस्तुत के व्यवहार द्वारा अप्रस्तुत की प्रतीति-मात्र रहती है।

विभावना और विशेषोक्ति--

'विभावना' में कारण के बिना कार्य उत्पन्न होता है और 'विशेषोक्ति' में कारण के होने पर भी कार्य नहीं होता।

असंगति और विरोध--

'असंगति' में कार्य-कारण का वैयधिकरण्य होता है। 'विरोध' में वैयधिकरण्य वालों का एकाधिकरण होता है।

पर्याय और विशेष--

'पर्याय' में एक वस्तु की अनेक स्थलों में स्थिति क्रमशः—एक के बाद दूसरे में—कही जाती है और 'विशेष' में एक ही काल में।

कारणमाला और एकावली--

'कारणमाला' में कार्य-कारण का संबंध होता है और 'एकावली' में विशेष्य-विशेषण का।

परिसंख्या और अपह्नुति--

'परिसंख्या' में किसी वस्तु को योग्य स्थान से हटाकर अन्यत्र स्थापित नहीं किया जाता, किंतु प्रमाणांतर से सिद्ध कथित वस्तु का अन्यत्र निषेध किया जाता है। 'अपह्नुति' में प्रस्तुत का निषेध कर अप्रस्तुत का आरोप किया जाता है।

सम और समुच्चय--

'सम' अलंकार में अनेक पदार्थों का यथायोग्य संबंध कहा जाता है। 'समुच्चय' में किसी कार्य के करने के लिए समान बलवाले अनेक पदार्थों का इकट्ठा होना होता है।

कारक-दीपक और समुच्चय--

दोनों में बहुत-सी क्रियाओं का कथन होता है, किंतु 'कारक-दीपक' में एक के बाद दूसरी क्रिया क्रमशः होती है और समुच्चय में सब क्रियाएँ एक ही साथ होती हैं।

परिकर और काव्यलिंग--

'परिकर' अलंकार में पदार्थ या वाक्यार्थ के बल से जो अर्थ प्रतीत होता है, वही वाच्यार्थ को पोषित करता है, जैसे—

कलाधार द्विजराज तुम ताप-हरन विख्यात।

क्रूर-करन सों दहत क्यों मो अबला के गात ॥

यहाँ (परिकर अलंकार में) चंद्रमा के कलाधार आदि विशेषण हैं, इनके अर्थ में जो महत्त्व प्रतीत होता है, वही विरहिणी के उपालंभ-रूप वाच्यार्थ का समर्थन करता है, केवल कलाधार आदि शब्द नहीं। पर काव्यलिंग में साक्षात् पदार्थ या वाक्यार्थ ही कारण-भाव को प्राप्त होते हैं। जैसे—

'हिय का वियोग-तम टारिहै विधु-वदनी यह नारि' में 'विधु-वदनी' पर ही वियोग-रूपी तम को दूर करने में कारण है—इसमें किसी दूसरे अर्थ की प्रतीति की आकांक्षा नहीं।

अनुज्ञा और लेश—

‘अनुज्ञा’ अलंकार में उत्कट गुण की लालसा से दोषवाली वस्तु की इच्छा की जाती है और ‘लेश’ में दोषवाली वस्तु में गुण या गुणवाली वस्तु में दोष की कल्पना की जाती है ।

अवज्ञा और उल्लास—

‘उल्लास’ में अन्य के गुण-दोषों का अंगीकार है और ‘अवज्ञा’ में अन्य के गुण-दोषों का अनंगीकार । अर्थात् एक के गुण से दूसरे में गुण होने में ‘उल्लास’ और एक के गुण से दूसरे में गुण न होने में ‘अवज्ञा’ अलंकार होता है ।

सामान्य और मीलित—

‘मीलित’ में बलवान वस्तु द्वारा उसी गुणवाली निर्बल वस्तु के स्वरूप का तिरोधान होता है और सामान्य में दोनों वस्तुओं का स्वरूप प्रतीत होने पर भी गुण की समानता से दोनों में अभेद की प्रतीति होती है ।

सामान्य और तद्गुण—

‘सामान्य’ में निज गुण का त्याग नहीं होता, किंतु ‘तद्गुण’ में निज गुण का त्यागकर दूसरे का गुण ग्रहण किया जाता है ।

साहित्य-साधना की पृष्ठभूमि

चौथा अध्याय

रस-तत्त्व-विमर्श

चौथा अध्याय

रस-तत्त्व-विमर्श

रस का रूप और आनंद

सगुण सृष्टि के रचना-क्रम में 'रस' स्वादेन्द्रिय का 'विषय' है। वह रसन अर्थात् आस्वादन-रूप में आत्मा का अनुभव है। जिस प्रकार भोज्य-पदार्थों के मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय नाम के षट्‌रस में आस्वादन की भिन्न-रूपता रहते हुए भी रस का मूल रूप—स्वादेन्द्रिय और रस का संयोग—एक ही रहता है, अर्थात् एक ही रसन या आस्वादन-

रस आत्मा की
अभिव्यक्ति

व्यापार—सुख या तृप्ति—भिन्न दिशाओं में परिलक्षित होता है, उसी प्रकार काव्य में हर्ष, शोक आदि भावों का आस्वादन भिन्न दिशाओं में प्रकट होते हुए भी रस का मूल रूप एक ही रहता है। काव्य में 'रस' आनंद-स्वरूप—आत्म-स्वरूप या चैतन्य-स्वरूप—कहा जाता है। लोक-व्यापार में जिस भाँति स्वाद-मूलक रस को पाकर लोग प्रसन्न या सुखी हो जाते हैं, उसी भाँति चैतन्य-रूप पुरुष काव्य-द्वारा उपस्थित भाव-चित्र को प्राप्त कर आनंदमय हो जाता है। आनंद असत् पदार्थ से नहीं हो सकता। भोज्य वस्तु के अभाव में केवल उसका नाम लेने से किसी की तृप्ति नहीं हो सकती, उसके लिए तो भोजन की यथार्थ सामग्री चाहिए। उसी प्रकार आत्मा के आनंद-रूप की प्राप्ति के लिए रस का केवल वर्णन करने से काम नहीं चलता, बल्कि प्रच्छन्न रस का निरावरण होकर उसके आस्वादन की अपेक्षा रहती है। इस आनंद-रूप की प्राप्ति से ऐसा नहीं समझना होगा कि आत्मा निरानंद-अवस्था में भी कभी रहती है। जीवन-व्यापार में देखा जाता है कि मन की निरोधावस्था से चित् का आवरण स्वतः हटने से जो आनंद या सुख की प्राप्ति होती है, वह बाहर से कोई नहीं ला देता, बल्कि अनुभविता में ही जो अनुभाव्य छिपा रहता है, उसी की उपलब्धि हो जाती है। इस संबंध में अग्निपुराण में लिखा है कि:—

आनंदः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।

व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाद्वया॥

[अग्नि० ३४०।१।२]

अर्थात् वह आनंद किसी समय प्रकट हो जाया करता है और उस आनंद की वह अभिव्यक्ति चैतन्य, चमत्कार अथवा रस नाम से पुकारी जाती है। इसका तात्पर्य है कि रस आत्मा की अभिव्यक्ति का रूप है और वह आनंदमय है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार काव्य में ‘रस’ आस्वादन का अर्थ तो ज्यों का त्यों लिये रहता है, किंतु वह आस्वादन किसी बाह्य वस्तु का जिह्वा-विषयक ज्ञान नहीं होकर अंतःकरण की वृत्ति का आनंद के साथ तादात्म्य को सूचित करनेवाला है। अंतःकरण की यह वृत्ति वासना या संस्कार के रूप में रहती है। वृत्ति क्रिया-मूलक या गति-मूलक है। उसका अपना कोई स्वरूप नहीं है। जिस वस्तु में वह जाती है, उसी के अनुसार उसका स्वरूप देश-कालावच्छिन्न हो जाता है। वासना जन्म-कर्मानुक्रम से आती हुई दीर्घ भाव-परंपरा का, मनुष्य की अंतःप्रकृति में, निहित संचय-स्वरूप है। वासना का हेतु विचार और तज्जन्य कर्मों का संस्कार है। सकामभाव से जो कुछ किया या सोचा जाता है, वह ‘विषय’ का अंश होकर संस्कार-रूप से अंतःकरण से संलग्न हो जाता है। इसके लिए एक ओर अंतःकरण और दूसरी ओर ‘विषय’ चाहिए। इस प्रकार जन्मजन्मांतर से अग्रणीत संस्कार वासना-रूप में संचित रहते हैं। वासना का व्यापार ही भाव का मुख्य कारण है। भाव के संबंध में लोकमान्य तिलक ने ‘गीता-रहस्य’ में लिखा है कि सांख्य शास्त्र के अनुसार ‘कर्म’ को पुरुष और प्रकृति से भिन्न तीसरा तत्त्व नहीं मान सकते और जब कि पुरुष उदासीन है तब यही कहना पड़ता है कि कर्म प्रकृति के सत्त्व-रज-तमोगुणों का ही विकार है। जिसे वेदांत में कर्म कहते हैं, उसी को सांख्य शास्त्र में सत्त्व-रज-तमोगुणों के न्यूनाधिक परिमाण से उत्पन्न होनेवाला बुद्धि का व्यापार, धर्म या विकार कहते हैं। बुद्धि के इस धर्म का नाम ‘भाव’ है। सत्त्व-रज-तमोगुणों के तारतम्य से ‘भाव’ कई प्रकार के हो जाते हैं। यह भाव स्थायी रूप से हृदय में विराजमान रहता है। बाह्य वस्तु या व्यापार के बिनाघात से वह जाग्रत या उदबुद्ध हो जाता है। भाव के ऐसे उद्रेक की अवस्था में अनेक अन्य भाव स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं। ऐसे भाव जब सत्त्व-गुण की प्रधानता के कारण, किसी बाह्य वस्तु के आश्रित नहीं रहकर आत्मा के साथ संयुक्त हो जाते हैं, तब उनकी ‘रस’ संज्ञा हो जाती है। आत्मा के संबंध में महाभारत कहता है:—

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः ।

तैरेवतु विनिर्मुक्तः परमात्मैयुदाहृतः ॥

प्रकृति के गुणों से युक्त क्षेत्रज्ञ को आत्मा और उनसे विमुक्त उसी (क्षेत्रज्ञ) को परमात्मा कहते हैं। अध्यात्म शास्त्र में आत्मा को द्रष्टा और ज्ञाता कहा जाता है। उसमें किसी प्रकार का कर्तृत्व नहीं रहता। सांख्य शास्त्र संपूर्ण कर्तृत्व का आरोप ‘प्रकृति’—सत्त्व, रज, तम गुणों से युक्त व्यक्त सृष्टि के रूप—में करता है। प्रकृति जड़ है। आत्मा के सान्निध्य से जड़ प्रकृति में चैतन्य-रूपी जो गुण हमें दृष्टिगोचर होता है, उसी को आत्मा का प्रधान लक्षण मानकर अध्यात्म शास्त्र में आत्मा को चैतन्य-रूप कहा जाता है। ‘चित्’-रूप आत्मा पर अविद्या का आवरण पड़ा रहता है। अविद्या का ही नाम माया है और माया को अध्यात्म शास्त्र में नाम-रूपात्मक सृष्टि कहते हैं। सृष्टि-क्रम में मन के अस्तित्व को

स्वीकार करने के बाद ही इंद्रियों का व्यापार प्रमाणित होता है। रस-ज्ञान के लिए मनुष्य की इसी मानसिक स्थिति की अपेक्षा है। काव्य-योग में मन का व्यापार हृदय क्षेत्र में होता है। भावों के उद्रेक से मन की वृत्ति जब समस्त अनात्म वस्तुओं का बोध करके स्वयं आत्मा में लीन हो जाती है, तब उसका रूप 'रसमय' हो जाता है। रस कहीं बाहर से नहीं आता। वह तो अन्तःकरण की वृत्ति और भाव का उदात्त एवं विकसित रूप है। रस-रूप हो जाने के बाद भाव और उसके अधिष्ठान सब विस्मृत हो जाते हैं। व्यक्तिगत सत्ता का कोई भी रूप रस को मान्य नहीं है। आत्मा का धर्म, जो आनन्दमय माना गया है, यही रस-रूप है। पंडितराज जगन्नाथ ने रस-रूप इस आनंद को ही आत्म-रूप कहा है। प्रत्युत् रसानुभूति का अर्थ है आनंदानुभूति या आत्मानुभूति। किंतु काव्य द्वारा आत्मानुभूति की इस दशा में आनंद रति आदि भावों से परिच्छिन्न होकर प्रतीत होता है, समाधि की तरह अपरिच्छिन्न नहीं रहता। रति आदि अंतःकरण के धर्म हैं। उनको आत्मा अंतःकरण से युक्त होकर भासित करती है। इस प्रकार

रसानुभूति के दो रूप
रसानुभूति के दो पक्ष हो जाते हैं; एक चैतन्य का आवरण-रहित हो जाना और दूसरा अंतःकरण की वृत्ति का आनंदमय हो जाना। दोनों पक्षों में रस के रूप में रति आदि भावों और चैतन्य का संयोग आवश्यक है। तैत्तिरीय

उपनिषद् के शांकर भाष्य में आत्मानंद और विषयानंद के नाम से रस के दो रूप कर दिए गए हैं। आनंद परब्रह्म का ही वाचक है। वही शुभ कर्म द्वारा प्रस्तुत किए हुए पुत्र-मित्रादि-विशेष विषय ही जिसकी उपाधि है, उस सुप्रसन्न अंतःकरण की वृत्ति-विशेष में, जबकि वह तमोगुण से आच्छादित नहीं होता, अभिव्यक्त होता है। वह लोक में विशेष-सुख के नाम से प्रसिद्ध है। उस वृत्ति-विशेष को प्रस्तुत करनेवाले कर्म के अस्थिर होने के कारण उस सुख की भी क्षणिकता है। अतः जिस समय अंतःकरण तमोगुण को नष्ट करनेवाले तप, उपासना, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा के द्वारा जितनी अधिक निर्मलता को प्राप्त होता है, उतना ही अधिक प्रसन्न और स्वच्छ होते हुए उस अंतःकरण में विशेष आनंद का उत्कर्ष होता अर्थात् वह बहुत बढ़ जाता है। यही बात 'वह रस ही है; इस रस को पाकर ही पुरुष आनंदी हो जाता है; यह रस ही सबको आनंदित करता है'।^१ इसमें अंतःकरण के तमोगुण को नष्ट करनेवाले जिन साधनों—तप, उपासना, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा—का विधान किया गया है, काव्य-योग भी वैसा ही एक साधन है। काव्य-गत वस्तु-विधान के द्वारा जिस आनंद की प्राप्ति होती है, वह आत्म-विस्तार का ही एक रूप है। आत्मभाव को दूसरे में आरोपित कर उसे अपना ही रूप समझना वास्तविक आनंद है। जड़ वस्तु में भी इस प्रकार आत्मभाव आरोपित कर उसे आत्म-विस्तार के क्षेत्र में लाया जाता है। आत्मविस्तार की पूर्णता में

१ आनंद इति परंब्रह्म। तद्धि शुभकर्मणा प्रत्युपस्थापमानं पुत्रमित्रादिविषयविशेषोपाधावन्तः-करणावृत्तिविशेषे तमसा प्रच्छाद्यमाने प्रसन्नेऽभिव्यज्यते तद्विषयसुखमिति प्रसिद्धं लोके। तद्वृत्तिविशेष-प्रत्युपस्थापकस्य कर्मणोऽनवस्थितत्वात्सुखस्य क्षणिकत्वम्। तथावदन्तःकरणं तपसा तमोघ्नेन विधया ब्रह्मचर्येण श्रद्धयाच निर्मलत्वमापद्यते यावद्यावत्तावत्तावद्विदित्तं प्रसन्नेऽन्तःकरणं आनंदविशेष उत्कृष्यते विपुलीभवति। वक्षति च रसो वै सः। रसं ब्रह्मैवायं लब्धवानंदी भवति। ऐषोऽयं नंदयाति।

(त० उ० २।७।१)

—तैत्तिरीयोपनिषद् शांकर भाष्य ।

‘स्व’ और ‘पर’ का कोई विभेद नहीं रहता । हृदय अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से संपूर्णतः भिन्न होकर जब विश्वात्मा की प्रतीति में तत्पर होता है तभी यथार्थ आनंद की प्राप्ति समझनी चाहिए । यही रस-दशा है । आनंद का यह रूप ब्रह्म की प्रतीति

रस दशा करनेवाला है, इसलिए इसका नाम ब्रह्मानंद-सहोदर है । इस अवस्था में इच्छाएँ या वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं । यथार्थ में रस या आनंद कहने-सुनने की वस्तु नहीं ; वह तो अनुभव से ही जाना जा सकता है । इस दशा की प्राप्ति के लिए भावों का व्यापार, घटनाक्रम का सामंजस्य, वृत्ति की अनुकूलता और मन के अतिरिक्त ओज के साथ आत्मा या चैतन्य का संयोग आवश्यक है । काव्य का रस या आनंद ब्रह्म का रूप है, स्वयं ब्रह्म नहीं ।

काव्य में ‘रस’ से तात्पर्य हृदय की उस मुक्त दशा की प्राप्ति से है, जहाँ जीवन और जगत् का व्यापार वैयक्तिकता या स्वार्थ की परिधि से संपूर्ण बहिर्गत रहता है । रस-दशा में ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत को विस्मृत कर मन शुद्ध द्रष्टा या साक्षी के रूप में आनंदमय हो जाता है । निलिप्तता उसका धर्म हो जाता है और वस्तु या व्यापार की बहुरूपता से उसपर किसी प्रकार का व्याघात या विकार नहीं होता । निलिप्त या आसक्तिहीन होने पर जिस प्रकार कर्तृत्व को कर्म की रमणीयता या विगर्हणा का कोई आग्रह नहीं रहता, उसी प्रकार रस-दशा में हृदय को वस्तु या व्यापार की सुंदरता या विरूपता से कोई संबंध नहीं रहता । यथार्थ में

काव्य और रसानुभूति काव्य तो संपूर्ण रूप से इंद्रियों के अधीन है, इसलिए सुख-दुःख का द्रष्टा स्थूल इंद्रियों का ही विषय है । पुरुष के आत्मरूप, रस-रूप या आनंद-रूप हो जाने पर उसको इंद्रियों के विषय—सुख-दुःख—से कोई संबंध नहीं रहता है । रस आनंदानुभूति की वह उदात्त अवस्था है जिसमें व्यक्तिगत सत्ता का लोप होकर हृदय विश्वात्मा के साथ तदाकार हो जाता है । अपनी अन्याश्रित वृत्ति के द्वारा बाह्य जगत् को अंतर्भूत कर स्वाश्रित वृत्ति से मन स्वतः आनंदमय हो जाता है ।

सांसारिक हर्ष या शोक हमारे व्यक्तिगत जीवन के योग-क्षेम से संबंध रखता है । हम अपने प्रिय के सुख में आनंद और दुःख में विषाद का अनुभव करते हैं । प्रिय या

हृदय का भाव और व्यक्तिगत संबंध संबंधी के सामीप्य के अनुपात से सुख-दुःख के ऐसे अनुभव में तीव्रता या शिथिलता होती है । जो जितना निकट का संबंधी है, उसके लिए हम उतना ही अधिक सुख-दुःख प्रकट करते हैं । जो हमसे दूर है, अर्थात् जिनके साथ हमारे व्यक्तिगत संबंध का बंधन ढीला है, उनके

प्रति हृदय की अनुकंपा या सहानुभूति में तीव्रता नहीं होती है । हमारे भाई को जब कोई कष्ट या वेदना होती है, तब हम चिंतित हो जाते, दौड़-धूप करने लगते अथवा रोने लगते हैं । उसके कष्ट को दूर करने के उपचार में हम तुरंत संलग्न हो जाते हैं । अन्य परिवार के किसी व्यक्ति की उसी प्रकार की कष्ट-दशा में हम थोड़ी समवेदना प्रकट कर रह जाते अथवा उसके उपचार के लिए मौखिक प्रबंध कर देते हैं । अन्य सुदूर गाँव में, जहाँ से हमारा कोई व्यक्तिगत संबंध नहीं है, यदि किसी व्यक्ति को उस प्रकार कोई कष्ट होता है, तो हमें कोई चिंता ही नहीं होती । इसका कारण है कि हृदय का भाव जहाँ व्यक्तिगत संबंध के द्वारा ही परिचालित होता है, वहाँ अपने ही योग-क्षेम की भावना में वह बँध जाता है । उस अवस्था

में रसानुभूति हो नहीं सकती, कारण रस बंधनहीनता की दशा में ही प्रतीत होता है। जहाँ हृदय अपने स्वार्थ या योग-क्षेम के बंधन से मुक्त हो जाता है, वहाँ अपनी कहकर उसकी भिन्न कोई वस्तु नहीं रहती; 'स्व' और 'पर' की विभाजक रेखा मिट जाती है। हृदय का योग-क्षेम व्यक्तिगत भावना से ऊपर उठकर सर्वगत या विश्व-भावना में लीन हो जाता है। वहाँ एक भिखारी के लिए भी, जिसका संसार में कोई नहीं है, हम उतना ही आँसू बहाने को विवश हो जाते हैं, जितना अपने प्रिय-से-प्रिय कहे जानेवाले व्यक्ति के प्रति बहा सकते हैं।

रस-दशा में इंद्रियों का व्यापार बंद नहीं होता, न हृदय की अनुभूति में ही किसी प्रकार की शिथिलता आती है। अनुभूति की तीव्रता में भाव-दशा तक जितने कार्य किए जाते हैं, रस-दशा में उस कार्य-व्यापार में कोई अंतर नहीं पड़ता, किंतु जहाँ भाव-दशा में व्यक्तिगत स्वार्थ और योग-क्षेम से बद्ध रहने के कारण हृदय को 'अपना' और 'पर' का भेद दिखाई पड़ता है, वहाँ रस-दशा में व्यक्तिगत-सत्ता का सर्वथा लोप हो जाता है और संपूर्ण विश्व ही अपना हो जाता है। रस का यही रूप है।

प्रश्न होता है कि रस का आनंद रूप होने का कारण भिन्न भावों की परिणति एक ही रूप में कैसे हो सकती है। रति और शोक, हास और भय, विस्मय और क्रोध प्रभृति परस्पर भिन्न भावों की परिपक्वावस्था एक ही आनंद-रूप में किस भाँति संभव है? यही प्रश्न दूसरे रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है कि 'रस' का आनंद-रूप होने के कारण शोक, क्रोध, घृणा इत्यादि दुःखमूलक भावों का आस्वादन सुखकर कैसे हो सकता है। इसका उत्तर है कि विभिन्न परस्पर-विरोधी भाव, रस-रूप में परिणत होने पर, व्यक्तिगत हृदय-संबंध से मुक्त हो जाते हैं। मन ज्ञानेंद्रियों के पथ से सुख-दुःख का अनुभव करता है। इंद्रियाँ सभी स्थूल हैं, अतः उनके द्वारा स्थूल विषयों का ही ज्ञान हो सकता है। मानना पड़ता है कि सांसारिक सुख-दुःख का अनुभव स्थूल विषय-जन्य है। मन रस-दशा की प्राप्ति के समय सूक्ष्म आनंद का अनुभव करके आत्मलीन हो जाता है, इसलिए स्थूल सुख-दुःख से उसको कोई संबंध नहीं रहता। ये तो इंद्रियों के व्यापार हैं, इसलिए सब व्यापार होते हुए भी रस या आनंद प्राप्त मन को किसी प्रकार का सुख-दुःख नहीं होता है। आनंद या रस-रूप पुरुष साक्षी या द्रष्टा बनकर सृष्टि के व्यापार को समान भाव से देखा करता है। रस-रूप प्राप्त होने के लिए मन तथा हृदय को ज्ञान तथा विश्वास की एक निर्धारित सीमा अपेक्षित है। यही कारण है कि सबको

समान रूप से रस की प्रतीति नहीं होती। जिसका ज्ञान और विश्वास जिस अंश तक विकसित रहता है, उसको उसी रूप में ग्यून या अधिक रस की प्रतीति होती है। भिन्न भावों में रस-द्रव्य एक ही है, प्रत्युत उनका आस्वाद मूल में एक ही प्रकार का होगा। शक्कर से बनी हुई भिन्न-भिन्न प्रकार की मिठाइयों में केवल रूप की ही नहीं, बल्कि स्वाद की भी थोड़ी-बहुत भिन्नता रहती है; किंतु सबके मूल में द्रव्य-रूप शक्कर एक ही है। यह तो मिठाई बनानेवाले के कौशल और मूल द्रव्य के विविध रूपों के मिश्रण का परिणाम है कि मिठाइयों के आस्वाद में रसनेंद्रिय की भिन्नता प्रतीत होती है। रस-रूप शक्कर तो सबमें समान है। उसी प्रकार रति, क्रोध, शोक, घृणा

भाव-रूप में हृदय के व्यक्तिगत संबंध के कारण भिन्न रूप और स्वाद के हैं, किंतु हृदय की मुक्त दशा में सबका मूल द्रव्य 'रस' समान ही रहता है। जब तक लड़के को 'अपना' तथा 'पर' का ज्ञान नहीं हुआ रहता है, जब तक उसका हृदय व्यक्तिगत योग-क्षेम से मुक्त है, तब तक भूतों की कहानियाँ तथा अन्य आश्चर्य और भय-जनक बातें सुनने में उसको बड़ा ही आनंद मालूम होता है। लड़के की ऐसी अवस्था में उसकी इंद्रियाँ अपना व्यापार करती हैं, उसकी छाती डर से कभी-कभी काँप उठती, हृदय धड़कने लगता है; फिर भी वह आनंद की रक्षा के लिए कहानी कहनेवाली बूढ़ी दादी या नानी को और आगे कहने के लिए आग्रह करता है। यदि उसको आनंद नहीं मिलता, तो चौँक-चौँककर भी वैसी कहानियाँ सुनना वह कभी पसंद नहीं करता। कहानी की घटनाओं में लड़के का विश्वास स्थिर है, नहीं तो उसे कभी आनंद ही नहीं आता। उस समय लड़के की हृदय की रस-दशा रहती है। ऐसी ही दशा को प्राप्त होने पर व्यक्तिगत स्वार्थ या हानि-लाभ से संबंध नहीं रखने के कारण, किसी व्यक्ति के लिए रति या शोक, घृणा या क्रोध में समान रूप से आनंद का कारण बना रहता है। काव्य द्वारा जो चित्र हृदय के सम्मुख उपस्थित किये जाते हैं, उनसे हमारा व्यक्तिगत संबंध नहीं रहता। हमारा हृदय काव्य के पात्रों के प्रति समवेदना के कारण ऐसा मुक्त हो जाता है कि हमारी 'अपनी' कहकर भिन्न कोई वस्तु नहीं रह जाती। हम विश्वात्मा के रूप में संसार की वस्तुओं को देखते रहते हैं, जहाँ हमारा व्यक्तिगत संबंध मिट गया है। उस समय के अनुभाव हमारे शरीर द्वारा विश्वात्मा के शरीर का व्यापार प्रकट करते हैं। यह आनंद बौद्धिक आनंद से एकदम भिन्न है। बौद्धिक आनंद में हम अपने व्यक्तित्व के आभास से सुख प्राप्त करते हैं, जब काव्य के आनंद में हमारे व्यक्तित्व का सर्वथा परिहार हो जाता है। काव्य का यही आनंद 'रस' है।

रसात्म-बोध और काव्य-विधान

रस के रूप-निरूपण में दिखलाया गया है कि रसानुभूति की अवस्था में हृदय जीवन और जगत् के संपूर्ण संबंधों को छोड़कर मुक्त हो जाता है। वहाँ व्यक्तिगत योग-क्षेम की भावना का कोई प्रश्न नहीं रहता। जिन कारणों से हृदय की ऐसी अवस्था होती है, उनपर विचार करना आवश्यक है। यह प्रत्यक्ष है कि रस का पूर्वरूप भाव है। जगत् की किसी वस्तु या व्यापार को देख-सुनकर जो एक प्रतिबिंब हृदय पर पड़ता है, वही भाव की उद्भावना का मूल कारण है। कलाकार हृदय की साम्यावस्था में उसी भाव-चित्र को काव्य में अंकित करता है। काव्य का वस्तु-विधान जगत् के बाह्य रूप के आधार पर, जो आँखों के सम्मुख है, प्रस्तुत नहीं किया जाता, बल्कि इस दृश्य से उत्पन्न जो अंतर्जगत् में एक बिंब चित्र है, उसी के अनुरूप किया जाता है। बाह्य जगत् का रूप तो केवल उपलक्षण-मात्र रहता है। उसी के संसर्ग से उत्पन्न जो अंतर्जगत् का तदनुरूप व्यापार है, वही काव्य की वस्तु है। किसी उपवन के सुरम्य सरोवर में खिले हुए कमनीय कमल का हमने अवलोकन किया। भौरे गूँज रहे थे। भीनी-भीनी सुगंध आ रही थी। अपनी सुरम्यता से कमल सबको अपनी ओर आकृष्ट कर लेता था। वह सरोवर इस समय हमारे सामने नहीं है, किंतु उसका बिंब हृदय में इस रूप से विराजमान

काव्य का
वस्तु-विधान

है कि भीतर ही भीतर उसको हम सर्वदा देखते रहते हैं। उसके प्रति भाव की तरंगें उठती रहती हैं और उसके सौंदर्य तथा कमनीयता की प्रतीति से भावनाएँ इस प्रकार अनुरंजित हो जाती हैं कि हम अपनी बाह्य सत्ता को भूले-से रहते हैं। यही हृदय की भाव-दशा है। जिस प्रकार सरोवर के प्रत्यक्ष दृश्य ने बिंब-प्रक्रिया द्वारा हृदय के अनुराग को विबद्धित तथा परिपुष्ट कर रस-दशा की स्थिति उत्पन्न कर दी, उसी प्रकार जगत् की अन्य वस्तुओं या घटनाओं का बिंब-व्यापार हृदय के भिन्न भावों को उद्बुद्ध कर उनकी रसात्मकता का कारण होता है। किसी वस्तु या व्यापार के केवल प्रत्यक्षावलोकन से ही बिंब का प्रभाव नहीं पड़ता; स्मृति और कल्पना से भी उसकी प्रक्रिया परिचालित होती है। लङ्कपन में किसी वृत्त के नीचे अपने बालसहचरों के साथ हम खेला करते थे। वर्षों बाद उस स्थान पर जाने का संयोग हुआ। वह वृत्त जिसके

**रसात्मबोध का
एक और रूप**

नीचे हम खेलते थे, अब नहीं है; किंतु उस स्थान पर जाने के साथ ही उक्त वृत्त का बिंब हृदय पर उतर आता है। उसके संयोग से हम उन सभी खेल कूदों को स्मृति-पटल पर देखने लगते हैं, जो कई वर्ष पहले हुए थे और उस स्थान पर जाने के पूर्व जिनको हम संपूर्णतः भूने हुए-से थे। वृत्त के स्मृति-जन्य बिंब-व्यापार से भाव जाग्रत हो गया है, जो संवेदन की आँच से पिघल कर 'रस-रूप' होते जाता है और हम अपनी व्यक्तिगत सत्ता की संकीर्ण परिधि से बाहर जाकर उक्त दृश्य से तदाकार हो जाते हैं। रसात्मबोध का यह भी एक रूप है। इसी भाँति किसी वस्तु या घटना के अभाव में केवल कल्पना से ही रसात्मकता का बोध हो सकता है, किंतु वैसे कल्पना-विधान में हृदय की विश्वास वृत्ति को सुदृढ़ रहना चाहिए, अन्यथा कल्पना केवल हवाई महल बनाती रहेगी। हम रास्ते से कहीं जा रहे हैं। घर में सुख के साधन के अभाव में किसी भाँति उपार्जन करके बाहर से कुछ लाना आवश्यक हो गया है। घर के अभाव-ग्रस्त रूप का चित्र हृदय में विराजमान है। इसी समय मन में आ गया कि यदि रुपये की एक थैली रास्ते में मिल जाय, तो उसको पाकर

**मन-तरंग संबंधी
कल्पना**

हम कितनी प्रसन्नतापूर्वक घर लौटेंगे। स्त्री के हाथ में रुपये की थैली देकर उससे कहेंगे कि खाने-पीने की वस्तुएँ मँगवाओ। रुपये इतने अधिक हैं कि पुराने टूटे-फूटे घर को तोड़कर नया और सुंदर घर बनवा लेंगे। दरवाजे पर बैलों की सुंदर जोड़ियाँ दँधवायेंगे। गाँव के निर्धन लोग माँगने आयेंगे तो उनमें से किसी को कर्ज और किसी को खैरात रुपये देंगे। हमारा ठाट-बाट बढ़ जायगा। लड़कों को गाड़ी पर पाठशाला पढ़ने के लिए जाने का प्रबन्ध करेंगे। आनंद और सुख के सब सामान रहेंगे। मनोविज्ञान में इसको मन-तरंग संबंधी कल्पना कहा गया है। इस भाँति जब तक कल्पना में हृदय का विश्वास है कि ऐसा होकर ही रहेगा, तब तक संसार के बाह्य बंधन से हृदय मुक्त है और हम भावों की तीव्र दशा में हैं। इस समय यदि कोई कुछ बोलता है, तो हम सुनते नहीं, गाड़ी सामने से निकल जाती है, हम देखते नहीं। किंतु जिसी समय ऐसा ज्ञान हो जाता कि ये केवल कल्पनाएँ हैं और इनकी सत्यता संभव नहीं है, उसी समय भावों पर एक आघात लगता है और हम व्यक्तिगत वास्तविक सुख-दुःख के घेरे में फँस जाते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष, स्मृति-जन्य या कल्पना-प्रसूत जगत् के निर्दिष्ट रूप के बिंब-व्यापार से कभी अनुराग, कभी हास, कभी शोक, कभी क्रोध, कभी उत्साह, कभी भय, कभी विस्मय,

कभी घृणा और कभी विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। बाह्य जगत् की बिंब-प्रक्रिया के कारण संवेदन की तीव्रता से ये भाव रस-रूप में परिणत हो जाते हैं।

जैसा पहले लिखा गया है, भावों की इस प्रकार रस-रूप पराणति में स्वार्थ-भावना या व्यक्तिगत योग-क्षेम की चिंता रहने से रसोत्पत्ति में बाधा उत्पन्न हो जाती है। जैसे हमारे खेत पर बलात् कोई आक्रमण करने आता है। आक्रमणकारियों के उपद्रव का कल्पनात्मक बिंब-चित्र हृदय में खड़ा होता है और उनका सामना करने का भाव जाग्रत हो जाता है। हम उत्साह से परिपूर्ण होते हैं और हाथ में हथियार लेकर खेत की ओर चल पड़ते हैं।

यहाँ उत्साह में यथेष्ट तीव्रता है, किंतु वह भाव की सीमा को पार कर रस-क्षेत्र में नहीं पहुँच सकता; कारण वह उत्साह व्यक्तिगत स्वार्थ के संबंध से घिरा हुआ है। इस अवस्था में हम जो भी काम करेंगे, सब उस व्यक्तिगत स्वार्थ से ही प्रेरित होंगे। हृदय की रस-दशा को प्राप्त करने का यहाँ प्रश्न ही नहीं उठ सकता है। किंतु किसी गरीब के घर को, जिसके पास दूसरी कोई जमीन नहीं है और न रहने का दूसरा घर है, नीलाम कराकर कई क्रूर महाजन अपने सिपाहियों के साथ उसपर अधिकार करने के लिए आ रहा है। उस व्यक्ति के असह्य कष्ट की कल्पना कर जो एक निरवलम्ब जीवन का बिंब हृदय में आता है, उससे हमारी करुणा जग पड़ती है और उसकी रक्षा के लिए हृदय में उत्साह जाग्रत हो जाता है। उस महाजन को रोकने के लिए हम कमर कसकर तैयार हो जाते हैं। उस गरीब आदमी से हमारा व्यक्तिगत कोई संबंध नहीं, परहित और जीवन के सम्मान की भावना ऐसी तीव्र हो गयी है कि व्यक्तिगत योग-क्षेम को हमने भुला दिया है। हमारा 'स्व' 'पर' में निमज्जित हो गया है। उस अवस्था में उत्साह की वृद्धि के कारण जो एक अपूर्व आनंद की प्रतीति होती है, वही हृदय की रसात्मकता की कोटि के अंतर्गत है। देश-प्रेम या विश्व-प्रेम इसी कोटि में है।

**रसात्मकता तथा
'स्व' और 'पर'**

आत्म-विस्तार की परिधि जितनी बड़ी होगी, रसात्मकता उतनी ही दूर तक जा सकेगी, किंतु उसकी पूर्णता के लिए 'स्व' को 'सर्व' में लीन कर देना होगा, अपने को 'अपना', नहीं मानकर 'सब' के साथ तादात्म्य करा देना होगा।

हृदय की भाव-दशा या रस-दशा में क्रिया या व्यापार की कोई निर्दिष्ट भिन्नता नहीं रहती है। जो काम हम भाव-दशा में करते हैं उन सबका व्यापार रस-दशा में भी होता है।

किंतु भाव-दशा में जहाँ कर्मों की आधार भूमि व्यक्तिगत हानि-लाभ या योगक्षेम है वहाँ रस-दशा के संपूर्ण कर्म वैयक्तिकता से रहित इंद्रियों के व्यापार मात्र हैं। परीक्षा देनेवाला विद्यार्थी अपने पाठ्य-ग्रंथ को पढ़ते हुए व्यक्तिगत हानि-लाभ की भावना के कारण उसके अध्ययन से किसी प्रकार का यथार्थ आनंद नहीं प्राप्त कर सकता है; किंतु उसी ग्रंथ को पढ़कर अन्य व्यक्ति, जिसको परीक्षा या अन्य स्वार्थमूलक व्यापार का कोई बंधन नहीं है, वास्तविक आनंद प्राप्त करता है। पहले का कर्म भाव-क्षेत्र में और दूसरे का रस-क्षेत्र में गतिशील कहा जा सकता है। रस-दशा के ऐसे व्यापार को ही गीता में 'निःसंग कर्म' कहते हैं। इसमें किसी प्रकार का भय या संशय नहीं रहता है। परीक्षा देनेवाले विद्यार्थी का ग्रंथाध्ययन इस संशय के साथ रहता है कि परीक्षा में उत्तीर्ण होऊँगा कि नहीं, इसी कारण उसको आनंद नहीं मिल सकता; किंतु दूसरे व्यक्ति हृदय की उस संशयशील वृत्ति को छोड़कर उसका अध्ययन निःसंग

भाव से करते हैं ; इसलिए वे आनंद प्राप्त करते हैं । यही अवस्था वकील या डाक्टर की है । जब वे अपना मुकदमा या अपनी या अपने प्रिय संबंधी की चिकित्सा करते हैं तब व्यक्तिगत हानि-लाभ की भावना से उनके हृदय की वृत्ति संशयशील बनी रहती है; किंतु जब वे दूसरे का मुकदमा या चिकित्सा करते हैं तब उन व्यापारों के प्रति उनकी भावना व्यक्तिगत संबंधहीन रहती है । ऐसे व्यक्तियों के पिछले ढंग के व्यापार को रस-दशा के कार्य कहे जा सकते हैं । किंतु पूर्ण रसात्मकता का बोध इनमें इसलिए नहीं होता है कि आर्थिक लाभ या यश-प्राप्ति की अभिलाषा के कारण उनका हृदय संपूर्ण रूप से निःसंग नहीं हो पाता है । जहाँ ऐसी चिंता नहीं है, वहाँ वह रस-दशा की कोटि के अंतर्गत है । कर्मक्षेत्र में व्यक्तिगत स्वार्थ जितना ही कम रहेगा, उत्साह का आनंद उतना ही अधिक प्राप्त होगा । यही कारण है कि रस अथवा आनंद की उपलब्धि और उपभोग सबके लिए समान रूप से संभव नहीं हैं ।

रस-दशा के व्यापार का एक और लक्षण है कि उसमें एक प्रकार की प्रेषणीयता रहती है । ऐसे व्यापार को देखकर अन्य लोगों के हृदय में भी उसी प्रकार का कार्य करने या उसके कार्य में सहयोग देने की भावना उत्पन्न हो जाती है और तदनु रूप वे क्रिया-तत्पर हो जाते हैं । इसका कारण है कि स्वार्थ अथवा वैयक्तिकता का रस-दशा के व्यापार परिहार कर देने से हृदय की भावना उस ऊँचे स्तर पर पहुँच जाती है, का लक्षण

जहाँ से वह समान रूप से सबके हृदय को प्रभावित कर सकती है । यही कारण है कि सबके कर्मों की गति एक ही ओर अभिसुख हो जाती है । किसी अबला पर अत्याचार करनेवाले दुष्ट को जब निःस्वार्थ होकर कोई व्यक्ति रोकने जाता है तब स्वभावतः अनेक व्यक्ति उसके साथ हो जाते हैं । सार्वजनिक या देश-सेवा का कार्य करनेवालों के साथ लोगों की सहकारिता का यही रहस्य है । यदि सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं को सर्व-साधारण का सहयोग नहीं मिल रहा है तो मानना होगा कि उसने व्यक्तिगत स्वार्थ का परिहार नहीं किया है । रसात्मक-बोध की दशा में हृदय सर्वमय हो जाता है इसलिए सब उससे अनुप्राणित होते हैं ।

काव्य-विधान में रस का विनियोग जानने के पूर्व काव्य की सृष्टि और उसके उपक्रम पर ध्यान देना होगा । काव्य कलाकृति का एक उत्कृष्ट रूप होने के कारण मनुष्य के स्वाभाविक क्रिया-कलाप से संपूर्ण भिन्न है । काव्य ऐसा शब्द-काव्य की सृष्टि और चित्र है जिसमें कलाकार किसी वस्तु या घटना की सहजानुभूति से प्राप्त उसका उपक्रम बिंब को एक स्वतंत्र वस्तु बना लेता है और उसी को भाषा के आवरण के साथ संसार के सम्मुख उपस्थित करता है । ऐसे काव्य-विधान में कलाकार अपने आत्मभाव और व्यक्तित्व की छाप देकर उसको रसात्मक और व्यक्तित्व परिचायक बना देता है । यह सत्य है कि ये कार्य कवि की भावात्मक सत्ता के ही परिणाम हैं, किंतु काव्य की रचना हृदय की साम्यावस्था में ही हो सकती है । भाव की तीव्रता के समय का व्यापार, कला की वस्तु नहीं होकर, हृदय के विकार का अनुभावमूलक कार्य होगा । कला की स्थिति उसमें संभव नहीं । भाव का वेग शांत हो जाने के बाद जब हृदय सत्त्व-गुण-प्रधान हो जाता है तभी रस की प्रतीति या व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा संभव है । इस

प्रकार बाह्य जगत् की वस्तु या घटना का बिंब कलाकार की विधायकता के साथ उसका आत्मभाव और व्यक्तित्व की छाप लेकर वाणी के रूप में जो प्रस्तुत होता है, वही काव्य है। अंतरात्मा से बाह्य जगत् का संबंध सबके लिए समान रूप से नहीं रहता, इसलिए भावों की अभिव्यक्ति में एकरूपता नहीं रहती। ज्ञानेंद्रियों से प्राप्त बाह्य जगत् के मूल बिंब को भाव और कल्पना से विस्तृत करके काव्य के रूप में आत्माभिव्यक्ति की जाती है। 'नौका-

विहार' शीर्षक कविता में काव्य गंगाजी की धारा में, चाँदनी रात के समय, नाव से घूमे हैं। प्रकृति का मनोरम दृश्य देखकर उनके हृदय

काव्य-रूप में
आत्माभिव्यक्ति

पर उसका जो बिंब प्रतिष्ठित हुआ, उसमें कल्पना की विधायकता का संयोग देकर कवि वास्तविक दृश्य को भौति-भौति से देखने लगे हैं। कविता लिखने के समय नौका या गंगा की धारा का बाह्य रूप उनके सामने नहीं है। वह तो रस-दशा में अंतरस्तल की जिन आँखों से उसे देख रहे हैं, उसके चलते 'आसमान हिल रहा है'; 'तारे आँखें खोलकर आकाश को प्रकाशित करते हुए कुछ खोज रहे हैं'; 'लहरें उठकर अंगना-जैसी तारे-रूपी दीपों को अंचल के नीचे छिपाये फिरती है'; आसमान के ओभल होने के साथ शुक्र तारा की छवि भी परी के समान पैरती हुई चाँदनी-सहित छिप जाती है'; 'दशमी तिथि का कुछ ब्रह्म चंद्रमा मुग्धा के समान लहरों में लुक-छिपकर अपना मुँह दिखलाता है'; प्रेमी के समान नदी के दोनों तट दोनों हाथों-जैसे धारा-रूपी कोमलांगी को आलिंगित करने को व्याकुल हैं, जिसको तट पर की वृक्ष-पंक्ति टेढ़ी बाँहों से और आकाश नीली आँखों से देख रहा है'; 'माँ की छाती पर सोये हुए बच्चे के समान एक द्वीप धारा के ऊपर स्थिर होकर प्रवाह को मोड़ दिया करता है'; 'चाँदनी में अपनी ही छाया को देखकर उसे कोकी समझ कोक उससे मिलने को व्याकुल हो रहा है'। इत्यादि इस दृश्य-विधान में जितने चित्र अंकित

१.

नौका से उठती जल-हिलार,
हिल पड़ते नभ के ओर-छोर।
विस्फारित नयनों से निश्चल कुछ खोज रहे चल तारक दल;
ज्योतिष कर नभ का अन्तरस्तल,
जिनके लघु दीपों को चंचल, अंचल की ओट किए अविरल
फिरती लहरें लुक-छिप पल-पल।
सामने शुक्र की छवि भलमल, पैरती परी-सी जल में कल,
रूपहरे कचों में हो आभल।
लहरों के धूँध से झुक-झुक दशमी का शशि निज तिर्यक मुख
दिखलाता, मुग्धा - सा रुक-रुक।
अब पहुँची चपला बीच धार-
छिप गया चाँदनी का कगार।
दो बाँहों से दूरस्थ - तीर धारा का कृश कोमल शरीर
आलिंगन करने को अधीर।
अति दूर, क्षितिज पर विटप-माल, लगती झूँखा-सी अराल;
अपलक - नभ नील - नयन विशाल।
माँ के उर पर शिशु-सा, समीप, सोया धारा में एक द्वीप।
उमिल प्रवाह को कर प्रतीप;
वह कौन विहंग ? क्या विकल कोक उड़ता, हरने निज विरह-शोक ?
छाया की कोकी को विलोक।

—पंत : ग. जन—'नौका-विहार'

किए गए हैं उनकी वास्तविकता ज्ञान-सापेक्ष नहीं है। आकाश द्रव्य-रूप में कोई वस्तु नहीं है, जो हिल-डुल सके ; तारे कोई जीव नहीं हैं कि अपनी आँखें खोल किसी वस्तु को खोज सकें ; लहर स्त्री नहीं, न तारे दीपक हैं जिनको वह अंचल की ओट में छिपाए फिरती है; शुक्र तारा की छवि परी नहीं हो सकती, न चंद्रमा मुग्धा बन सकता है; तटों में मानवी सजीवता नहीं आ सकती कि वे अपनी प्रियतमा का आलिंगन करने को व्याकुल दिखाई पड़ें। किंतु कवि अपनी तदाकार वृत्ति से इन वस्तुओं में आत्मरूप निरूपित कर संपूर्ण मानवी व्यापार इनसे कराते हैं। यही आत्माभिव्यक्ति सर्वत्र काव्य में प्रकट की जाती है। जहाँ वस्तुओं के वर्णन में आत्मरूप-निरूपण नहीं कर केवल उनकी प्राकृतिक स्थिति का विधान किया जाता है वहाँ वह काव्य नहीं होकर केवल वस्तु-विधान होगा।

रसोत्पत्ति के साधन और रस-परिपाक :-

पिछले प्रकरण में दिखलाया गया है कि रस का पूर्व-रूप भाव है। भाव बाह्य वस्तु की प्रतिक्रिया से उत्पन्न अंतरात्मा के संयोग से मन का विकार है। मन की रचना ऐसी श्रद्धुत है कि शरीर के किसी अंश में किसी प्रकार का विकार होते ही आत्मा की भावुकता के कारण चट उसका संवाद मन तक पहुँच जाता है। स्वयं मानव-शरीर में जब किसी बात की आवश्यकता होती है तब उसका भी संवाद मन तक पहुँच जाता है और मन उस आवश्यकता को पूरा करने के प्रयत्न में अपनी शक्ति लगाने लग जाता है। उन आवश्यकताओं के पूर्ण होने पर आनंद होता है और अपूर्ण होने की अवस्था में दुःख का प्रादुर्भाव होता है।^१

भाव और इच्छा प्रत्येक भाव का मूल रूप इच्छा है। आलंबन के संयोग से इच्छा के रूपों के अनुसार भाव असंख्य हैं। इनका परिचालन कभी सुख की ओर होता है, कभी दुःख की ओर। ऐसा भी होता है, जब सुख या दुःख किसी ओर परिचालित नहीं होता और भाव सम स्थिति में रहता है। सुख के भाव मनुष्य को अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर करते हैं और दुःख के भाव इसके विपरीत, कार्य की गति को रोकने का प्रयत्न करते हैं।

मनुष्य इच्छाओं और विचारों का ही रूप है; इसलिए भावात्मक सत्ता पर ही उसका अस्तित्व निर्भर करता है। जिस सुख या दुःख की ओर ये भाव परिचालित होते हैं, उसका कोई निर्दिष्ट रूप नहीं है। चेतना के साथ आघात की एक निश्चित सीमा के भीतर कोई वस्तु सुख का और उसके बाहर वही वस्तु दुःख का कारण हो जाती है। आग की गर्मी एक सीमा तक शरीर को सुख पहुँचाने-

मनुष्य और भावात्मक सत्ता वाली है और उसके बाद ही वह कष्ट देनेवाली हो जाती है। शरीर को गुदगुदाना एक अंश तक सुखदायक प्रतीत होता है, किंतु उसका व्यापार अधिक वेग से या विलंब तक होना बड़ा ही कष्टदायक होने लगता है। किसी व्यक्ति का फिसलकर गिर जाना, उसकी चोट नहीं पहुँचने की अवस्था में, लोगों की हँसी का ; और जोर से चोट

सुख-दुःख के कारण लगने पर उसके पाँव टूट जाने की अवस्था में, सबकी करुणा या शोक का कारण हो जाता है। इससे यही अनुमान होता है कि सुख-दुःख का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। हम वेदना या आघात के जितने अंश

को पचा ले सकते हैं उतने अंश तक हमारे लिए कोई वस्तु सुख का और उसके बाद वही दुःख का कारण है। नैयायिकों ने, इसीलिए, 'अनुकूल वेदनीयं सुखम्, प्रतिकूल वेदनीयं दुःखम्' कहकर दोनों को वेदना-रूप ही माना है। यहाँ वेदना का अभिप्राय कष्ट नहीं, बल्कि संवेदन (Feeling, Sensation) है। अध्यात्म-शास्त्र के अनुसार जब सृष्टि के बाह्य पदार्थों का इंद्रियों से संयोग होता है तब सुख या दुःख की वेदना उत्पन्न होती है। सुख-दुःख का विवेचन यहाँ आलोच्य विषय नहीं है। काव्य-क्षेत्र में सुख और दुःख भिन्न-भिन्न दो वृत्तियाँ हैं। आत्मा का विस्तार और संकोच सुख-दुःख है। केवल कार्य-परंपरा से सुख-दुःख का अनुमान नहीं किया जा सकता। कभी-कभी एक ही कार्य किसी को सुख पहुँचानेवाला और दूसरे के लिए दुःखदायक हो जाता है। शीत से ठिठुरते हुए किसी वस्त्रहीन व्यक्ति को स्नान कराने में कुछ अमीर आदमियों का बड़ा मनोरंजन होता है—

भाव और
सुख-दुःख की
स्थिति

उन्हें आनंद मालूम होता, जब दूसरे सहृदय व्यक्ति उस दृश्य से अत्यंत दुखी होते हैं। इच्छाओं से परिचालित होकर भाव इसी प्रकार सुख या दुःख की स्थिति में रहते हैं। बाबू श्यामसुंदर दास ने 'साहित्यालोचन' में भाव के तीन वर्ग किए हैं—इंद्रिय-जनित भाव, ज्ञातमक भाव और

गुणात्मक भाव। शरीर की आंतरिक आवश्यकता का स्वतः-उत्पन्न बोध पहली श्रेणी का भाव है; जैसे—जुधा, तृष्णा आदि। संसार के अनुभवों को एकत्र कर उनसे ज्ञान प्राप्त करने का

प्रयत्न करनेवाला भाव दूसरी श्रेणी का है; जैसे—चिंता, उद्वेग इत्यादि।

भाव के तीन वर्ग सब संचारी भाव इसी दूसरी श्रेणी के हैं। तीसरी श्रेणी के भाव वे हैं

जिनके द्वारा मन मनुष्य के विचारों को एकत्र कर किसी विशेष लक्ष्य का स्वरूप खड़ा करने या उस लक्ष्य को पूर्ण या प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। अनुराग, कोध, उत्साह प्रभृति ऐसे ही भाव हैं। भाव बाहर से नहीं आता। उसकी स्थिति तो सदैव हृदय में रहती है। इच्छा के संयोग से उसमें केवल वेग आ जाता है। अपने देश की रक्षा के लिये कर में कृपाण लिये वीर-वेश में किसी व्यक्ति को बाहर निकलते देख हमारे मन में जो साहसिकतापूर्ण आनंद का उद्रेक होता है उसी को 'उत्साह' कहते हैं। देश-रक्षा के हेतु प्राणोत्सर्ग के लिए तत्पर व्यक्ति की वीरता से मन में 'गर्व' का संचार होता है। उस व्यक्ति के वीरोचित कार्य से देश की रक्षा के बाद लोगों को जो सुख होगा उसकी भावना से 'हर्ष' उत्पन्न होता है। ये सभी भाव सुख-मूलक हैं। दुःख-मूलक भावों की भी ऐसी ही स्थिति है। किसी रोगी को अत्यंत कष्ट-पीड़ित देख हमारे चित्त की जो विषादात्मक अवस्था होती है, उसमें रोगी के कष्ट के प्रति हृदय की संवेदना में जो मूल रूप करुणा है, उसके साथ-साथ जब हम सोचने लगते हैं कि कहीं रोगी की मृत्यु न हो जाय, तो शंका खड़ी हो जाती है; उसकी मृत्यु के उपरांत रोगी के परिवार को जो कष्ट होगा, उसके अनुमान से विषाद हो जाता है; पति को खोकर रोगी की विधवा पत्नी अपना जीवन-निर्वाह किस प्रकार कर सकेगी, इसके कारण चिंता हो उठती है; न मालूम किस समय उसका देहावसान

मूल भाव और
सहायक भाव

हो जाय, इसके लिए 'त्रास' उत्पन्न हो जाता है। ऐसे एक के साथ अनेक भाव उठ कर हृदय को विचलित कर देते हैं। इससे यही स्पष्ट होता है कि सुख या दुःख, दोनों ही अवस्था में मूल या रागात्मक भावों के साथ अनेक

सहायक भावों के व्यापार होते रहते हैं। भावों के वेग या गतिशीलता की अवस्था में, उनकी

अनुभूति के कारण मनुष्य स्थिर नहीं रह सकता है और उसमें भौति-भौति के कायिक, वाचिक, मानसिक या सार्विक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। सुख की अवस्था में हँसना, विनोद करना, आलाप करना, कटाक्ष करना, अंग फड़काना, रोमांच होना तथा इस प्रकार के अन्य उत्कीर्णतामूलक कार्य होते हैं। दुःख की अवस्था में भी व्यापार का रूप तो वैसा ही रहता है, किंतु उसकी

भावों के अनुरूप कार्य-कलाप

दिशा बदली रहती है। जहाँ सुख में फैलने-फैलानेवाले कार्य होते हैं, वहाँ दुःख में संकीर्णता-सूचक सिकुड़ने-सिकोड़ने की क्रियाएँ होती हैं। दुःख में रोना-धोना, गिरना, होंठ काटना, भाँह सिकोड़ना, कंपित होना, नक मूँदना प्रभृति ऐसे कार्य होते हैं जिनसे हृदय की वृत्ति संकीर्ण हो जाती है। ऐसे व्यापारों द्वारा जिन भावों का अनुभव किया जाता है उनमें कुछ स्थिर और प्रमुख रहते हैं, अन्य चंचल और उनके सहायक। स्थिर अथवा चंचल भावों का कोई निर्दिष्ट क्षेत्र नहीं है, न वे बराबर स्थिर या चंचल ही रहते हैं। एक स्थान पर जो स्थिर भाव है वही अन्यत्र

सहायक या चंचल हो जाता है। 'क्रोध' कहीं स्थिर रहता है तो 'करुणा'

भाव की अस्थिरता उसकी सहायक हो जाती है। और 'करुणा' जहाँ स्थिर है, वहाँ 'क्रोध' ही उसका सहायक हो जाता है। रति की प्रधानता रहने पर 'उत्साह' उसकी सहायता करता है और 'उत्साह' प्रधान होने पर 'रति' उसकी सहायता करती रहती है। इस प्रकार किसी वस्तु या व्यापार को देख-सुनकर एक स्थिर या प्रधान भाव और एकाधिक संचरणीय या सहायक भाव खड़े हो जाते हैं। इन भावों और इनकी अनुभवक्रियता का आधार किसी वस्तु या घटना का संवेदनगत बिंब-व्यापार है। ऐसी बिंब-प्रक्रिया में एक प्रधान भाव अन्य सहायक भावों-सहित विशेष अनुभव-व्यापार द्वारा चैतन्य के संयोग से इस रूप को प्राप्त होता है। इसी को पूर्व आचार्यों ने विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के योग से स्थायी भावों का परिपक्व होना कहा है। रस की अवस्था बड़ी सूक्ष्मताओं को साथ लिये रहती है। उस अवस्था में स्वार्थ या वैयक्तिकता का संपूर्ण परिहार हो जाता है। जहाँ योग-क्षेम की किंचित भी भावना रहती है, वहाँ रसानुभूति नहीं हो सकती। बच्चे जब गुड़ियों का व्याह रचाने लगते हैं तब उनको ऐसा थोड़े ही ख्याल होता है कि वे भूट-मूट कोई काम कर रहे हैं। ऐसे व्याह में उनको अपने स्वार्थ के लिए कुछ करना नहीं रहता। उनको उसमें इसलिए आनंद मिलता है कि व्यक्तिगत योग-क्षेम को वे विस्मृत किए रहते हैं। किसी वयस्क या बूढ़े को उस काम में इसलिए आनंद नहीं मिलता है कि उसकी वैयक्तिक भावना स्पष्ट होकर वैसे व्यापार में केवल समय की विनष्टता सम्मुख लाती है। जहाँ बच्चों के साथ वैयक्तिकता विस्मृत होकर तादात्म्यता प्रत्यक्ष हो जाती है वहाँ वयस्कों के निकट वैयक्तिकता का एक संकीर्ण घेरा खड़ा हो जाता है जिसके बीच से वे तादात्म्य का अनुभव ही नहीं कर सकते हैं। यथार्थ में रस या आनंद न बिंब में रहता है और न उससे

रस या आनंद उपलब्ध मात्र

प्रकट भावों के व्यापार में। वे तो उपलब्धमात्र हैं। उनके संयोग से आनंद केवल निरावरण हो जाता है और हम आत्म-रूप से उसका आस्वादन करने लगते हैं। यह आनंद अनुभव की वस्तु नहीं है। अनुभव की अवस्था का आनंद रस-रूप नहीं हो सकता। कारण, उस समय अनुभवकर्त्ता को सुख-दुःख की स्थिति

का प्रत्यक्ष ज्ञान रहता है—अपने व्यक्तित्व का संपूर्ण परिहार दिखाई नहीं पड़ता है। किंतु आस्वादन की अवस्था में व्यक्तिगत सत्ता का अस्तित्व रहता ही नहीं।

रस का अनुभव और आस्वादन इसलिए सुख-दुःख का व्यापार होते हुए भी सुख-दुःख की स्थिति से व्यक्ति को हर्ष या विषाद नहीं होता है। रस परिपक्व होकर आस्वादन की अवस्था में पहुँच जाता है। प्रत्यक्ष जीवन-व्यापार में जिस प्रकार रस-दशा की प्राप्ति के लिए अपेक्षित साधनों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार काव्य-क्षेत्र में भी रस परिपाक का निर्दिष्ट विधान है। उदाहरण में विभोर होकर हम यों ही मरने-मारने को उद्यत नहीं होते हैं। उसके लिए विपत्तियों की उपस्थिति, उनका आक्रमणात्मक व्यापार, उसके कारण चित्त में नाना प्रकार के भावों के प्रभाव से अपनी उत्तेजित अवस्था का अनुभव अपेक्षित है। ऐसी अवस्था में चैतन्य के योग से हृदय में जो वीरता का संचार होगा, वही रस की स्थिति कहलायगी। काव्य में ये सभी व्यापार अपेक्षित हैं। अन्तर इतना ही होता है कि प्रत्यक्ष जीवन-व्यापार में हम अपने में बँधकर स्वयं सब कुछ अनुभव करते, किंतु काव्य में किसी आश्रय के साथ अपनी तदाकार-वृत्ति से उनका अनुभव करते हैं। वहाँ हमारी वैयक्तिक सत्ता का परिहार हो जाने के कारण सुख-दुःख का हमारे व्यक्तिगत जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वहाँ हम आनंद-स्वरूप, रस-स्वरूप रहते हैं। हमारा व्यक्तित्व काव्यगत पात्र-रूपी आश्रय के साथ तदाकार होने के बाद स्वतंत्र हो जाता है और उस अवस्था में हमें सर्वत्र आनंद का ही साक्षात्कार होता है। उदाहरणस्वरूप 'साकेत' के इस वर्णन को देखिए—

नंगी पीठ बैठकर घोड़े को उड़ाऊँ कहो,
किंतु डरता हूँ मैं तुम्हारे इस भूले से।
रोक सकता हूँ उरुओं के बल मे ही उसे
टूटे भी लगाम यदि मेरी कभी भूले-से ॥
किंतु क्या करूँगा यहाँ? उत्तर में मैंने हँस
और भी बढ़ाये पेंग दोनों ओर ऊले-से।
'हैं-हैं' कह लिपट गये थे यहीं प्राणेश्वर
बाहर से संकुचित भीतर से फूले-से ॥१॥

इसमें कविने उर्मिला के विरह-दशा-वर्णन में उसके ही मुख से लक्ष्मण के साथ वार्ता-लाप का यह कथन कराया है। काव्य की अर्थभूमि को पार करने पर एक अनुरागात्मक दृश्य का बिंब हृदय पर उतर आता है। उर्मिला भूले पर भूल रही है और अपने प्राणपति लक्ष्मण को भी उस पर चढ़ कर भूलने के लिए आग्रह करती है। लक्ष्मण वैसा करने से डरते हैं और कहते हैं कि 'घोड़े की नंगी पीठ पर चढ़ कर उसको जहाँ-तहाँ दौड़ाना और उस समय लगाम टूट जाने पर भी अपनी जाँघ के बल से उसे रोक लेना मेरे लिए सहज है, किंतु तुम्हारे इस भूले पर चढ़ना कठिन है। कारण कहीं टूट जाय तो मैं शायद ही कुछ कर सकूँ। उनकी इस बात से उर्मिला को अपनी

साहसिकता में और भी उत्तेजना मिली, एवं वह झूले पर जोर से हिल उठी । यह देख भय और आशंका के मारे प्रेम-वश 'हैं-हैं' कह कर लक्ष्मण एक ओर संकोच और दूसरी ओर अनुराग-भरे हृदय से उर्मिला के शरीर से लिपट गए । 'अर्थ में सिमटे हुए छंद की एक-एक पंक्ति से भिन्न-भिन्न बिंब-चित्रों का एक समारोह खड़ा हो जाता है । एक तरफ लक्ष्मण के उत्साह और साहस के चित्र, दूसरी तरफ उनकी संशंका, भयातुरता, आवेग इत्यादि के चित्रों के बीच उर्मिला की साहसिकता और विनोद-प्रियता के चित्र के आधार पर वृत्त में लटके हुए झूले और एकांत स्थान की रमणीयता के जो चित्र उपस्थित होते हैं, उनसे पाठक या श्रोता की वृत्ति लक्ष्मण या उर्मिला के व्यापार से तादात्म्य स्थापित कर लेती है । लक्ष्मण के 'हैं-हैं' कह कर उर्मिला के शरीर से लिपट जाने का अनुभव करते हुए पाठक या श्रोता के हृदय में जो रति भाव परिपक्व हो जाता है, उसमें वह अपने व्यक्तित्व को भूल जाता है । यही रसानुभूति की दशा है । रस-परिपाक में घटनाओं का ऐसा क्रम रहना चाहिए जिससे बढ़ते हुए भाव के वेग में किसी प्रकार का व्याघात न हो सके । अनुरागवर्द्धक घटनाओं के बीच यदि भयानकता का समावेश हो गया तो रस-परिपाक नहीं हो सकेगा । आलंबन धर्म का साधारणीकरण हुए बिना रस-परिपाक नहीं हो सकता । उपर्युक्त कविता में लक्ष्मण या उर्मिला के व्यापार को यदि इस रूप में नहीं रखा जा सकता कि वह सबके हृदय की अनुरागात्मक वृत्ति को समान रूप से उत्प्रेरित करे तो उसके प्रति तादात्म्य नहीं होगा । रसानुभूति के समय काव्य द्वारा प्रस्तुत चित्र की सत्यता के विश्वास से पाठक का हृदय तादात्म्य का अनुभव करने लगता है, इसके लिए आवश्यक है कि ऐसे चित्रों के पात्र मानवता की साधारण प्रवृत्ति के अनुसार कार्य करते हों । जहाँ ऐसा नहीं होगा वहाँ पात्रों के प्रति हृदय की रागात्मक वृत्ति क्रिया-तत्पर नहीं होगी, तब न तो तादात्म्य स्थापित हो सकेगा और न रसानुभूति की स्थिति ही होगी ।

रसानुभूति की दशा

रसानुभूति और जीवन

जीवन के निर्माण और उसकी गति-विधि पर ध्यान देने से पता चलता है कि मनुष्य भावनाओं, इच्छाओं और विचारों का मूर्त रूप है । किसी व्यक्ति के परिचयात्मक बोध के लिए उसकी इच्छाओं और विचारों एवं उनसे उत्प्रेरित कार्यों की ओर ध्यान देना पड़ता है । कोई व्यक्ति महान् या बड़ा इसलिए समझा जाता है कि उसकी भावनाएँ, उसके संकल्प तथा उसके विचार उच्च हैं । इसके विपरीत जिनकी भावनाएँ और संकल्प तथा विचार तुच्छ होते, वे लघु कोटि के समझे जाते हैं । ये भावनाएँ, संकल्प तथा विचार क्या हैं, इसके ज्ञान के लिए हमें इंद्रियों और उनके व्यापार पर ध्यान देना होगा । मानव-शरीर की रचना में जिन त्रिविध रूपों—कारण, सूक्ष्म और स्थूल—का विवेचन किया जाता है, उनमें स्थूल और सूक्ष्म रूपों का ही संबंध प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है । सृष्टि की उत्पत्ति और जीव के विकास के संबंध में इतनी अधिक विचार-भिन्नता रहती आई है कि कोई एक निश्चित पथ ग्रहण करना कठिन हो जाता है । काव्य का संबंध मानव-हृदय से होने के कारण मनुष्य-शरीर के बाह्य और आंतरिक दोनों रूप उसे मान्य हैं । भारतीय विचारों की एक धारा के अनुसार दोनों

के मूल उपादान एक ही पंचतत्त्व हैं जिनके भिन्न रूप-मिश्रण से स्थूल और सूक्ष्म शरीर का निर्माण हुआ है। ये तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। शारीरिक अवयवों में पृथ्वी-तत्त्व की प्रधानता के साथ अन्य तत्त्वों के योग से अस्थि, मांस, त्वचा, नाड़ियाँ और रोम; जल-तत्त्व की प्रधानता के साथ अन्य तत्त्वों के योग से शुक्र, रुधिर, लार, मूत्र और स्वेद; तेज-तत्त्व की प्रधानता के साथ अन्य तत्त्वों के योग से क्षुधा, तृष्णा, आलस्य, निद्रा और क्लृप्ति; वायु-तत्त्व की प्रधानता के साथ अन्य तत्त्वों के योग से श्वासोच्छ्वास, शरीर का प्रसरण, शरीर का आकुंचन, शरीर की चेष्टा और शरीर के चलने की क्रिया तथा आकाश-तत्त्व की प्रधानता के साथ अन्य तत्त्वों के योग से शोक, क्रोध, काम, भय और मोह बने हुए हैं। यह स्थूल शरीर की रचना का क्रम है। सूक्ष्म शरीर के लिए भी ऐसा ही विधान है। उसमें आकाश-तत्त्व की प्रधानता के साथ अन्य तत्त्वों के योग से अंतःकरण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार; वायु-तत्त्व की प्रधानता के साथ अन्य तत्त्वों के योग से पंचप्राण (व्यान, समान, उदान, प्राण और अपान); तेज-तत्त्व की प्रधानता के साथ अन्य तत्त्वों के योग से पाँच ज्ञानेंद्रियाँ (श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राणेंद्रिय); जल-तत्त्व की प्रधानता के साथ अन्य तत्त्वों के योग से पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, शिश्न और गुदा) तथा पृथ्वी-तत्त्व की प्रधानता के साथ अन्य तत्त्वों के योग से इंद्रियों द्वारा ग्रहण किए जानेवाले विषय (पंच तन्मात्रा—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध) निर्मित हुए हैं। इस प्रकार पंच-तत्त्वों के भिन्न-भिन्न रूप-गुण, जो प्रकृति के विकार कहे जाते हैं, चेतन-धर्मा पुरुष या जीव के साथ मिलकर मानव-शरीर का व्यक्त रूप प्रकट करते हैं। इस शरीर-रचना के भीतर कार्य-कारण-परंपरा के परिणामस्वरूप इच्छा और कर्म का प्रभाव मानव-प्रकृति और व्यापार के रूप में किस प्रकार विभिन्नता उत्पन्न कर देता है इसपर विचार करना काव्यक्षेत्र का विषय नहीं है। काव्य को इसे मानकर ही आगे बढ़ना होता है कि मानव-शरीर और अंतःकरण के मूल उपादान सामान्य रूप से सबमें एक ही हैं। जीवन की गति में भिन्नता इंद्रियों का बाह्य व्यापार है। यही कारण है कि संपूर्ण व्यष्टि-मानव का प्रत्येक कार्य, प्रत्येक गति, प्रत्येक नीति, प्रत्येक आकृति, प्रत्येक कथित शब्द और फिर उसका समस्त जीवन, जो समष्टि में एकत्व का परिचायक है, एक ही मनोभाव द्वारा शासित होता है।^१

मानव-रचना में भेद के कारण वह मनोवेग इच्छा के साथ चैतन्य का योग है। इसलिए मनुष्यमात्र की भावात्मक सत्ता में एकरूपता स्थिर होने के बाद इच्छाओं, संकल्पों और विचारों के अनुसार उनमें अच्छे-बुरे, खोटे-खरे, ऊँच-नीच, महान्-लघु आदि का विभाजन होता है। इच्छा जीवन के केंद्र में स्थित वह शक्ति है जो अपनी गति के साधन-स्वरूप एक ओर मनुष्य के शारीरिक तथा मानसिक कार्यों को परिचालित करती है, दूसरी ओर

1. And every action, every movement, every attitude, every expression of face, every spoken word of every individual human being; and again his whole life, considered as a unity and in the mass, will be found to represent one 'ruling passion' if he be properly studied.

प्रत्यग्बोध का समाहार और साधारण ज्ञान की उपलब्धि के लिए अप्रत्यक्ष रूप से उक्त कार्यों का पथ निर्दिष्ट करती है। इच्छा का ही दृढ़ रूप संकल्प तथा प्रज्ञात्मक इच्छा, संकल्प, रूप विचार है। भाव इच्छा का यान है। मानव-व्यापार के विभिन्न क्षेत्रों में भाव के ही अनेक विध रूप दृष्टिगोचर होते हैं। क्रुधा, तृष्णा, न्याय-दया, काम-क्रोध, लोभ-मोह, घृणा-ग्लानि प्रभृति भाव के ही विभिन्न रूप हैं। इन्हीं भावों से परिचालित होकर मनुष्य नाना प्रकार के कार्य करते हैं। कुछ भाव शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ ही शांत हो जाते हैं। भोजन करने से क्रुधा मिट जाती है, जल पीने से तृष्णा शांत हो जाती है, किंतु कुछ भाव ऐसे हैं जिनकी शांति मानसिक स्थिति के परिवर्तन से ही हो सकती है। ऐसे भावों का संबंध सामान्य अवस्था में व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति से रहता है। मनुष्य का यह स्वार्थ सुख की प्राप्ति और दुःख से निवृत्ति में है। किसी अत्याचारी को दंड देकर हम 'न्याय' द्वारा सुख प्राप्त करते हैं। किसी असहाय को कुछ सहायता देकर हम 'दया' की रक्षा द्वारा सुख पाते हैं। उसी प्रकार किसी समाज-हित-विरोधी विषय के उपस्थित होने पर उसे दूर रखने की प्रेरणा करनेवाला जो दुःख घृणा कहलाता है, उसकी निवृत्ति के लिए उस विषय से हम भिन्न रहना चाहते हैं। इसी प्रकार अन्य भावों का भी व्यापार मनुष्य को व्यक्तिगत सुख-दुःख के घेरे में डाल देता है। दुःख के सजीव कारण के प्रति जो भाव उत्पन्न होता है, उसे क्रोध कहते हैं। हमारे लड़के को किसी ने पीटा, पीटने से बच्चे को चोट लगी, यह जानकर उस व्यक्ति के प्रति हमारा क्रोध भड़क उठता है। चोट लगने की भावना के साथ यदि हम ऐसा नहीं सोचते कि वह काम दुःख पहुँचाने के लिए ही किया गया है, तो हमें क्रोध नहीं होता। लड़के के अध्यापक यदि उसको पीटते हैं, तो चोट लगने की भावना तो बनी रहती है, किंतु यह सोचकर कि यह काम दुःख पहुँचाने के लिए नहीं किया गया, हमें क्रोध नहीं होता है। इससे यही प्रकट होता है कि लड़के को पीटने से उत्पन्न क्रोध का कारण हमारे व्यक्तिगत जीवन के स्वार्थ से संबद्ध है। पर ऐसा भी क्रोध देखा जाता है जो दुःख पहुँचाने की भावना पर खड़ा तो होता है, किंतु जिसका संबंध व्यक्तिगत स्वार्थ या हानि-लाभ से नहीं है; ऐसा क्रोध विशेष अवस्था में व्यक्तिगत योग-क्षेम के क्षेत्र से बाहर जाकर सार्वजनिक या लोकहित-संबंधी कार्यों के क्षेत्र में चला जाता है। अपने घर का हाता बंदाने के लिए कोई अत्याचारी धनी एक गरीब के घर को गिराना चाहता है, उसे रोकने की उस गरीब में शक्ति नहीं है। भय और त्रास के मारे वह केवल चिल्ला उठता है और लोगों से सहायता की याचना करता है। उस गरीब को दुःख होने की भावना से हमारे मन में उस धनी के प्रति क्रोध उत्पन्न होता है। हम उसको भला-बुरा कहने लगते हैं, अन्य लोगों की सहानुभूति हमारे साथ हो जाती है और हमारे ऐसे अनेक लोगों के मन में क्रोध उत्पन्न होने लगता है।

भाव का
साधारणीकरण

यही भाव का साधारणीकरण है। ऐसा ही भाव रसानुभूति से संबंध रखता है। व्यक्तिगत जीवन में चाहे जो भी भाव हो, जब साधारणीकरण द्वारा अन्य लोगों के भी भाव तदनु रूप होकर उन्हें उस रूप में क्रियातत्पर कर देते हैं, जिससे उनका व्यक्तिगत हानि-लाभ नहीं होता, तभी उनकी दशा सच्ची रसानुभूति की होती है। जीवन का यही यथार्थ रूप है। वहाँ वैयक्तिकता का कोई विभाजक बिंदु

नहीं है। रसानुभूति की ऐसी अवस्था ही आनंद की स्थिति या आत्म-दर्शन है। जब तक हम केवल व्यक्तिगत हानि-लाभ की भावना के आधार पर जीते हैं, तब तक यथार्थ आनंद की स्थिति से अपने को वंचित रखते हैं। व्यक्तिगत रसानुभूति का स्वार्थ स्थिति की अवस्था में आनंदोपलब्धि असंभव है। उस अवस्था में हम अपने को पराया बनाये रखते हैं। आनंद परब्रह्म का वाचक माना जाता है। अन्तःकरण के सत्त्वगुण-विशिष्ट दशा में ही उसकी अभिव्यक्ति संभव है। रसानुभूति की दशा उसी का पर्याय है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रसानुभूति के मूल में इच्छा ही नाना प्रकार के व्यापारों द्वारा जीवन को परिचालित करती है। जो बात लौकिक जीवन के पक्ष में सत्य है, वही काव्यगत जीवन में भी सत्य होती है। जीवन का एक ही ध्येय है आनंद। वह आनंद संकुचित क्षेत्र में विषयानंद, धर्मानंद, विद्यानंद प्रभृति के रूप में परिब्यक्त होकर विस्तृत क्षेत्र में ब्रह्मानंद कहलाने लगता है। आनंद का यथार्थ रूप व्यक्तिगत हानि-लाभ के बंधन का सर्वथा परिहार है। अपने हँसने के लिए, शीत से ठिठुरते हुए किसी गरीब को तालाब के ठंढे जल में डुबो-डुबोकर हम लाख हँसें, किंतु उस आनंद में लोक-हृदय साथ नहीं देगा। ऐसी इच्छा रसानुभूति की स्थिति उत्पन्न करने में कभी समर्थ नहीं होगी। रसानुभूति के लिए वैयक्तिक स्वार्थ भावना के परिहार की साथ-साथ हृदय की निर्विकार और निःसंशय स्थिति अपेक्षित है। विदेशियों के आक्रमण से अपने देश की रक्षा के लिए कमर कसकर बाहर निकलते हुए लोगों के मन में यदि ऐसा भाव रहा कि आक्रमणकारियों को निकालकर हम स्वयं देश का शासक बनेंगे अथवा हृदय की ऐसी संशयशील वृत्ति रही कि, जानें, आक्रमणकारी हमें मार दें, तो हमें यथार्थ आनंद नहीं प्राप्त हो सकता है। और, इसलिए उस अवस्था में रसानुभूति हो नहीं सकती।

रसानुभूति के लिए किसी वस्तु के प्रति भाव में स्थायित्व होना चाहिए। सुंदर-से-सुंदर वस्तु को देखकर भी यदि मन उस ओर आकृष्ट नहीं हुआ, तो वस्तु की सौंदर्यगत सत्ता भाव का उद्रेक नहीं कर सकती है। वस्तुगत सौंदर्य के साथ भावगत सौंदर्य का सामंजस्य होने से ही यथार्थ आनंद की प्राप्ति हो सकती है। काव्य के द्वारा आनंद तभी मिल सकता है जब उसमें वर्णित वस्तु हमारे भाव के अनुकूल पड़े। ऐसी अनुकूलता के लिए शिक्षा, संस्कृति, वातावरण तथा जातीय संस्कार की अनुरूपता अपेक्षित है। रामचरित मानस के वस्तु-विधान से जितना आनंद हिंदू-हृदय को हो सकता है, उतना अन्य को नहीं। 'पैरेडाइज लॉस्ट' पढ़कर इसाई-हृदय जितना आनंदित हो सकता है, उतना दूसरा नहीं। जीवन की सामान्य गति भावों के अनुरूप विषय को पाकर उसके साथ अपनी तन्मयता स्थिर कर देती है। काव्य का उद्देश्य ऐसे ही जीवन का विधान है जिसमें भाव जाग्रत होकर रसानुभूति के प्रवेश-द्वार में अध्यवसित हो जाय।

रस के भेद और उनका मनोवैज्ञानिक आधार

रस के आनंदस्वरूप होने के कारण वह एक है और उसका भेद नहीं किया जा सकता है। साहित्यशास्त्र में रस के भेद से अभिप्राय भावों के अनुरूप चित्त-वृत्तियों का

विभिन्न आस्वादन है। ये चित्त-वृत्तियाँ वासना-रूप से स्थित जीवन-परंपरा के अनादि उपकरण हैं। बाह्य जगत् के संपर्क से हृदय की तदनुकूल वासना उद्दीप्त हो जाती है रस का मूल रूप और वह आस्वादनीय हो जाती है। वासना-भेद से आस्वादन की इसी अविभाज्य है भिन्नता को उपलब्ध से रस का भेद माना जाता है। रस तो एक है और वह अविभाज्य है। जिस प्रकार वृत्ति का मूल रूप एक ही रहने पर भी स्वाद्य-वस्तुओं में विभिन्न स्वाद होते हैं, उसी प्रकार रस मूल रूप में एक ही रहते हुए चित्त-वृत्ति रूप-भावों की भिन्नता के कारण, उनके आस्वादन के आधार पर, उस के विभाग साहित्यशास्त्र में कर दिये गये हैं।

इस संबंध में पिछले प्रकरण में दिखलाया गया है कि जीवन-व्यापार का आधार इच्छाओं का वेग या भाव है। इच्छा और भाव भिन्न नहीं है। भाव स्थिति-रूप है, इच्छा गति-रूप। इच्छा का प्रादुर्भाव कब और क्यों हुआ, यह यहाँ प्रतिपाद्य नहीं है। उपनिषदों में जैसा वर्णन है, उसके अनुसार इच्छा अव्यक्त मूल शक्ति का प्रथम व्यक्त रूप है, जिसका आरंभ एकात्मकता से होकर सर्वात्मकता में अंत हो जाता है।^१ एकात्मकता से सर्वात्मकता तक पहुँचने में इच्छा के दो पथ हैं। एक का नाम राग और दूसरे का द्वेष है। भाव के यही दो मूल रूप हैं। न्याय-शास्त्र के आधार पर कुछ लोग 'मोह' नाम से भाव का तीसरा रूप मानते हैं। लौकिक जीवन में यही राग-द्वेष सुख और दुःख के अनुगामी कहे जाते हैं। न्यायसूत्र में जिसके द्वारा किसी विषय में आसक्ति होती है, उसे राग और जिसके द्वारा किसी विषय से विरक्ति होती है, उसे द्वेष कहा गया है।^२ जीवन में राग और द्वेष की स्थिति किसी-न-किसी रूप से बराबर रहती है ; इससे परे की अवस्था को 'वीतराग' की स्थिति कहा जाता है। इसी राग और द्वेष के आधार पर उठते और मिटते हुए अनेक भाव दिखाई पड़ते हैं। भाव एक वृत्ति-चक्र के रूप में है, जिसमें अनेक संवेगों का समन्वय रहता है। संवेग जब अपनी अस्थिरता को छोड़कर संश्लिष्ट रूप से हृदय में स्थिर हो जाते हैं तब उनका रूप भाव का हो जाता है। भाव शक्ति के रूप में एक ही है, भाव और संवेग किंतु जिस प्रकार एक ही विद्युत् की 'पॉजिटिव' (Positive) और निगेटिव (Negative) दो कार्य-दिशाएँ हैं, उसी प्रकार भाव की शक्ति भी सुख के

१. 'सोऽकामयत बहुस्याम् प्रजायेव इति'—तैत्तिरीय उपनिषद्
- 'तद् ऐषत बहुस्यां प्रजायेव इति'—छान्दोग्य उपनिषद्
- 'स ईक्षत लोकान् सृजा इति'—ऐतरेय उपनिषद्
- 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुमाविशत्'—तैत्तिरीय उपनिषद्

"The Primal Shakti manifests primarily as Desire—Libido, the will-to-be, as an individual separate from other individuals, having 'a life of my own' (and then as the Will-to-die, to sleep and rest, in and as the universal, in the Life of All)

Dr. Bhagwan Das : The Science of Emotions. P. 2

२. आसक्ति लक्ष्यो दोषः (रागः)
- अमर्ष लक्ष्यो दोषः (द्वेषः)—न्यायसूत्र ।

आकर्षण और दुःख के विकर्षण की ओर दो भिन्न दिशाओं में अपना व्यापार व्यक्त करती है। सुख और दुःख भिन्न वस्तुएँ नहीं होकर एक ही आत्मा के व्यापार के भिन्न परिणाम या रूप हैं। ज्ञान, इच्छा और क्रिया के रूप में अभिव्यक्त आत्मा के संपूर्ण जीवन को ये सुख-दुःख परिव्याप्त किए रहते हैं। 'स्व' की प्रसार वृत्ति का नाम सुख और आकुंचन वृत्ति का नाम दुःख है।^१ शास्त्र में इन्हीं सुखों या दुःखों की भिन्नरूपता को ग्रहण कर भावों के नाम और रूप की योजना की गई है। हमारा अभिप्राय भावों का मनोवैज्ञानिक विवेचन करना नहीं है, किंतु रस का भेद प्रतिपादित करने में भावों के विवेचन से ही कार्य आगे बढ़ सकता है, इसलिए उसपर थोड़ा विचार करना आवश्यक है।

संवेगों के संश्लेषण से जितने भाव प्रस्तुत होते हैं, उनमें थोड़े प्रधान होते हैं, अन्य गौण। भावों की प्रधानता और गौणता उनके पद या स्थान के अनुसार नहीं होकर क्रिया या व्यापार के अनुसार निर्धारित होती है। एक प्रधान और गौण भाव स्थान में जो प्रधान है, वह अन्यत्र गौण हो जा सकता है। इसलिए जो भाव विकसित या परिपक्व होकर रस-रूप होने लगता है, वह प्रधान और उसकी सहायता के लिए आए हुए अन्य भाव गौण कहलाते हैं। कोई भी भाव एकांत रूप से स्वनिर्मित नहीं हो सकता; हाँ, उसका विनियोग कहीं स्वाश्रित, कहीं अन्याश्रित होता है। अन्याश्रित भाग भी स्वाश्रित होने के बाद ही रस-रूप में परिणत हो सकता है। उत्पत्ति की अवस्था में भावों का चाहे जो रूप हो, उत्पन्न हो जाने के बाद कुछ भाव संक्रमणशील हो जाते हैं, जब अन्य में वह शक्ति ही नहीं रहती। इसी को भाव की प्रेषणीयता प्रेषणीयता कहते हैं। संक्रमणशील भावों के व्यापार के समय उनका प्रभाव अपने आश्रय से बहिर्गत होकर अन्य लोगों पर पड़ता है और वे तदनुकूल व्यापार करने को उद्यत हो जाते हैं। वीरता का आचरण देखकर अन्य लोगों के हृदय में भी उत्साह जग जाता है। प्रेमी-प्रेमिका की चर्चा सुननेवाले के हृदय में 'रति' जाग्रत हो जाती है। हास्यजनक व्यापार से अन्य लोग भी हँसने लगते हैं। किंतु किसी ईर्ष्यालु को देखकर दूसरे के ईर्ष्यालु होने की बात नहीं देखी-सुनी जाती। लज्जा की चर्चा से दूसरे लज्जित नहीं होते। किसी व्यक्ति के श्रांत हो जाने के वर्णन को सुनकर कहीं कोई 'श्रम' नहीं प्रदर्शित करता है। इसलिए रस-विधान में भावों के दो ही भेद किए जा सकते हैं— एक मुख्य दूसरा गौण। साहित्यशास्त्र में पहले को स्थायी और दूसरे को संचारी या व्यभिचारी भाव कहा गया है। स्थायी भाव ही बाह्य अथवा अन्तर्जगत् के संपर्क से, निर्धारित पद्धति द्वारा, रस-रूप में परिणत होता है।

1. Pleasure and pain are degrees of the self, rather than forms or aspects of it. They pervade and overhang all the life of the self and its manifestations in the three forms or aspects of cognition, desire and action. The feeling of the increase, expansion, growth, moreness of that self is Pleasure; of its decrease, contraction, decay, lessness is Pain.

आज तक रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, विस्मय, जुगुप्सा और निर्वेद—ये ही नौ स्थायी भाव माने गये हैं; इसलिए इनके आधार पर शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, वीभत्स और शांत—ये नौ रस भी निरूपित किए जाते हैं। यथार्थ में रस तो आनन्द-रूप होने के कारण एक ही है, किंतु आस्वाद की भिन्नता एक ही आनन्द के से उसके ये नौ नाम हैं। ये सभी रस किस प्रकार एक ही आनन्द के भिन्न रूप—रस भिन्न रूप हैं, इसके संबंध में अग्निपुराण में उल्लेख है कि 'जिसे वेदांत में अविनाशी, नित्य, अजन्मा, अद्वितीय, ज्ञान-रूप स्वतः प्रकाशमान अथवा तमोनिवर्त्तक और सर्व-समर्थ परब्रह्म कहा गया है उसमें स्वतः आनन्द विद्यमान है। वह आनन्द किसी समय प्रकट हो जाया करता है और उस आनन्द को वह अभिव्यक्ति चैतन्य, चमत्कार अथवा रस-नाम से पुकारी जाती है। उसी (आनन्द की अभिव्यक्ति) का जो पहला विकार है, उसे अहंकार माना जाता है। उस अहंकार से अभिमान अर्थात् ममता उत्पन्न होती है, जिसमें यह सारा त्रिलोक समाप्त हो गया है। तात्पर्य यह है कि त्रिलोक में एक भी वस्तु ऐसी नहीं है जो किसी-न-किसी की ममता का पात्र न हो। उसी अभिमान—अथवा ममता—से 'रति' अर्थात् प्रेम अथवा अनुराग उत्पन्न होता है। वही रति व्यभिचारी आदि भावों की समानता से—अर्थात् समान रूप में उपस्थित व्यभिचारी आदि भावों से—परिपुष्ट होकर 'शृंगार रस' कहलाती है। उसी के हास्यादिक अन्य भी अनेक भेद हैं। (वही रति सत्त्वादि गुणों के विस्तार से राग, तीक्ष्णता, गर्व और संकोच—इन चार रूपों में परिणत होती है, उनमें से) राग से 'शृंगार' की, तीक्ष्णता से 'रौद्र' की, गर्व से 'वीर' की और संकोच से वीभत्स की उत्पत्ति मानी जाती है। स्वतः ये चार ही रस हैं। पर बाद में शृंगार से 'हास', रौद्र से 'करुण' वीर से 'अद्भुत' और वीभत्स से 'भयानक' की उत्पत्ति हुई। (और रति अथवा अनुराग के अभाव रूप निर्वेद से शांत रस की उत्पत्ति हुई; अर्थात् रति-भाव से आठ रसों की और रति के अभाव में एक रस की उत्पत्ति हुई) ।'

अक्षरं ब्रह्म परमं सनातनमजं विभुम् ।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम् ॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन ।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य-चमत्कार-रसाह्वया ॥
आद्यस्तस्य विकारी यः सोऽहंकार इति स्मृतः ।
ततोऽभिमानरतवैदं समाप्तं भुवनत्रयम् ॥
अभिमानाद्रतिः स च परिपोषमुपेयुषी ।
व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृंगार इति गीयते ॥
तद्भेदाः काममितरं हास्याद्या अप्यनेकशः ।
स्वस्वस्थाप्यिविशेषोऽथ (त्व) परिघो (पो) च स्वलक्षण ॥
सत्त्वादिगुणसन्तानाज्जायन्ते परमः तमनः ।
रागाद्भवति शृंगारो रौद्रस्तैक्ष्ण्यात्प्रजायते ।
वीरेऽवष्टम्भजः सङ्क्रान्तभूर्बीभत्स इष्यते ।
शृंगारज्जायते हासो रौद्रात्तु करुणो रसः ॥
वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद् वीभत्साद् भयानकः ।
शृंगारवीरकरुणरौद्रवीरभयानकाः ॥
बीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वभावाच्चतुरो (?) रसाः ।

—अग्निपुराण (हिंदी रस-गंगाधर के आधार पर)

रसों का रूप स्थिर करने और उनका परस्पर संबंध स्थापित करने में विवेचकों का मतैक्य नहीं है। उपर्युक्त नौ संख्या में कितनी बार परिवर्तन अथवा वृद्धि करने का प्रयास किया गया, किंतु कभी सफलता नहीं मिली। 'प्रेम', 'सख्य', 'भक्ति', 'वात्सल्य' इत्यादि नये-नये रसों को बढ़ाकर उनकी संख्या बढ़ाने का प्रयत्न हुआ, किंतु वह सर्वमान्य नहीं हुआ। इसमें भी 'भक्ति' और 'वात्सल्य' के लिए अत्यधिक तर्क उपस्थित किए गए कि 'रति'-जन्य प्रेम का इनमें समावेश नहीं होने के कारण, ये शृंगार के अंतर्गत नहीं आ सकते, प्रत्युत इन्हें स्वतंत्र रस माना जाय। एक अंश में यह सत्य भी प्रतीत होता है, कारण प्रेम समान के प्रति ही हो सकता है, छोटे या बड़े के प्रति नहीं। बड़े के प्रति प्रेम या राग सम्मान हो जाता है और छोटे के प्रति वात्सल्य। किंतु इस भाँति तो अगणित भाव हो सकते हैं और सबके आधार पर यदि एक-एक रस खड़ा किया जाय, तो रसों की संख्या भी अगणित हो जायगी। इसलिए रसोत्पत्ति के लिए उतने ही भाव समर्थ हो सकते हैं जिनमें प्रेषणीयता हो। जिस भाँति वीरता की घटना देखकर अथवा उसका वृत्तांत सुनकर अन्य लोगों के हृदय में उत्साह का संचार होता है, उसी भाँति भक्ति या वात्सल्य की बातों में तदनु रूप भावों का संचार अन्य हृदयों में नहीं होता। यदि मान भी लिया जाय कि किसी को भक्ति करते देख दूसरे के हृदय में किसी अंश तक उसका भाव जाग्रत होता है, तो वह भाव के साधारणीकरण का रूप नहीं कहा जा सकता। भक्ति की अवस्था में हम भक्ति-भाजन से ऐसा संबंध स्थापित करते हैं, जो वैयक्तिकता के अंतर्गत ही पड़ता है। आत्म निवेदन की अवस्था में यद्यपि भक्ति के द्वारा जीवन के स्वार्थ का बहुत अंशों में परिहार हो जाता है, फिर भी, भजनीय से जो उसका संबंध होता है, वह सबका समान रूप से नहीं हो

भक्ति और वात्सल्य

सकता। भाव का रस-रूप होने के लिए आलंबन का साधारणीकरण आवश्यक शर्त है। इसका अभिप्राय है कि वर्णनीय वस्तु या व्यक्ति को लोक-हृदय के समान स्तर पर विचरण करने दे। भक्ति का आलंबन कोई विशिष्ट व्यक्ति ही हो सकता है, जो मानवता की सामान्य भूमि पर कभी स्थिर नहीं रह सकता। भगवान को अगर साधारण मनुष्य की पंक्ति में लाकर बिठा दिया, तो उसका संपूर्ण सौंदर्य ही नष्ट हो गया समझिए। किसी व्यक्ति के साथ हमारे सुख-दुःख का संबंध तभी हो सकता है जब वह हमारे-जैसा मनुष्य-रूप में हो। कोई राजा जब तक निरेशासक या स्वामी के रूप में वर्णित होता है तब तक उसके जीवन से हमारा भय या कुतूहल का संबंध भले हो, सुख-दुःख का संबंध नहीं हो सकता है। जिस प्रकार राजा का राजत्व छोड़ देने पर ही मानवता

**मानवता का
साधारणीकरण**

का साधारणीकरण किया जाता है, उसी प्रकार रंक को रंकता का परिहार करने के बाद ही हमारी सहानुभूति जग सकती है। कोई भिखारी मनुष्य का हृदय लेकर ही भीख माँगता है, ऐसा जहाँ देखते हैं, वहीं हमारी समवेदना प्रज्वलित होती है। मनुष्यता के समस्तर से नीचे जाकर जहाँ कोई भिखारी चाँडाल या कापालिक के रूप में परिलक्षित होता है, वहाँ घृणा या उपेक्षा ही जग सकती है, हृदय में रस का उद्रेक नहीं हो सकता। रसानुभूति के लिए तो 'राजा' या 'रंक' को मनुष्य बनकर मानवता के साधारण स्तर पर आना होगा—एक सामान्य मनुष्य-जैसा आचरण करना पड़ेगा। मेघनाद द्वारा लक्ष्मण के आहत होने पर राम को अपने भाई के प्रति विलाप करते देखकर हमारा हृदय

इसलिए राम के प्रति सहानुभूति से परिपूर्ण हो जाता है कि वहाँ राम भगवान नहीं रहकर मनुष्य-जैसा आचरण करते हैं। तुलसीदास ने राम को जहाँ तक एक मानव के रूप में रखकर उनके जीवन-व्यापार को चित्रित किया है, वहाँ तक उनके सुख-दुःख में सबकी सहानुभूति जगती है, किंतु जहाँ-जहाँ उनको भगवान बनाकर उनके अलौकिक व्यापार का चित्रण किया है, वहाँ रसानुभूति की प्रतीति हृदय में होती ही नहीं और उनका ईश्वरत्व हमारे विस्मय की वस्तु होकर उनके और हमारे बीच में लंबी दूरी उपस्थित कर देता है। ऐसे स्थलों में भक्ति भाव-क्षेत्र तक ही जा सकती है, रस की दशा को प्राप्त नहीं हो सकती। यही अवस्था वात्सल्य की भी है। भक्ति या वात्सल्य में मानवता का साधारणीकरण संभव नहीं है। भक्ति में भजनीय साधारण मनुष्य से बराबर ऊपर के व्यक्ति हैं, वात्सल्य में उसी प्रकार प्रिय-पात्र मानवता के सामान्य स्तर तक पहुँचा ही नहीं रहता है। ऐसी प्रिय वस्तु के प्रति भाव ही हो सकता है, रस नहीं। यही कारण है कि जिस प्रकार देवता के देवत्व में मानवता का समावेश नहीं हो सकता, उसी प्रकार राज्ञस के राज्ञस्त्व में भी उसकी अंतर्भूक्ति नहीं हो सकती, प्रत्युत् वे दोनों ही रसानुभूति के परे की वस्तुएँ हैं। पशु के कष्ट को देखकर हम भाव से विह्वल हो सकते हैं, रस से द्रवित नहीं होते। यही कारण है कि जितने भावों के आधार पर हृदय की रसानुभूति प्रतिपादित हो सकती है, वे नौ ही हैं; इसलिए शास्त्रीय पद्धति में रस के नौ भेद किए गए हैं।

रस का संस्थान और रस-दशा के व्यापार

रसोत्पत्ति और उसके आस्वादन का रूप स्थिर हो जाने पर भी रस के संस्थान और रस-दशा के व्यापार को लेकर विभिन्न विचार रहते आए हैं। इस संबंध में कोई सर्व-मान्य सिद्धांत स्थिर नहीं हो सका है। प्राचीन आचार्यों में से भट्ट लोलट, श्रीशंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त प्रभृति के कमशः उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद, अभिव्यक्तिवाद इत्यादि के द्वारा इतना ही ज्ञात हो सका कि रस का संस्थान प्रथम दो के विचार से अभिनयकर्ता में और अंतिम दो के विचार से दर्शक में है और उसका कारण उस यथार्थ व्यक्ति के प्रति प्रेम है जिसका अभिनय किया जाता है, चाहे वह प्रेम प्रत्यक्ष अवलोकन से हो, अनुमान से हो, भावना से हो अथवा व्यंजना से हो। उक्त आचार्यों में से अधिकांश ने रूपक या नाटक के रस-रहस्य पर ही विशेष ध्यान दिया है। नाटक के काव्य का एक अंग होते हुए भी काव्य के सामान्य अर्थ में उसका प्रयोग नहीं किया जाता है। हमको जीवन के प्रत्यक्ष व्यापार और सामान्य काव्यगत रसात्मकता

का विचार करना है। यह तो अब प्रायः स्थिर हो चुका है कि रस 'कर्त्ता' को नहीं मिलता को किसी भी अवस्था में नहीं मिलता, बल्कि वह द्रष्टा, पाठक या श्रोता को ही प्राप्त होता है। काव्यगत-रसात्मकता के लिए जीवन के प्रत्यक्ष व्यापार से रस के संबंध पर विचार करना आवश्यक है। काव्य के विवेचन में दिखलाया गया है कि हृदय की मुक्तदशा ही रसानुभूति का निर्दिष्ट क्षेत्र है। हृदय की मुक्तदशा से अभिप्राय जगत् के साथ जीवन के रागात्मक संबंध का परिहार है। इस अवस्था में बाह्य जगत् के अस्तित्व का लोप नहीं हो जाता, बल्कि हृदय के रस के संयोग से बाह्य जगत् का

रूप सूक्ष्म और कोमल होकर भिन्न रूप से अनुभूत होने लगता है।^१ ऐसी दशा हमारे प्रत्यक्ष जीवन में कभी-कभी अनायास हो जाती है। कभी-कभी हम अतीत के संबंध से जीवन के अनेक दृश्यों को सुन या स्मरण कर वर्तमान जीवन के बंधनों को भूल, रसानुभूति की-सी दशा में पहुँच जाते हैं। जीवन के दिन-प्रति-दिन के व्यापार में ऐसा अवसर कभी-कभी आ जाता है जब अपनी सुध-बुध भूल हम किसी भाव में मग्न हो जाते हैं। क्या यह यथार्थ में रस-दशा है? आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने बड़ी युक्ति से इसपर अभिमत प्रकट करते हुए लिखा है कि 'जिस प्रकार काव्य में वर्णित आलंबनों के कल्पना में उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है, उसी प्रकार हमारे भावों के कुछ आलंबनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलंबनों के संबंध में लोक के साथ या कम-से-कम सहृदयों के साथ हमारा तादात्म्य रहता है। ऐसे विषयों या आलंबनों के प्रति हमारा जो भाव रहता है, वही भाव और भी बहुत-से उपस्थित मनुष्यों का भी रहता है। वे हमारे लोक के सामान्य आलंबन रहते हैं। साधारणीकरण के प्रभाव से काव्य-श्रवण के समय व्यक्तित्व का जैसा परिहार हो जाता है वैसा ही प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति के समय में भी कुछ दशाओं में होता है। अतः इस प्रकार की प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूतियों को रसानुभूति के अंतर्गत मानने में कोई बाधा नहीं।'^२ भिन्न-भिन्न स्थायी भावों के साधारणीकरण का उल्लेख करते हुए अंत में उन्होंने प्रतिपादित किया है कि 'रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अंतर्वृत्ति नहीं है, बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात रूप है।'^३ रसानुभूति के तत्त्वों पर विचार करने पर उपर्युक्त सिद्धांत उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है। इसको मान लेने से रस का अवस्थान कर्त्ता या भोक्ता में ही निरूपित हो जाता है। हम उन्हीं के एक उदाहरण को लेकर इसकी समीक्षा करते हैं। 'स्वदेश-प्रेम के गीत गाते हुए नवयुवकों के दल जिस साहसभरी उमंग के साथ कोई कठिन या दुष्कर कार्य करने के लिए निकलते हैं, वह वीरत्व की रसात्मक अनुभूति है।'^४ रस-प्रक्रिया में आलंबन और आश्रय दोनों की अपेक्षा रहती है। 'हास्य' और 'वीर्य' दो ही ऐसे रस हैं जिनमें केवल आलंबन से ही रसोद्रेक हो सकता है। शेष रसों में आश्रय के माध्यम बिना यथार्थ रसात्मकता आ नहीं सकती। जिस वस्तु को

आलंबन और
आश्रय

देख-सुन या स्मरण कर हृदय में भाव उत्पन्न होता है उसका नाम 'आलंबन' और जिस व्यक्ति के हृदय में किसी आलंबन के संपर्क से भाव उत्पन्न होता है उसका नाम 'आश्रय' है। प्रत्यक्ष जीवन में आलंबन के संयोग से आश्रय को स्वतः आनंद प्राप्त होता है। पथिक-वेषधारी राम-जानकी को जंगल

१. Our emotions are the gastric juices which transform the world of appearance, into the more intimate world of sentiment. On the other hand the outer world has its own juices having their various qualities. This is called in our Sanskrit rhetoric 'Rasa', which signifies outer juices having the response in the inner juices of our emotion.

Rabi Babu—"What is art?"

- | | | | |
|----|------------------|--------------------------------------|---------|
| २. | रामचंद्र शुक्ल : | चिंतामणि (रसात्मकबोध के विविध रूप) | पृ०—३३७ |
| ३. | " " | " " " " " " | ३४४ |
| ४. | " " | " " " " " " | ३४० |

में घूमते देख ग्रामीण स्त्री-पुरुषों को स्वतः एक विशुद्ध सात्विक प्रेम के भाव का अनुभव होता है। किंतु काव्य में इसका वर्णन सबके आनंद का कारण हो जाता है। उक्त ग्रामीण स्त्री-पुरुष-रूपी आश्रय के माध्यम से राम-जानकी का पथिक-भेष में परिभ्रमण रूपी आलंबन साधारणीकरण के प्रभाव से पाठक या श्रोता मात्र का आलंबन हो जाता है और वे रसानुभूति की दशा में पहुँच जाते हैं। रस कलात्मक रूप से ही प्राप्त हो सकता है, जीवन के साथ

**रस प्राप्ति के लिए
कलात्मकता की
अपेक्षा**

आलंबन का अव्यवहित या प्रत्यक्ष संपर्क भाव-मग्न करके रस के किनारे तक पहुँचा सकता है, रसात्मकता नहीं उत्पन्न कर सकता। काव्य को पढ़ने या सुनने के समय किसी आश्रयरूप पात्र के साथ समवेदना के प्रबल वेग के कारण पाठक या श्रोता की तदाकार वृत्ति हो जाती है—

उस समय वे आश्रय-रूप हो जाते हैं। यही रस-दशा है। उपर्युक्त उद्धरण में स्वदेश-प्रेम का गीत गाते हुए नवयुवकों के दल का सासह-भरी उमंग के साथ कोई कठिन कार्य करने के लिए निकल पड़ने में 'देशभक्ति' रूप सूक्ष्म आलंबन है और नवयुवकों का दल उसका आश्रय। यदि आश्रय को प्रत्यक्ष रसानुभूति होने लगे, तो कला की संपूर्ण प्रयोजनीयता नष्ट हो जाती है। रस तो उक्त आलंबन और आश्रय के योग से द्रष्टा को ही मिल सकता है, जिसका हृदय आश्रय के हृदय के साथ तदाकार हो जाता है। नवयुवकों के लिए ऐसी

**भावमग्नता और
रसानुभूति**

अवस्था में अधिक-से-अधिक भावमग्नता ही मानी जायगी। यह भाव-मग्नता रसानुभूति के अत्यंत निकट पहुँची रहती है। रस तो उन लोगों के कार्य को अभिनय में देख या उनके वर्णन को पढ़-सुनकर दूसरों के हृदय

में प्रत्यक्ष होगा। रसानुभूति के लिए आश्रय के साथ तदाकार-वृत्ति आवश्यक है। 'हास्य' और 'वीभत्स' में आश्रय की आवश्यकता नहीं रहती है, किंतु इनकी अनुभूति के लिए भी कलात्मकता का पथ-ग्रहण करना पड़ता है। हम किसी कृपण के व्यापार को देखकर प्रत्यक्ष जीवन में उदासीनता या तुच्छता का भाव प्रकट करते हैं, किंतु कला के क्षेत्र में जब उसका वर्णन काव्य की वस्तु हो जाता है, तो उसको पढ़-सुनकर हम हास्य रस की प्रतीति कर सकते हैं। वही अवस्था वीभत्स रस की भी है। मृतकों के सबे-गले दृश्य का यदि हमारे जीवन से प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाय तो हम नाक मूँदकर वहाँ से भाग जाने को ही उद्यत होंगे, किंतु काव्य में उस दृश्य का वर्णन भी आनंद का कारण हो जाता है। इन दोनों रसों में आश्रय-रूप माध्यम नहीं भी रहे तो रसानुभूति में व्यवधान नहीं होता, किंतु किसी भी अवस्था में रस 'कर्त्ता' को नहीं मिल सकता। हास्य के क्षेत्र में कभी-कभी देखा जाता है कि हम अपनी ही कोई बात देख या स्मरण कर हँस उठते हैं। चुपके फिसलकर गिर पड़ने के बाद उसे स्मरण कर कभी स्वयं हँसी आ जाती है। उस समय एक ही व्यक्ति कर्त्ता या द्रष्टा के रूप में दो भिन्न व्यापार करता है। मानव-जीवन आत्मा की संलग्नता का विधान लिये रहता है। वह एक और अविच्छिन्न रहते हुए भी अपने वर्तमान या अतीत का भिन्न रूप से विचार कर सकता है। अतीत 'स्वयं' से वर्तमान 'स्वयं' उस अवस्था में भिन्न हो जाता है। अतीत का 'स्वयं' वहाँ आलंबन हो जाता और वर्तमान 'स्वयं' द्रष्टा होकर रस की प्रतीति करता है।

रस-दशा के व्यापार में जीवन के साधारण व्यापार से कोई रूप-भेद नहीं है। जिस प्रकार जीवन की साधारण अवस्था में हम हँसते, बोलते या अन्य कार्य करते हैं, रस-दशा में

भी उन कार्यों का व्यापार बंद नहीं होता है—वहाँ भी हम उसी तरह हँसते-बोलते हैं ; अंतर इतना ही रहता है कि साधारण जीवन का व्यापार व्यक्तिगत प्रयोजन या स्वार्थ से बँधा रहता है जब कि रस-दशा में उन कार्यों को हम अपने व्यक्तित्व से संबद्ध नहीं करते हैं, उनमें हमारा हृदय योग-क्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त नहीं रहता है । तात्पर्य यह कि रस-दशा में अपनी व्यक्तिगत सत्ता की भावना का परिहार हो जाने के कारण हमारा 'स्वयं' या 'आत्मरूप' आश्रय के साथ तदाकार हो जाता है । जहाँ ऐसा नहीं होता है, मानना होगा, कलाकार ने काव्य के चित्रण में कोई त्रुटि की है । राम के राज्याभिषेक के दिन ही कैकेयी के दुष्ट आचरण के फलस्वरूप राम के वनवास की बात से उनके सुख-दुःख के प्रति हमारी संपूर्ण सहानुभूति जग पड़ती है, और हम उनके साथ तदाकार होना चाहते हैं । किंतु राम के शील की सराहना करते हुए भी हम उनके साथ उस सीमा तक नहीं जा सकते, जहाँ कैकेयी के प्रति उनके-जैसा हमारे मन में कुछ भी विकार न हो । हम राम के साथ तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा करते हुए भी कैकेयी को भला-बुरा कहना चाहते हैं । प्रश्न होता है कि यह रसानुभूति की अवस्था है या नहीं ! यथार्थ में रसानुभूति की यह अवस्था नहीं

है । यदि आश्रय के व्यापार से भिन्न हम कुछ भी भिन्न व्यापार रसदशा में करना चाहते हैं तो वह रस-दशा नहीं है । तुलसीदास ने राम के चरित आश्रय के साथ में इस प्रकार की अलौकिकता का समावेश करके हमारी रसानुभूति पर तदाकार वृत्ति में व्यापात किया है । आदिकवि वाल्मीकि ने इस प्रसंग में राम के चरित्र को अत्यंत उदात्त रखते हुए भी इस रूप में उनसे कहलाया है कि 'यद्यपि पिताजी ने मुझे स्वयं नहीं कहा है, तथापि मैं तुम्हारे ही कहने से चौदह वर्षों तक निर्जन वन में निवास करूँगा । कैकेयी तुम्हारा मुझपर पूरा अधिकार है—मैं तुम्हारी प्रत्येक आज्ञा का पालन कर सकता हूँ ; फिर भी तुमने स्वयं न कहकर इस कार्य के लिए पिताजी को कष्ट दिया । इससे जान पड़ता है कि तुम मुझमें कोई गुण नहीं देखती ।' इसमें जो व्यंग्य, भर्त्सना और उपालंभ की ध्वनि निकलती है, उससे हम उनके साथ अपनी सहानुभूति की रक्षा करने में बहुत-कुछ समर्थ हो सकते हैं और उससे हमारी रसानुभूति में व्यतिक्रम नहीं होता है । तुलसीदास ने यद्यपि, हमारी रसानुभूति की रक्षा के लिए, लक्ष्मण के चरित्र को उस जगह ऐसे रूप में चित्रित किया है जिससे हमारे रोष को तदाकार होने के लिए एक आश्रय मिल जाता है, और इस प्रकार उन्होंने अपनी कलात्मकता की रक्षा कर ली है, फिर भी रसानुभूति के ऐसे अवरोध के लिए पश्चात्ताप हो ही जाता है । ऐसे स्थलों पर तुलसीदास ने राम में देवत्व को आरोपित कर रामचरित-मानस को नर-काव्य नहीं रहने दिया है, जिससे मानवता के सामान्य भावों की उसमें रक्षा नहीं हो सकती । रसानुभूति के सम्यक्निर्वाह के लिए मानवता के सामान्य स्तर पर ही जीवन-व्यापार परिलक्षित होने चाहिए । 'अभिज्ञान शाकुंतल' में शाकुंतला के प्रत्याख्यान के समय उसको मन-ही-मन अपने भाग्य पर रोते देख जहाँ वह थोड़ा भी रोष या क्रोध नहीं प्रकट करती है, वहाँ उसके साथ हमारी तादात्म्य वृत्ति का संपूर्ण निर्वाह नहीं होकर दुर्भ्यंत के प्रति मन में रोष जगता है, किंतु कवि ने उसकी रक्षा शार्ङ्गख के रोष-पूर्ण कथन का अवतरण देकर हमारी रसानुभूति के निर्वाह के लिए थोड़ा स्थान बना दिया है । तात्पर्य यह कि रस-

दशा में हम आश्रय के साथ तदाकार होकर उसके सब कार्य के अनुमोदन करने की अवस्था में हो जाते हैं। जहाँ ऐसा नहीं हो सकता, वहाँ रस-प्रतिपादन में त्रुटि मानी जायगी। ऊपर राम या शकुंतला के चरित्र में पाठक या श्रोता को रसानुभूति नहीं होकर शील के ही दर्शन होते हैं। शील-द्रष्टा की स्थिति रसानुभूति करनेवाले की स्थिति से भिन्न है।

रसानुभूति और शील-दर्शन

रसानुभूति की स्थिति में आश्रय के साथ श्रोता या पाठक की ऐसी तदात्मकता होती है कि मन में भिन्न भाव उठने का स्थान ही नहीं रहता, किंतु शील-दर्शन की स्थिति में आश्रय के प्रति सहानुभूति या सम्मान रखकर भी उनके व्यापार के साथ पाठक के भावों की समस्त तल्लीनता नहीं हो सकती है।

आश्रय के साथ हृदय की तदाकार वृत्ति स्थापित करने में समाजगत अथवा सभ्यतागत रुचि का रूप देखा जाता है। आलंबन (विभाव) का साधारणीकरण सबके लिए समान रूप से संभव नहीं। जिस समाज का मानसिक आदर्श शठता के साथ शठ की रक्षा में है, वह 'मारत हूँ पाँ परिय तुम्हारे' की नीति से कभी प्रसन्न नहीं होगा। ऊँची रुचिवालों में निकृष्ट आलंबन का अथवा नीची रुचिवालों में श्रेष्ठ आलंबन का साधारणीकरण नहीं हो सकता है। 'रुचि का परिष्कार समाज की संस्कृति तथा सभ्यता के अनुसार होता है। जिस समाज की सभ्यता सीता-जैसी चरित्रवर्तियों को उत्पन्न करती है, उसकी रुचि शूर्पणखा को राज्ञसी ही कहेगी। शकुंतला यदि कण्व मुनि की औरस कन्या होती, तो उसपर दुष्यंत का प्रेम देखकर भी वह हमारी रति का आलंबन न बन सकती, वरन् संभव है, उलटे दुष्यंत हमारी घृणा या क्रोध का विषय हो जाता।' तात्पर्य यह कि रसानुभूति की अवस्था में सब व्यक्ति समान रूप से किसी आश्रय के साथ तदाकार-वृत्ति से कार्य करने लगें, यह संभव नहीं है। एक ही आश्रय के प्रति कभी हम निरपेक्ष रहते हैं, कभी शील-द्रष्टा के रूप में रहते और कभी यथार्थ रस की प्रतीति करते हैं।

रस और व्यंजना-शक्ति

आरोप और आस्वादन के विचार से रस के व्यापार दो भिन्न क्षेत्रों में हुआ करते हैं। रासायनिक द्रव्य-जैसा काव्य-रस कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसका रूप-रंग परिलक्षित हो सके अथवा जिसका वस्तुगत आस्वाद किसी के लिए सुलभ हो। रस तो चिद्रूप है। चमत्कार के कारण उसका रूप आनंदमय हो जाता है। यह चमत्कार बाहर से आने वाला कोई पदार्थ नहीं है। जैसा इसके अर्थ से ही स्पष्ट हो रहा है, किस वस्तु का अनावृत हो जाना—ऊपर का आवरण हट कर उसका यथार्थ रूप प्रकट हो जाना—चमत्कार कहलाता है। हमारे चैतन्य या आनंद के ऊपर अज्ञान का आवरण छाया रहता है अंतःस्थापना के विविध पथों से उक्त आवरण के हट जाने पर चिद्रूप का प्रकट हो जाना ही चमत्कार है। ऐसे पथ हैं—चित्तवृत्ति का निरोध, प्रेम और श्रद्धा का योग, हृदय-योग का विस्तार इत्यादि। काव्य का संबंध हृदय-योग के विस्तार से ही है, इसलिए उसी पथ से रस की व्यंजना का विचार करना है।

यह तो प्रायः सर्वमान्य है कि चैतन्य और अंतःकरण की वृत्तियों का योग रस की दशा है। इस योग का रूप कोई अनुभूति में, कोई भावना में, कोई अनुमान में, कोई भ्रम-निवृत्ति में और कोई मिथ्या दोष-ग्रहण में मानते हैं, किंतु इतना निश्चित है कि रस के रूप में चैतन्य और अंतःकरण की वृत्तियों का योग आवश्यक है। आरोप और उपयोग या आस्वादन के रूप में यह विषय दो भिन्न पक्षों से संबंध रखता है। काव्य में आरोपवाले पक्ष को प्रयोक्ता और उपभोगवाले पक्ष को भोक्ता कहते हैं। प्रयोक्ता यदि स्वयं भोक्ता बन जाय तो दूसरे के लिए आस्वादनीय कोई वस्तु रह नहीं जायगी। यही कारण है कि कवि अपनी सृष्टि में रस का आरोप करके दूसरों के लिए उसका आस्वादन करने को छोड़ देता है—‘कविः करोति काव्यानि, रसं जानन्ति पंडिताः।’ वह स्वयं उस समय उसका आस्वाद ले नहीं सकता। इसका विवेचन पहले ही हो चुका है कि कवि को अपनी बनाई कविता पढ़ने में जो रसानुभूति होती है, उस समय उसका भोक्तारूप व्यक्तित्व आत्मा के संयोग के कारण अपनी संलग्नता की रक्षा करते हुए भी, रचयिता-रूप अपने व्यक्तित्व से भिन्न रहता है। अतः रस के प्रयोग और उपभोग पक्ष को संपूर्णतः भिन्न मानकर ही इस संबंध में विचार करना होगा।

प्रारंभ में लिखा गया है कि रासायनिक द्रव्य-जैसा काव्य का रस कोई स्थूल पदार्थ नहीं है जिसका स्थूल इंद्रियों द्वारा आरोप या आस्वादन किया जाय। इंद्रियों के निर्माण में पाया जाता है कि उनके सूक्ष्म रूप सूक्ष्म वस्तुओं को और स्थूल रूप स्थूल वस्तुओं को ग्रहण करते हैं। आँख से हम जिस वस्तु को देखते हैं उसका बाह्य रूप स्थूल वस्तु का स्थूल और सूक्ष्म रूप आँखों को दृष्टिगोचर होता है, किंतु उसका सूक्ष्म रूप, जो ‘तेज’ तत्त्व है, सूक्ष्म आँख के दृष्टि-गुण का विषय है। तात्पर्य यह कि इंद्रियों का स्थूल रूप वस्तु के सूक्ष्म रूप को ग्रहण कर नहीं सकता। उसके लिए अपने सूक्ष्म रूप का ही प्रयोग करना पड़ेगा। संपूर्ण ज्ञानेंद्रियों के ऐसे सूक्ष्म रूप एक ही मन की विषय-ग्रहण-शक्ति के विभिन्न द्वार हैं। काव्य का रस सूक्ष्म होने के कारण स्थूल इंद्रियों द्वारा उसका न आरोप हो सकता है और न आस्वाद लिया जा सकता। बाह्य जगत् सूक्ष्म रूप से इंद्रियों का विषय होने के समय शुद्ध भावनामय हो जाता है। उस भावना से अंतःकरण की वृत्तियों का संपूर्ण आवरण हट जाता है और उस समय वे चैतन्य के संयोग से रस-रूप हो जाती हैं। चित्त की यही अवस्था सत्त्व-गुण-प्रधान कही जाती है। कलाकार उस रस का स्वयं पान नहीं करके वाणी द्वारा उसे बाहर प्रकट कर देता है। उस वाणी-विधान में, उसके प्रत्येक स्वर और मात्रा में, जो रस भिगोया रहता है, उसके यथार्थ आस्वाद के लिए चित्त को जब तक उसी सौँचे में नहीं ढाला जाय, जिस सौँचे से कवि द्वारा वह अभिव्यक्त हुआ था, तब तक उसकी वास्तविक प्रतीति संभव नहीं है। रस की प्रतीति इंद्रियों द्वारा ग्रहण किए हुए रूपों की भावना से ही होती है और वह भावना व्यंजना से ही स्पष्ट हो सकती है।

व्यंजना एक शक्ति है, जो शब्द और अर्थ के भीतर के चमत्कार को प्रकट करती है। इस शक्ति से रहित शब्द और अर्थ को यथार्थ काव्य से प्रयोजन नहीं रहता। ‘तुम बैल

हो' इसका अर्थ यदि कोई व्यक्ति अपने लिए समझ ले कि मुझको चार पैरवाला पशु कहा जाता है, तो कहने का संपूर्ण अभिप्राय ही नष्ट हो जाता है। बुद्धि के व्यायाम के लिए व्यञ्जना ही शक्ति है, जो उसको विषय-तत्पर करती है। जीवन के ऐसे अनेक व्यापार हैं, जो शब्द या उसके अर्थ द्वारा प्रकट नहीं किए जा सकते। उस स्थल में अभिव्यक्ति के भीतर एक संकेत

रस की व्यञ्जना छिपा रहता है जिसका ज्ञान होने से ही यथार्थ व्यापार का बोध हो सकता है। 'कहि न सकौ तव सुजनता, अति कीन्हों उपकार' के शब्द और

उनके अर्थ से जो कुछ जाना जा सकता है, उसके बीच जो 'आपने मेरा अपकार किया' का संकेत है, यही प्रकट करना व्यञ्जना-शक्ति का काम है। व्यंग्य के प्रयोग से ही चमत्कार प्रकट हो सकता है। व्यंग्ययुक्त एक वाक्य से भिन्न दिशाओं में अनेक चमत्कार प्रकट हो सकते हैं, किंतु काव्य में उसकी दिशा प्रायः निश्चित रहती है। अपने प्रियतम के परदेश जाने के समय वियोगारंभ के पूर्व संयोग काल के अंतिम कार्य की ओर संकेत करती हुई किसी प्रवर्त्यत्वतिका नायिका का आग्रह कि 'याते पयान समै तुमते हम का कहें प्यारे हमें समुझाइये' जिस रस-मूलक व्यापार को ध्वनित करता है, वह इसके शब्द और अर्थ से थोड़े ही प्रकट हो सकता ! काव्य-रचना के समय इस संकेत या चमत्कार का आरोप करना कला की निपुणता को सूचित करता है। रस ऐसे ही संकेत के आरोप से आरंभ होकर उसकी प्रतीति में समाप्त होता है। शब्द और अर्थ अभिव्यक्ति के बाह्य साधन हैं। रस तो उनके भीतर व्यंग्य है।

काव्य में निर्दिष्ट रस-सूचक शब्दों का प्रयोग उसको महत्ता को न्यून कर देता है। व्यंग्य यदि शब्दों द्वारा रस की प्रतीति कराने लगे, तो उसकी व्यंग्यता कहाँ रही ? इसमें तो भावना द्वारा अंतःकरण की वृत्तियों के निकट ज्ञान का विलक्षण चमत्कार उत्पन्न किया जाता है, जो शब्द और अर्थ को बहुत पीछे छोड़ देता है। चमत्कार व्यंग्य में ही रहता है। अभिधा-वृत्ति अर्थ के स्थूल रूप को ही प्रकट करती है, इसलिए वह हृदय की सूक्ष्म वृत्तियों का विषय नहीं हो सकती। रस-सूचक शब्दों का काव्य में उल्लेख कर देने से वे अभिधावृत्ति को स्पर्श करते हुए ही आगे बढ़ेंगे; अतः चमत्कार का प्रकाश नहीं हो सकता।

सुनि मुनि वचन भूप हिय 'सोकू'
ससि कर छुअत विकल जिमि कोकू।'—

में कैकेयी-दशरथ-प्रसंग के बीच वरदानों के प्रकट किए जाने पर राजा की दशा का जो रूप है, उसको 'सोकू' शब्द का उल्लेख करके इस भाँति स्पष्ट कर दिया है कि इसमें कोई चमत्कार नहीं रह जाता। पाठक या श्रोता की अंतर्वृत्ति को क्रियाशील करके आनंद के साथ संयोग के लिए पथ बंद-सा कर दिया गया है। भावना के प्रकाश में बुद्धि को कोई व्यायाम नहीं करना पड़ता है। सच तो यह है कि इसके द्वारा 'भाव' रसदशा को प्राप्त ही नहीं हो सकता है। इसी प्रकार

मुख सुखाहिं लोचन खवहिं सोकु न हृदय समाइ।

मनहुँ करुन रस कटकई उतरी अवध बजाइ।—

में 'करुण रस' का स्पष्ट कथन करके व्यंग्य की मर्यादा पर आघात किया गया है। किंतु—

काह न पावकु जारि सक, का न समुद्र समाइ ।

का न करै अबला प्रबल, केहि जग काल न खाइ ॥—

में राजा दशरथ द्वारा कैकेयी के कठोर व्यवहार पर जो काकु-वैशिष्ट्य से शोक की व्यंजना कराई गई है, उसमें एक स्त्री के चलते संपूर्ण स्त्री-जाति की भर्त्सना का कारण प्रकट करके भी शोक-सूचक किसी शब्द का उल्लेख नहीं है। पाठक या श्रोता की अंतर्गति को जाग्रत करने के लिए उक्त छंद की भावना को, जो शब्द और अर्थ के भीतर है, विशेष कार्य करना पड़ता है। रस की उद्भावना का यही रूप है।

व्यंजना-द्वारा रस-निष्पत्ति के क्रम में काव्य के भीतर कवि का व्यक्तित्व भी प्रकट होता है। व्यक्तित्व प्रकट होने पर ही उसके द्वारा आरोपित रस का यथार्थ आस्वादन किया जा सकता है। यदि यह ज्ञात रहे कि कवि के व्यक्तित्व में किसी निर्दिष्ट रस के प्रयोग की पात्रता नहीं है, तो रसास्वादन के पीछे एक अरुचि या अनिच्छा-सी वर्त्तमान रहेगी। काव्य, चित्र या मूर्ति कुछ भी हो, प्रत्येक के बाह्यरूप के भीतर कलाकार का व्यक्तित्व प्रधान रूप से प्रच्छन्न रहता है। जितने भी चित्र या मूर्तियाँ हैं, संपूर्णतः उनके अनुरूप संसार

कला में
आत्माभिव्यक्ति

में कोई वस्तु या व्यक्ति नहीं हो सकता, न किसी वस्तु या व्यक्ति का सब बातों में यथातथ्य चित्र या मूर्ति प्रस्तुत की जा सकती है। आततायियों के दमन करने के लिए प्राणोत्सर्ग करनेवाले वीर पुरुष का चित्र खींच-कर कलाकर किसी एक व्यक्ति को थोड़े ही उसमें उतारता है ! वह तो भावों की अभिव्यक्ति में हृदय के चैतन्य-रूप रस से परिपूर्ण अपने व्यक्तित्व को सामने रख देता है। काव्य की भी ऐसी ही अवस्था है। शब्द और अर्थ के भीतर कलाकार अपने व्यक्तित्व का आरोप इस भाँति करता है, जो हृदय के रस को वहन करने की योग्यता रखता हो। कवि और पद्यकार में यही अंतर है कि 'कवि' वो अपनी प्रत्येक पंक्ति में, प्रत्येक शब्द के पास हम खड़ा पायेंगे, पर पद्यकार की हाजिरी ऐसी जल्दरी नहीं। अतएव, जिस पद्य में हम कवि को उपस्थित पायेंगे, वही कविता है।^१

‘जय जय जय गिरिराज किसोरी

जय महेस मुख-चंद्र चकोरी ।’

इस छंद में प्रत्येक शब्द—‘गिरिराज’, ‘किसोरी’, ‘महेस’, ‘मुखचंद्र’ और ‘चकोरी’—के निकट कवि अपने हृदय की विशेष वृत्ति द्वारा जिस अलौकिक ‘रस’ को वहन कर रहा है, उसके आस्वादन के लिए कवि के व्यक्तित्व को पहचानकर काव्य में कवि का तदनुरूप अपनी वृत्ति को करना पड़ेगा। सीताजी कुमारी हैं, इसलिए पार्वती की वंदना में उनकी अविवाहितावस्था का आह्वान करके उनको अपने हृदय की अंतर्भावना का बोध कराया जाता है कि पति-भावना के उदय होने पर किशोरी के हृदय की कैसी दशा होती है। ‘महेस मुखचंद्र चकोरी’ में इस भावना का समावेश है कि जिस भाँति महादेव के मुख को निहारते रहने में आपको प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार रामचंद्र के

मुख की ओर देखते रहने की मेरी आकांक्षा है। सीता जी की उपर्युक्त अवस्था का चित्रण करके कवि ने अपने व्यक्तित्व को जिस रूप में व्यक्त किया है, उसको पहचानने के लिए हृदय को तदनुरूप करना पड़ेगा। यह काम व्यंजना-शक्ति के द्वारा ही संभव है। व्यंजना-शक्ति चित्त के ऊपर से राजसी और तामसी भावनाओं को हटा कर उसका रूप ऐसा उज्ज्वल, ऐसा प्रकाशमान कर देती है कि काव्य में अंतर्हित कलाकार के व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया स्पष्ट दिखने लगती है। उस अवस्था में रस के प्रयोक्ता और भोक्ता का तदाकार हो जाता है। पाठक कवि के दृष्टिकोण से संसार को देखने लगते हैं। इस भाँति व्यंजना-शक्ति के द्वारा जब कलाकार की वृत्ति से तादात्म्य स्थापित हो जाता है, तब काव्यगत आश्रय की सारी भावनाओं को पाठक या श्रोता आत्मसात् कर लेता है और वह (पाठक या श्रोता) उक्त आश्रय के व्यापार के अनुरूप अपनी भावात्मक सत्ता को स्वतंत्र कर देता है। यही रस-दशा है। तात्पर्य यह कि रस व्यंग्यार्थ द्वारा ही ध्वनित होता है, अर्थात् कला-कृतियों में व्यंजना-शक्ति द्वारा जो ध्वनि निकलती है, वही आरोपणीय और आस्वादनीय है। शब्द और अर्थ के साधारण प्रयोग द्वारा रस-व्यापार संभव नहीं है। किसी व्यक्ति के हृदय में 'हास' को व्यक्त करने के लिए हम लाख बार 'हँसो-हँसो' कहें, किंतु उससे हमारे अभिप्राय की सिद्धि नहीं होगी। उसके लिए तो शब्द और अर्थ के भीतर विशेष ढंग से एक हंगिन का आरोप करना होगा, जिसे व्यंजना-शक्ति के द्वारा समझ लेने से 'हास' का स्वाभाविक उद्रेक हो जायगा।

‘वर अनुहार बरात न भाई ।’

में शिव-विवाह के अवसर पर सजी हुई बारात की विचित्रता को देखकर विष्णु ने जो व्यंग्यात्मक रूप से कहा है कि ‘वर’ (महादेव) के बेढंगे रूप, रंग और उनके गणों की भयंकरता के बीच हमलोगों का सुंदर साज-ब्राज शोभा नहीं पाता है, उससे सच्चे हृदय में स्वाभाविक हँसी का उद्रेक हो जाता है। यही रस-क्षेत्र में व्यंजना-शक्ति का उपयोग है।

रसोचित्य और रसाभास

रस के आरोप और उसके आस्वादन के विवेचन में दिखलाया गया है कि चित्त की जब तक सत्त्व-गुण-प्रधान वृत्ति नहीं होती, तब तक रसानुभूति का व्यापार संभव नहीं है। यह भी प्रतिपादित किया जा चुका है कि काव्य का रस कोई बाहरी वस्तु नहीं है जिसका रसायनिक ढंग से प्रयोग या उपभोग किया जा सके। रस हृदय के भीतर अविद्या से ढँकी आत्मा की स्थिति-रूप है जिसकी अभिव्यक्ति या जिसका आस्वादन सत्त्व के योग से उत्पन्न भावों की पुष्टि से होता है। सत्त्व का अर्थ है मन की वह स्थिति, जिसमें

रस-विनियोग

रजोगुण और तमोगुण निष्क्रिय हो जाते हैं। रस आनंद-रूप है, इसलिए उसके विनियोग में बड़ी सतर्कता और युक्ति की आवश्यकता है। चीनी की चासनी में बिना परिपाक किये करेले को डुबा देने से उसका स्वाद, ऊपर से चाट भर लेने में थोड़ी देर मीठा भले लगे, किंतु करेले में मधुरता कभी आ नहीं सकती। उसी प्रकार भावों को

आनन्द-रूप--रस-रूप--बनाने के लिए उनके परिपाक के क्रम में आधार या आश्रय की उपयुक्तता अपेक्षित है, अन्यथा उसमें स्थिर और अविकृत आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। यही कारण है कि प्रत्येक रस के विनियोग का निर्दिष्ट विधान है। वृद्धा स्त्री में रति-शृंगार का आरोप हास्यजनक भले ही हो, रागात्मक नहीं हो सकता। किसी कायर में युद्ध-वीरता का आरोप किसके उत्साह को बढ़ावेगा ? इसलिए रस के प्रयोग में कर्तव्य-शास्त्र, धर्मशास्त्र, न्यायशास्त्र प्रभृति का आनुषंगिक उपयोग करना पड़ता है।

रस-प्रक्रिया में विभावादि का उल्लेख करके यद्यपि प्रत्येक रस के कारण, सहायक कारण तथा उसके कार्यों का रूप स्थिर कर दिया गया है तथापि उनसे यह नहीं सिद्ध होता कि एक रस का जो कारण है, वह सर्वदा समान रूप से उसी का कारण बना रहेगा। किसी रूपवती युवती को देखकर यदि किसी के मन में अनुराग या रति उत्पन्न होती है, तो उसकी प्रकृति या आचरण से दूसरे को क्रोध, तीसरे को घृणा, चौथे को विरक्ति, इस प्रकार भिन्न-भिन्न भाव हो सकते हैं। युवती के रूपजन्य सौंदर्य से रति-भाव का उद्रेक सब दिशाओं में मान्य है फिर भी उसकी शृंगार-रस-रूप-परिणति में अनेक प्रत्यवाय हो सकते हैं। सिंह आदि हिंस्र जीव कायर मनुष्य के लिए भय के कारण होने से, भयानक रस में, आलंबन विभाव होते हैं, किंतु वे ही (सिंहदि) वीर पुरुष के लिए उत्साह और क्रोध के कारण होते हैं। अतः, वीर और रौद्र रस के भी ये आलंबन हो सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि विभावादि पृथक्-पृथक् स्वतंत्र रहकर किसी विशेष रस के व्यंजक नहीं हो सकते। जो विभाव, अनुभाव और संचारी समूह रूप में एक साथ जिस विशेष रस के होते हैं, वे ज्यों-के-त्यों सम्मिलित रूप में किसी भी दूसरे रस के नहीं हो सकते। अतः, रस का औचित्य किसी निर्धारित विभाव-अनुभाव-संचारी-प्रणाली के अनुरूप सिद्ध नहीं किया जा सकता। जहाँ जिस रूप से रस की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हो सके, वहाँ के लिए वही रसौचित्य का विधान है। इस औचित्य के विचार में भाव का साधारणीकरण अपेक्षित है। कुरूप दंपति को एक-दूसरे के प्रति जो अनुराग होता है वह सबके लिए सामान्य रूप से अनुराग का कारण नहीं भी हो सकता। इसलिए रसौचित्य में ऐसे ही विभावादि का उल्लेख होना चाहिए, जो सामान्य रूप से सबके भाव को प्रभावित कर सके, फिर वह विभाव शास्त्रीय पद्धति के अनुरूप निर्धारित हो अथवा नहीं। हमको देखना यही है कि विभावादि के प्रभाव से अंतःकरण इतना स्वच्छ हो सका है कि नहीं, जिससे रजोगुण और तमोगुण विरहित शुद्ध सत्त्वगुण-प्रधान रूप में वह आत्मा या चैतन्य के साथ तदाकार हो जाय। जहाँ इस प्रक्रिया में थोड़ा भी व्यवधान होता है, वहाँ रसानुभूति नहीं हो सकती।

रसानुभूति में
विभावादि
का प्रभाव

औचित्य का कोई सर्वमान्य रूप नहीं है। श्री भानु मिश्र ने लोक-व्यवहार-जन्य-ज्ञान-विषयत्व ही को औचित्य माना है।^१ इसकी मान्यता स्वीकार कर लेने से रस-प्रक्रिया में

लोक और समाज की रुचि का भी ध्यान रखना पड़ता है। प्रत्येक रस के प्रति समाज की देश और कालगत भिन्न धारणाएँ हैं। काव्य में उनका उल्लंघन करने से रसानुभूति रस-प्रक्रिया और लोकाचार की मर्यादा में व्याधात होता है। पश्चिमी सभ्यता में प्लैटफार्म पर सबके देखते पति-पत्नी का चुंबन प्रेम का शील-संगत रूप माना जाता है, अतः वहाँ के काव्य में उसका उल्लेख रसौचित्य के अंतर्गत माना जायगा, किंतु भारतीय जातिगत आचार ऐसे कार्य को संयमशील नहीं मानता, इसलिए यहाँ, काव्य में उस प्रकार का वर्णन, रसौचित्य में व्यवधानस्वरूप हो जायगा।

इस प्रकार जब, किसी भी कारण से, रस का प्रयोग या उल्लेख अनुचित रूप से होता है तब वहाँ रसाभास कहलाने लगता है। इस संबंध में आचार्यों ने जो प्रणाली स्थिर कर दी है, उसका उल्लंघन वांछनीय नहीं है। स्त्री-पुरुष का परस्पर समान प्रेम न होना, अन्य पुरुष में नायिका का अनुराग प्रदर्शित करना, निरीद्रियों में संभोग का आरोप करना, पशु-पक्षियों में प्रेम का वर्णन करना, पर-स्त्री में अनुराग इत्यादि शृंगार का रसाभास, पूज्य व्यक्तियों से विनोद हास्य-रसाभास, विरक्ति में शोक का होना करुण रसाभास, पूज्य व्यक्तियों पर क्रोध होना रौद्र रसाभास, नीच व्यक्तियों में उत्साह होना वीर रसाभास, उत्तम व्यक्तियों में भय का होना भयानक रसाभास, यज्ञ के पशु में ग्लानि होना वीभत्स रसाभास, ऐंद्रजालिक कार्यों में विस्मय होना अद्भुत रसाभास तथा नीच व्यक्तियों में शम की स्थिति होना शांत रसाभास है। उदाहरण—

शृंगार-रसाभास—“केसव केसनि असकरि, अरिहूँ जस न कराहि।

चंद्रवदनि मृगलोचनि, बाबा कहि-कहि जाहि ॥” —केशव

यहाँ वृद्ध केशव का पर-स्त्री विषयक अनुराग वर्णित है और वह अनुराग केवल केशव की ओर से ही प्रदर्शित किया गया है। अतः अनुचित शृंगार की प्रतीति होती है। इसलिए यहाँ पर-स्त्री विषयक एकांगी शृंगार-रसाभास है।

पशु-पक्षि-निष्ठ रति के वर्णन से शृंगार-रसाभास—

“मृगियों ने चंचल आलोकन और चकोर ने निशामिसर।

सारस ने मृदु-प्रीवालिंग हंसों ने गति वारि-विहार ॥” —पंत

ये ‘अनंग’ शीर्षक कविता की पंक्तियाँ हैं। यहाँ पशु-पक्षी में मनुष्य के-से संभोग-शृंगार का वर्णन है, अतः अनुचित है।

हास्य-रसाभास—“करहि कूट नारदहि सुनाई, नीक दीन्हँ हरि सुंदरताई।

रोभहि राजकुआँरि छवि देखी, इनहि बरिहि हरि जानि बिसेखी ॥”—तुलसी

इसमें पूज्य नारद के प्रति शंकर के गणों का कूट और उपहास वर्णित है। यहाँ पूज्य नारद का हास का आलंबन होने से अनौचित्य की प्रतीति होती है। अतः अनुचित-परिपाक होने के कारण हास्य रसाभास है।

करुण-रसाभास—

“बहुरि-बहुरि कोसल पति कहहीं, जनक प्रेमवश फिरा न चहहीं।

पुनि कहि भूपति बचन सुहाये, फिरिअ महीप दूरि बड़ि आये ॥”—तुलसी

यहाँ बारात की विदाई के समय दशरथ के बार-बार कहने पर भी जनक का प्रेमवश न लौटना वर्णित है। जनक विरक्त और परम विदेह थे। इसलिए प्रेम के वश में विरक्त जनक का अनुराग दिखलाना अनुचित है। अतः यहाँ करुण-रसाभास है।

रौद्र-रसाभास—“खड़ी है माँ बनी जो नागिनी यह,

अनार्या की जनी, हतभागिनी यह।

अभी विषदंत इसके तोड़ दूँगा,

न रोको तुम, तभी मैं शांत हूँगा।” —मैथिलीशरण गुप्त

यहाँ बन-गमन के समय माँ कैकेयी के प्रति लक्ष्मण का क्रोध प्रदर्शित है। पूज्य माँ में क्रोध प्रदर्शित अनुचित है, अतः यह रौद्र-रसाभास है।

वीर-रसाभास—“लेहु छुड़ाय सीय कहँ कोऊ, धरि बौधहु नृप बालक दोऊ।

तोरे धनुष काज नहिं सरई, जीवत हमहिं कुँअरि को बरई ॥

जो विदेह कछु करै सहाई, जीतहु समर सहित दोउ भाई ॥” —तुलसी

इसमें राम द्वारा शिव-धनुष तोड़ने पर कुछ छोटे और नीच राजाओं में राम और जनक को पराजित करने का उत्साह दिखलाया गया है। यहाँ रामचंद्र प्रतापी और पूर्ण समर्थ आलंबन हैं और धनुष-भंग के कार्य से उद्दीप्त उत्साह स्थायी भाव के रूप में अभिव्यक्त है। किंतु यह उत्साह रामचंद्र-जैसे प्रतापी के लिए नीच राजाओं का है। अतएव, इसका परिपाक अनुचित रूप से हुआ है। अतः इसमें वीर-रसाभास है।

भयानक-रसाभास—छेड़ने चले जो इन सिंहियों की सेना को ॥

तत्त्वण ही युद्ध साज ! मूढ़ वह जन है।

देखूँ, चलो, मैं तुम्हारी भ्रातृ-पुत्र-पत्नी को ॥” —मेघनादवध

इसमें मेघनाद की पत्नी की सेना को देखकर प्रतापी राम में भय की प्रतीति की अभिव्यक्ति है। अतः उत्तम व्यक्ति में भय का संचार होने से यहाँ भयानक-रसाभास है।

वीभत्स-रसाभास—“दारुण दृश्य ! रधिर के छींटे अस्थि खंड की माला।

वेदी की निर्मम प्रसन्नता, पशु की कातर वाणी ;

मिलकर वातावरण बना था, कोई कुत्सित प्राणी ॥” —प्रसाद

इसमें मनु के यज्ञ-पशु की बलि के दृश्य का वर्णन है। रधिर के छींटे, अस्थि-खंड की माला, पशु की काव्यवाणी से वीभत्स की प्रतीति होती है, किंतु यहाँ यज्ञ-पशु आलंबन होने के कारण रस न होकर वीभत्स-रसाभास है।

अद्भुत-रसाभास—“खगराज के पीठ ते आज लखी, उतरी रमा ठाढ़ी धरा पै मड़ी।

हाँ, हाँ, लाट-लट्टरे की लेडी नयी सुनी आई हवाई जहाज चढ़ी ॥” —हिंदी-प्रेम

यहाँ किसी ग्रामीण के मुख से यह सुनकर कि गरुड़ की पीठ पर से लक्ष्मी को उतरते देखा,—इस असंभव घटना से आश्चर्य हुआ। किंतु तभी किसी अप-टु-डेट महिला के मुख से यह जानकर कि लाट साहब की मेम हवाई जहाज से उतरी हैं—इस समाधान से आश्चर्य आभास में परिणत हुआ। अतः यहाँ अद्भुत रसाभास है।

शांत-रसाभास—

“सुद्र एक सम्बूक तपत पृथ्वी पै भारी।

तिह सिर छेदन जोग तिहारे राम खरारी ॥

ताहि मारि अब सीघ्र लोक मरजाद रखाओ।

दै द्विज बालहिं प्राणदान जग अजस नसाओ ॥” —सत्यनारायण

इसमें शूद्र शंबुक में निर्वेद की स्थिति दिखलाई गई है, जो भारतीय लोकाचार के विरुद्ध है। अतः शांत का अनुचित परिपाक हुआ है। अतएव, शांत-रसाभास है।

साहित्य-साधना की पृष्ठभूमि

पाँचवाँ अध्याय

दृश्य-काव्य-तत्त्व-विमर्श

पाँचवाँ अध्याय

दृश्य-काव्य-तत्त्व-विमर्श

दृश्य काव्य की विशेषताएँ

दृश्य काव्य का साधारण अर्थ है ऐसा काव्य जो प्रधान रूप से चक्षुरिन्द्रिय का विषय हो। चक्षुरिन्द्रिय का विषय रूप है और दृश्य काव्य के रसास्वादन में इसी इंद्रिय के विशेष सहायक होने के कारण ऐसे काव्य को 'रूपक' कहा जाता है।^१ चक्षुरिन्द्रिय का विषय होने के लिए काव्य को मूर्तरूप धारण करना पड़ता है। वाणी-विधान द्वारा काव्य का जो मूर्त-रूप प्रकट किया जाता है वह तो उसका बाह्य शरीर—एक आवरण मात्र है। ऐसे बाह्य शरीर के भीतर भाव-रूप उसका अंतःशरीर है, जिसके रूप-दर्शन से उसका यथार्थ परिचय प्राप्त होता है। भाव-सूक्ष्म होने के कारण काव्य का यह रूप स्थूल चक्षु—बाहरी आँखों—का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि सूक्ष्म विषय को स्थूल इंद्रियों ग्रहण नहीं कर सकती। प्रत्येक काव्य वाणी के पथ से एक भाव-चित्र या बिंब हृदय-पट पर अंकित करता है, जो काव्य के आश्रय के साथ तदाकारवृत्ति से परिवर्द्धित और पुष्ट होकर आस्वादनीय हो जाता है। इसलिए, किसी भी काव्य में तद्गत बिंब-चित्र का अंतर्चक्षु - सूक्ष्म-आँखों—के सम्मुख उपस्थित होना उसकी वास्तविकता का प्रथम लक्षण है। कविता हो या उपन्यास, कहानी हो या आख्यान, सब में इस प्रकार का एक बिंब या भाव-चित्र उपस्थित करने की ज़रूरत होनी ही चाहिए। रूपक भी काव्य ही का एक भेद होने के कारण इसे ऐसे बिंब-विधान से बहिर्गत नहीं किया जा सकता। किंतु इसका बिंब-व्यापार श्रव्य काव्य के बिंब-व्यापार से पूर्णतः भिन्न है। दृश्य काव्य का बिंब सूक्ष्म नहीं रहकर नाटकीय पात्रों के रूप में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है; इसलिए वह स्थूल दर्शनैन्द्रिय का विषय है। श्रव्य काव्यगत बिंब को हम कल्पना की आँखों से ही देख सकते हैं, किंतु दृश्य काव्य चक्षुरिन्द्रिय के प्रत्यक्ष व्यापार द्वारा उक्त बिंब को दुहरे रूप से हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। दृश्य काव्य में काव्यगत भाव-चित्र को कल्पित पात्रों के जीवन-व्यापार द्वारा प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर करा दिया जाता है, इसलिए यह केवल सुनने की नहीं, बल्कि देखने की भी वस्तु है। दृश्य काव्य में बिंब-चित्र मूर्त हो जाता है। उसका एक विशेष सहायक आ जाता है। भारतेन्दुजी ने इसके परिचय में लिखा है कि 'दृश्य काव्य वह है, जो कवि की वाणी को उसके हृदयगत आशय और भाव-भाव-सहित प्रत्यक्ष दिखला दे। जैसा कालिदास ने 'शकुंतल' में भ्रमर के आने पर शकुंतला की सूधी चितवन से कटाक्षों का फेरना जो लिखा है, उसको प्रथम चित्रपटी द्वारा उस स्थान का, शकुंतला-वेश-सज्जित स्त्री द्वारा उसके रूप-यौवन और वनोचित शृंगार का, उसके नेत्र, सिर, हस्त-चालनादि द्वारा उसकी

अंग-भंगी और हाव-भाव का, तथा कवि-कथित वाणी के उसी के मुख से कथन द्वारा काव्य का दर्शकों के चित्त पर खचित कर देना ही दृश्य काव्यत्व है ।^१

दृश्य काव्य के चक्षुरिन्द्रिय के व्यापार के विषय होने का अर्थ यह नहीं है कि वह केवल आँखों से ही देखा जाता है और अन्य इंद्रियों उसमें कोई काम नहीं करतीं । आनंद-प्राप्ति में ज्ञानेंद्रियों का कार्य संपूर्णतः एक दूसरे के कार्य से स्वतः स्वतंत्र हो ही नहीं सकता । यद्यपि संपूर्ण ज्ञानेंद्रिय का संचालक मन होने के कारण इंद्रियों में स्वतंत्र रूप से कर्तृत्व का आरोप नहीं किया जा सकता, फिर भी, जब मन की प्रेरणा से इंद्रियाँ क्रियातत्पर होती हैं तब उनमें किसी एक इंद्रिय का कर्तृत्व प्रधान हो जाता है और अन्य इंद्रियाँ अप्रत्यक्ष या गौण रूप से काम करती हैं । रस-प्रकरण में इसका विवेचन हो चुका है कि सब इंद्रियों के व्यापार-समन्वय में ही वास्तविक आनंद की अनुभूति हो सकती है । किसी रमणीय उपवन की सौंदर्यानुभूति के लिए केवल लता-फूलों को देख लेना ही अलम् नहीं है । यह अवश्य है कि वहाँ चक्षुरिन्द्रिय का व्यापार प्रधान रहता है, किंतु उस दर्शन की पूर्णता के लिए गौण या सूक्ष्म रूप से उपवन में बैठी हुई चिड़ियों की चहक को सुनने में श्रवणेंद्रिय, उसकी भीगी सुगंध का उपभोग करने में घ्राणेंद्रिय, पुष्पादि की कोमलता से स्पर्शेंद्रिय तथा फलादि के आस्वादन में स्वादेंद्रिय के सूक्ष्म व्यापार की आवश्यकता होती है । जहाँ ऐसा नहीं होता, वहाँ आनंदानुभूति की पूर्णता निष्पन्न नहीं होती । इस भाँति किसी भी कार्य में एक इंद्रिय का व्यापार प्रधान और अन्य इंद्रियों का गौण होकर आनंद या रस की परिपूर्णता प्रतिपादन करता है । कला इंद्रियों को आनंदानुभूति के क्षेत्र में क्रिया-तत्पर होने के लिए अन्प्रेरित करती है । कोई कला चक्षुरिन्द्रिय को अधिक प्रभावित करती है तो कोई श्रवणेंद्रिय को । किंतु ऐसी कलाओं के व्यापार में एक इंद्रिय-विशेष प्रभावित होकर अन्य इंद्रियों के सूक्ष्म सहयोग से आनंदानुभूति का कारण होती है । कहने का तात्पर्य है कि समस्त ज्ञानेंद्रियों के सहयोग से ही पूर्ण आनंद की प्राप्ति हो सकती है । ऐसा नहीं होता तो किसी को केवल देखकर ही हम यह कैसे कहते कि 'वह कितना कोमल है ।' कोमलता स्पर्शेंद्रिय का विषय है । हमने त्वर्गिन्द्रिय का व्यवहार नहीं किया है, किंतु चक्षुरिन्द्रिय के व्यापार में उसका सूक्ष्म सहयोग प्राप्त किया है । इसी को नव्य नैयायिक ज्ञान-लक्षण कहते हैं ।

काव्य साधारणतः श्रवणेंद्रिय का ही विषय है अर्थात् कानों द्वारा सुनने की प्रधानता से हम काव्य-कला द्वारा आनंद प्राप्त करते हैं । कविता, कहानी, उपन्यास, जीवनचरित या भ्रमण-वृत्तांत प्रभृति को सुनकर या पढ़कर ही हम आनंद प्राप्त करते हैं, इसलिए **देखना और सुनना अपेक्षित** इनका नाम श्रव्य काव्य है । श्रव्य काव्य में केवल श्रवणेंद्रिय के व्यापार की प्रधानता होती है । अन्य इंद्रियों का सहयोग सूक्ष्म रहता है । दृश्य काव्य, जैसा आरंभ में ही लिखा गया है, चक्षुरिन्द्रिय का विषय है, इसलिए आनंद-प्राप्ति में उसकी प्रधानता मान्य होनी चाहिए । किंतु वैसा होता नहीं है । यह सच है कि चक्षुरिन्द्रिय का व्यापार यहाँ प्रधान रहता है, लेकिन उस प्रधानता के साथ-साथ श्रवणेंद्रिय का

व्यापार भी अपनी प्रधानता को स्थिर करते देखा जाता है। इसलिए दृश्य काव्य के व्यापार की दो स्पष्ट दिशाएँ हैं—एक देखना और दूसरा सुनना। नाटक दृश्य काव्य का प्रतिनिधि रूप है नाटक को केवल देखकर ही हम आनंद प्राप्त नहीं करते, बल्कि देखने के साथ-साथ रंग-मंच पर अभिनेताओं के वार्त्तालाप को भी सुनना चाहते हैं। नाटक में भावों या विचारों को प्रकट करने के लिए वाणी, इंगित तथा नाट्य द्वारा अनुकरण किया जाता है। वाणी श्रवणेंद्रिय का तथा इंगित और नाट्य चक्षुरिन्द्रिय के विषय हैं। जहाँ सुनने के व्यापार में दृश्य की अनुपपत्ता का निर्वाह नहीं होता, वहाँ आनंद नहीं मिल सकता। दूसरे शब्दों में देखना और सुनना दृश्य काव्य में समान रूप से अपेक्षित है। यदि केवल देखना ही अभीष्ट रहता, तो अवाक् चित्रपट-जैसा वह आनंद से बढ़कर कुतूहल की वस्तु होता—उसमें वह सजीवता नहीं होती जो श्रव्य काव्य में अपेक्षित है। अतः नाटक में श्रवणेंद्रिय और चक्षुरिन्द्रिय का युगपत् व्यापार एक दूसरे के साथ न्यूनाधिकता का निर्वाह करते हुए चलते रहता है। अन्य काव्यों से दृश्य काव्य की यही विशेषता है कि अन्य काव्यों में श्रवणेंद्रिय का ही व्यापार प्रधान है, दृश्य काव्य में श्रवणेंद्रिय और चक्षुरिन्द्रिय दोनों का। अन्य काव्यों को सुन भर लेने ही से हमें आनंद मिलता है, किंतु दृश्य काव्य को सुनने के साथ-साथ उसकी घटनाओं का प्रत्यक्ष रूप देख लेने के बाद यथार्थ आनंद मिलता है। नाटक में निर्दिष्ट शील-स्वभाव के पात्रों को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में डालकर उनकी वाणी और क्रियाकलाप द्वारा रस-संचार कराया जाता है। इसके लिए नाटक-रचना में बड़ी सतर्कता और संयम की आवश्यकता है।

दृश्य काव्य में अन्य काव्यों जैसा ही, घटनाएँ कलात्मक रूप में प्रदर्शित की जाती हैं, अर्थात् जो घटना जिस रूप में घटित हुई है, उसका अविकल और संपूर्ण अनुकरण नहीं कर उसके प्रासंगिक तथा मार्मिक अंग को ही दृश्य बनाया जाता है। यदि कलात्मक रूप में घटना का निर्वाह ऐसा न किया जाय तो वह कलात्मक न होकर कृत्रिम हो जायगा। कलात्मकता के निर्वाह के लिए घटनाओं को इस भाँति सजाना पड़ता है कि उनका आधार स्थिर रहे और व्यर्थ उनका विस्तार न होने पावे। घटनाओं के ऐंभ प्रत्यक्षीकरण में बहुत-सी बातें छोड़ दी जातीं और कुछ नई उसमें जोड़ भी दी जातीं हैं। इसी कतर-ब्याँत में कला की उपयोगिता है। अपटु चित्रकार किसी पर्वत का चित्र खींचने के लिए उसके अंग-प्रत्यंगों को उतारकर भी सफल नहीं होता जब कि निपुण शिल्पी एक मामूली पेंसिल से यों ही टेंढ़ी-मेढ़ी रेखाओं में, उसके कई अंगों को छोड़-छाड़कर भी, सुगमतापूर्वक पर्वत की समग्रता का चित्र उपस्थित कर देता है। यही हाल दृश्य काव्य-विधान का है। कलाकार इसमें घटनाओं के अनेक अंशों को छोड़कर भी किसी कथानक की समग्रता का ऐसा सुंदर चित्र उपस्थित कर देता है कि देखनेवाले को उसकी संपूर्णता का परिचय मिल जाता है। ऐसी घटनाओं के प्रदर्शन में चक्षुरिन्द्रिय और श्रवणेंद्रिय का समान रूप से उपयोग होता है।

घटनाओं की काट-छाँट का जो उल्लेख ऊपर किया गया है, उसमें स्मरण रखना चाहिए कि ऐसी ही घटनाएँ प्रदर्शित हों, जो मुख्य जीवन-व्यापार से विशेष संबंध रखती हैं। जीवन के सामान्य व्यापार को, उनके साधारण रूप में, प्रकट करने से उसमें कोई महत्त्व नहीं रहता। इसलिए, दृश्य काव्य में ऐसी ही घटनाओं की अवतारणा होती है, जो हृदय की संवेदना को तीव्र करने में समर्थ हों; जो दर्शकों के तद्गत भावों को नाटकीय

पात्रों के प्रति उत्तेजित कर सकें। यही कारण है कि जीवन के सामान्य-व्यापार—भोजन, शयन आदि दृश्य काव्य में त्याज्य हैं। इसी प्रकार 'अत्यंत उत्तेजक दृश्य—हत्या आदि—भी प्राच्य नाट्यकला में वर्जित हैं। भोजन-शयनादि व्यापारों से काव्यगत जीवन का केवल शरीर-धर्म ही सूचित होता है; जीवन के आभ्यन्तर रूप पर उनसे कोई प्रकाश नहीं पड़ता। किंतु ऐसे व्यापार जहाँ किसी मार्मिकता या रोमांचकता से संबंध रखते हैं, वहाँ उनका परित्याग नहीं होना चाहिए। पूजा करना मनुष्य का एक नैमित्तिक व्यापार है। दृश्य काव्य में पूजा करने का दृश्य उपस्थित करने में कोई विशेषता नहीं है, किंतु 'मेघनाद वध' में जहाँ मेघनाद पूजा कर रहा है और लक्ष्मण उसी समय उसको बाण मारते हैं, वहाँ पूजा का वह व्यापार दर्शकों की सहायभूति को उत्तेजित करने में बड़ा सहायक होता है। मेघनाद-वध की कथा-वस्तु पर यदि कोई नाटक लिखा जाय तो इस घटना का उल्लेख उसमें आवश्यक होगा। जीवन के साधारण व्यापार यदि किसी महत्त्वपूर्ण उद्देश्य के साथ संश्लिष्ट हों तो उनका दृश्य वर्जनीय नहीं माना जा सकता।

दृश्य काव्य का विषय केवल जीवन का साधारण व्यापार या बाहरी घटनाएँ नहीं होतीं। इन घटनाओं के अंदर जो मानव-प्रवृत्ति काम करती है, उसी का प्रत्यक्षीकरण दृश्य काव्य का उद्देश्य है। क्रोध, करुणा, प्रेम, घृणा आदि कारण-भूत होकर मनुष्य से जो व्यापार कराते हैं, उन्हीं को कल्पित पात्रों में विन्यस्त कर कलात्मक रूप से घटनाओं द्वारा व्यक्त किया जाना चाहिए। इसके लिए जहाँ व्यापार के प्रदर्शन से विशेष प्रभाव पड़ता है, वहाँ वह नाट्यरूप में प्रकट किया जाता है और जहाँ केवल कथोपकथन या वार्तालाप से अधिक प्रभाव पड़ता है, वहाँ गीतादि या संलाप के रूप में व्यक्त किया जाता है। यही कारण है कि दृश्य काव्य में श्रव्य काव्य के भी गुण रहते हैं, क्योंकि जहाँ केवल वार्तालाप या संगीत सुनकर ही आनंद प्राप्त किया जाता है, वहाँ नाटक श्रव्य काव्य के अंतर्गत हो जाता है।

दृश्य और श्रव्य काव्यों का अंतर

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि ज्ञानेंद्रियों के समस्त-व्यापार द्वारा ही आनंद की प्राप्ति होती है, किंतु व्यापार-क्षेत्र में अपनी-अपनी प्रधानता के कारण काव्य का नाम दृश्य या श्रव्य रखा जाता है। न दृश्य काव्य केवल आँखों का विषय है और श्रव्य काव्य केवल कानों का। श्रव्य काव्य को पढ़ने या सुनने के समय प्रत्यक्ष रूप से दिखाई नहीं पड़ता कि अन्य ज्ञानेंद्रियों किस भाँति वहाँ अपना कार्य करती हैं, किंतु हम देखते हैं कि जब किसी काव्य को कानों से सुन लेते तब उसके साथ ही या उसके बाद कल्पना-जगत में काव्यगत भाव-चित्र का एक बिंब उपस्थित हो जाता है, जिसे सूक्ष्म आँखों से ही देखा जाता है, अर्थात् काव्य को पढ़ने-सुनने के बाद उसके बिंबात्मक रूप को हम सूक्ष्म चक्षुरिंद्रिय द्वारा देखने लगते हैं। अन्य सूक्ष्म इंद्रियों का व्यापार और भी सूक्ष्म रूप से उसके साथ होने लगता है, जिसके फलस्वरूप यथार्थ रस या आनंद की प्राप्ति होती है। इस प्रकार दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य विशेष इंद्रियों के भिन्न व्यापार-प्रधान विषय

हैं। श्रव्य काव्यमें विशेषतः छंदोबद्ध आख्यान या प्राकृतिक दृश्य लिए जाते हैं। वह अपनी लयात्मक प्रवृत्ति और पद्यबद्ध प्रकृति के कारण दृश्य काव्य से केवल रंग रूप में ही नहीं, बल्कि विषय के प्रतिपादन की शैली और उद्देश्य में भी स्पष्ट अंतर रखता है। श्रव्य काव्य में जीवन के संपूर्ण विधानात्मक व्यापारों को केवल शब्द द्वारा और दृश्य काव्य में शब्द के साथ-साथ व्यापार, क्रिया या अभिनय द्वारा जीवन को अभिव्यक्त किया जाता है। दृश्य काव्य में श्रव्य काव्य की विशेषता सन्निहित रहती है, किंतु श्रव्य काव्य में दृश्य काव्य की नहीं। दृश्य काव्य होने के लिए श्रव्य काव्य को अपने रूप और प्रकृति में संपूर्ण परिवर्तन करना होगा। युद्ध, विप्लव, राज्यविप्लव, मार-काट आदि का श्रव्य काव्य में निर्वाह हो सकता है; किंतु प्राच्य

निषेध-विषय

साहित्य-शास्त्र के अनुसार दृश्य काव्य में नहीं। इतना होने पर भी जीवन की यथार्थता का प्रत्यक्षीकरण दोनों को समान रूप से मान्य है, और उस आधार पर दोनों में ऐसी समानता है, जो एक दूसरे को संपूर्णतः भिन्न नहीं होने देती। दृश्य काव्य के रूप-विधान में जितनी सीमितता है, उतनी श्रव्य काव्य में नहीं। श्रव्य काव्य के प्रबंध काव्य, मुक्तक, उपन्यास, कथा-कहानी, जीवन-वृत्तांत, पत्र आदि अनेक रूप हैं। दृश्य काव्य 'नाटक' या नाटकीय ढंग के वाङ्मय में ही सीमित है, इसलिए नाटक और श्रव्य काव्य के विविध रूपों के संबंध पर थोड़ा विवेचन आवश्यक है।

यद्यपि प्रत्येक काव्य का प्रधान उद्देश्य मानवजीवन का प्रत्यक्षीकरण ही होता है, तथापि उपन्यास और नाटक में यह प्रत्यक्षीकरण विभिन्न रूप से हुआ करता है। उपन्यास में कलाकार को प्रकट रहने की जितनी सुविधा और स्वतंत्रता रहती है, उतनी नाटक में नहीं। उपन्यास के पात्रों के साथ कलाकार स्वयं उपस्थित रहकर उनके चरित्र के विकास में प्रत्यक्ष योग देता हुआ-सा मालूम होता है। वह चाहे जिस रूप से कथा-वस्तु का विस्तार कर सकता है, किंतु नाटक में कलाकार की उपस्थिति अपेक्षित नहीं। वहाँ पात्रों के द्वारा, नियमित रूप से, कई प्रतिबंधों के बीच सब-कुछ कराना पड़ता है। उपन्यास के पात्रों का क्षेत्र खुला हुआ संसार है, इसलिए उपन्यास के रूप को स्थिर करने में स्थान और समय का कोई प्रतिबंध नहीं रहता। नाटक के पात्रों को निश्चित समय के भीतर ही जीवन-व्यापार को समग्र रूप से, निर्धारित नियमों के अनुसार, प्रत्यक्ष करना पड़ता है। नाटक में कलात्मकता अधिक संयम और अवधान की अपेक्षा रखती है जब कि उपन्यास में धैर्य और सतर्कता की रक्षा में वर्णन-शैली कुछ ढीली भी हो सकती है। शकुंतला और दुष्यंत की कथावस्तु को उपन्यास में चाहे जितना भी विस्तृत कर वर्णित किया जा सकता है, किंतु नाटक में उसे ऐसे कलात्मक ढंग से प्रदर्शित करना होगा कि निश्चित समय के अंतर्गत ही उसका संपूर्ण अभिनय समाप्त हो सके। रंगशाला के प्रतिबंधों के कारण नाटक के पात्रों के साथ ऐसे नियम बंधे रहते हैं कि उनकी अनुपपत्ता से कार्यों के संपादन में रंच मात्र भी नुटि नाटकीय सौंदर्य को बिगाड़ देती है। इस प्रतिबंध के कारण जहाँ नाटक उपन्यास की अपेक्षा परतंत्र-सा है, वहाँ दृश्य काव्य होने के कारण उसमें प्रत्यक्षानुभव की विशेष क्षमता रहती है। अपने अभिनयात्मक व्यापार-द्वारा नाटक जीवन की अभिव्यक्ति में जैसी सजीवता उत्पन्न कर सकता है, उस तरह उपन्यास नहीं कर सकता। अभिनयात्मक व्यापार की सुविधा के कारण जीवन के वैसे कार्यों को, जिनका वाणी द्वारा कथन

शोभनीय नहीं मालूम होता, नाटक के पात्र भी जिस सांकेतिक प्रणाली से व्यक्त कर सकते हैं, उपन्यास के पात्र वैसा नहीं कर सकते, किंतु इस सुविधा के रहते हुए भी नाटक का पथ इसलिए थोड़ा जटिल हो जाता है कि कथा-प्रसंग के निर्वाह के लिए नाटक में पात्रों द्वारा अभिव्यक्त आधिकारिक वस्तु को बड़ी बारीकी से आगे बढ़ाना पड़ता है, जिससे कि अनेक स्थलों को छोड़ देने के बाद भी अधिकारी के व्यापार की समग्रता के बोध में किसी प्रकार का व्याघात नहीं पहुँचे। उपन्यास में यह कठिनाई नहीं रहती। उसके कथा-प्रसंग के निर्वाह में इस भौति काट-छाँट की आवश्यकता ही नहीं रहती।

नाटक कथावस्तु के प्रधान पात्र के संपूर्ण जीवन को व्यक्त करे, यह अनिवार्य नहीं है। यद्यपि संपूर्ण जीवन की अवतरणिका नाटक के क्षेत्र में वर्जित नहीं है, कई नाटकों में नायक के सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति हुई है, फिर भी जीवन के किसी एक अंश को या उसकी एक ही दिशा को भी, नाटक में अवतरित किया जा सकता है। उसके लिए इतना ही आवश्यक है कि जीवन के उस भाग में विशेष मार्मिकता हो। भावात्मक नाटक में तो हृदय की वृत्तियों को ही पात्र-रूप में कल्पित कर रंगमंच पर उतारा जाता है। इस भौति जीवन का कोई मार्मिक अंश या भाव नाटक की वस्तु हो सकता है। कहानी में भी ऐसा ही जीवन का कोई मर्मस्पर्शी भाग वर्यवस्तु होता है। अपनी इस एकआंशिकता के कारण ही कहानी उपन्यास से भिन्न होती है। उपन्यास में जीवन की अपेक्षाकृत समग्रता का चित्र रहता है, जब कहानी उसके किसी एक भाग को ही प्रत्यक्ष करती है। कहानी की कथा-वस्तु में इसलिए एक ही संवेदना रहती है, अर्थात् कहानी के पढ़ने-सुनने से पाठक या श्रोता के हृदय में एक ही संवेदना तीव्र होकर रस-दशा को प्राप्त कर सके, ऐसी जमता उसमें होनी चाहिए।

**नाटक, कहानी और
उपन्यास में संवेदना
के भिन्न रूप**

साधारण नाटक में भी प्रधान संवेदना यद्यपि एक ही रहती है; फिर भी, उसके साथ पात्रगत चरित्रों के अवलोकन से अन्य संवेदनाएँ भी उठती रहती हैं। एकांकी नाटक में यह संभव कर दिया गया है कि जीवन के किसी मार्मिक भाग को अवतरित कर एक ही संवेदना को जाग्रत होने का अवसर दिया जाय, किंतु रंगमंच का प्रतिबंध यहाँ भी कहानी की वर्णनात्मक स्वच्छंदता के सम्मुख उसको जकड़-सा देता है। कहानी में पात्रों के चरित्र का विकास ऐसे क्रम से हुआ रहता है कि संवेदना का वेग आरंभ में हल्का रहता, मध्य भाग में पर्यंत भूमि तक पहुँच जाता और अंत में फिर धीरे-धीरे साधारण अवस्था को प्राप्त हो जाता है। नाटक में साधारणतः संवेदना का उत्कर्ष धीरे-धीरे होकर उसके अंत के साथ ही परावस्था को प्राप्त होता है अर्थात् जब संवेदना अपनी तीव्रता की पराकाष्ठा को प्राप्त होती है, उसी समय नाटक समाप्त कर दिया जाता है। अधिकांश नाटकों में नायक के चरित्र के उत्कर्ष या अपकर्ष की अंतिम अवस्था का प्रदर्शन ही उसका उद्देश्य रहता है, जिससे संवेदना को पर्यंत भूमि पर पहुँचकर पुनः अवरोहण का अवसर नहीं मिलता। कोई-कोई नाटककार इसके विपरीत अपने नाटकों में नायक के चरित्र का परम उत्कर्ष या अपकर्ष दिखलाकर संक्षेप में ऐसी बातों का उल्लेख कर देते हैं जिससे संवेदना की तीव्रता में थोड़ा उतार उपस्थित हो जाय, किंतु सब नाटकों में इसका निर्वाह आवश्यक नहीं समझा जाता है।

मानव-जीवन का विवरणत्मक परिचय जितना विस्तृत और प्रत्यक्ष रूप से जीवन-चरित में मिलता है, उतना उपन्यास या नाटक में नहीं, किंतु जीवनचरित के वर्णन में भी

**नाटक और
जीवनचरित**

यदि कलात्मकता का निर्वाह नहीं किया जाय, तो वह किसी के मनोरंजन या आनंद की वस्तु नहीं हो सकता। कोई नित्य क्या खाता है, कहाँ सोता है, किसको देता और किससे लेता है, इसकी दैनंदिनी जानकर किसी को आनंद नहीं मिल सकता। किसी का जीवन-व्यापार तभी दूसरों के लिए आनंद का विषय हो सकता है जब उससे सामान्य लोक-जीवन पर कोई प्रभाव पड़ता हो। अर्थात् उसका जीवनक्रम शृंखला की वैसी कड़ियों से बँधा हो जो सर्वजनसुखाय या लोकहिताय के द्रव्यों से निर्मित हों। स्वार्थ या व्यक्तिगत लाभ-हानि का परिहार करके जिसका जीवन कर्मभूमि पर जिस रूप से आगे बढ़ता है, उसी रूप से वह लोगों के आनंद का विषय बन जाता है। जीवनचरित में यदि ऐसे व्यापार का अभाव रहेगा, जिससे सामान्य लोक-जीवन के शक्ति-संवर्द्धन में सहायता पहुँचे, तो वह जीवनचरित साहित्य की वस्तु न होकर किसी की दिनचर्या का एक संग्रहमात्र होगा। यही कारण है कि जीवनचरित में भी आधिकारिक पात्र का चरित्र कलात्मक रूप से सबके सम्मुख आना चाहिए। ऐसा करने में कलाकार को जीवनचरित में भी नाटकीय कौशल का उपयोग करना होगा। चरितनायक की दिनचर्या के उस रूप को, जिसका संबंध उसके व्यक्तिगत स्वार्थ या योग-जेम से है, अलग करके वैसे ही अंश को यथातथ्य वर्णित करना होगा, जो उसके आचरण के रूप में लोक-जीवन का अंश हो। हाँ, इसके लिए इतनी सुविधा अवश्य रहती है

**लोक जीवन ही
जीवन चरित्र का
प्रमुख विषय**

कि नाटक में वैसे अनावश्यक अंगों का सर्वथा त्याग कर दिया जाता है जब कि जीवनचरित में उनका उल्लेख वर्णित नहीं है। किंतु इसके विपरीत जहाँ जीवन-चरित में व्यक्तिगत स्वार्थ से संबंध रखनेवाली घटनाओं का कोई महत्त्व नहीं रहता, वहाँ नाटक में यदि उनसे ही लोक-हृदय में संवेदना की उत्पत्ति हो सकती है, तो उनका प्रदर्शन किया जाता है। जिस प्रकार किसी के जीवनचरित में उसके भोजन-संबंधी नित्य क्रिया का उल्लेख आवश्यक नहीं है, यदि उसमें कोई विशेषता नहीं हो, किंतु नाटक में यदि उसके भोजन की घटना से कथावस्तु में कोई रोचकता या रोमांचकता आ सके, तो उसका प्रदर्शन आवश्यक हो जाता है।

नाटक में काव्यत्व और रंगमंच

कुछ पश्चिमी समालोचक नाटक को शुद्ध काव्य नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि श्रव्य काव्य में जिस भाँति काव्य का मूल द्रव्य संपूर्ण रूप से प्रस्तुत रहता है, उस भाँति

**नाटक शुद्ध
काव्य नहीं**

नाटक में नहीं रहता, क्योंकि रंगमंच पर अभिनीत होने के कारण काव्य-वस्तु की एकांगिकता दूषित हो जाती है। अन्य काव्यों में बाह्य जगत् की वस्तुओं के आकार-प्रकार को तदनु रूप वर्णित कर जिस तरह वास्तविकता का निर्वाह किया जा सकता है, उस तरह नाटक में नहीं हो सकता। हम हजार फुट ऊँचे पर्वत-शिखर को उसी रूप से काव्य में वर्णित करते हैं, किंतु हजार फुट ऊँचे शिखर को रंगमंच पर दिखलाने के समय उसकी यथानुरूपता में अत्यंत लाघव उपस्थित करना पड़ता है। प्राकृतिक दृश्य का जैसा रंग-रूप हमें दृष्टिगोचर होता है, काव्य में वैसा ही व्यक्त किया

जाता है, किंतु नाटक में रंगशाला के अनुकूल बनाने के लिए उसमें मनोनुकूल परिवर्तन करना पड़ता है। काव्य को यथार्थ दृश्य-विधान का कोई प्रतिबंध नहीं है, किंतु नाटक में वह दृश्य-विधान, रंगशाला के ज्ञान के आधार पर, कई प्रकार के बंधनों को अपना लेता है। यही कारण है कि उसमें वास्तविकता और यथानुरूपता नहीं हो सकती। केवल काव्यत्व की रक्षा नाटक की सुंदरता का हेतु नहीं है। नाटक में काव्यत्व दृश्य-विधान और चरित्र-विकास का अनुगामी या सहगामी हो सकता है, अग्रगामी नहीं। काव्यत्व का अविकल सन्निवेश नाटक के अभिनयात्मक व्यापार पर बाधा उपस्थित कर देता है।

यह सच है कि काव्य के मूल द्रव्यों को लेकर जिस प्रकार श्रव्य काव्य की रचना हो सकती है, उस प्रकार नाटक की नहीं; क्योंकि नाटक केवल सुनने की ही नहीं, बल्कि देखने की

**दृश्य-काव्य में
रंगमंच**

भी वस्तु है। फिर भी, नाटक में काव्यत्व का सर्वथा अभाव नहीं हो सकता। यदि काव्य को केवल अभिव्यक्ति के ही रूप में सीमित कर दिया जाय, तो नाटक में इसके लिए भी कम स्थान नहीं है। भावों को

व्यक्त करने के लिए दो शैलियाँ हैं—एक में विस्तार या प्रपंच के साथ उन्हें व्यक्त किया जाता है, और दूसरे में संक्षेप या संकेत के साथ। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने इन्हीं दोनों शैलियों को 'गौण उपाय' और 'मुख्य उपाय' कहा है। 'थोड़ी बात में गुरुतर भाव व्यक्त करने का नाम मुख्योपाय है। यही नाटक-जीवन की महौषधि है।' काव्य-सौंदर्य में इसी का निर्वाह होता है। नाटक का उद्देश्य भी अन्य काव्यों-जैसा रस-संचार ही है। यह रस-संचार केवल बाह्य दृश्य-विधान द्वारा नहीं हो सकता। बाह्य दृश्य-विधान एक साधनस्वरूप है। नाटकीय पात्रों का स्थूल रूप रस-संचार का कारण नहीं होता है। पात्रों के अभिनय को रंगशाला पर देख लेने के बाद बिंब-रूप में जो एक चित्र हृदय पर अंकित होता है, वही रसोत्पत्ति का प्रधान कारण होता है। भाव या रस हृदय की वस्तु है। बाह्य दृश्य जब तक बिंब-रूप में हृदय की वस्तु होकर भाव को प्रत्यक्ष रूप से उत्तेजित नहीं करता, तबतक रसानुभूति संभव नहीं है। रसानुभूति के लिए पात्रों के बाह्य व्यापार को देखने के बाद भी तत्तत्तत् बिंब की अपेक्षा रह जाती है। बच्चों में यह बिंब-व्यापार नहीं होता, इसलिए नाटक देखकर उन्हें आनंद से बढ़ कर कुतूहल ही होता है। कुतूहल एक हल्का भावमात्र है। नाटक में यदि काव्यकृत अनुबंधता

**काव्यत्व का
समुचित समावेश**

नहीं रहे, तो वह आनंद से बढ़कर उपहास या कुतूहल की वस्तु हो जाय। काव्यत्व की रक्षा के लिए ही नाटक के विभिन्न भेद किए गए हैं। काव्यत्व हीन नाटक भौंड या मसखरे के तमाशे-जैसे श्रेष्ठ समझे जाते हैं। नृत्य-गान का पूर्ण समावेश करके भी काव्यत्वविहीन नाटक लोगों की रुचि और आनंद का यथार्थ पोषण नहीं कर सकता। यही कारण है कि जिसमें केवल यांत्रिक नृत्य होता है, उसको शुद्ध कौतुक कहा जाता और जिसमें काव्यत्व का समुचित समावेश होता है, वही यथार्थ नाटक कहलाने योग्य है।

रंगशाला के अनुकूल नाटक में काव्यत्व का निर्वाह बड़ी योग्यता और बहुज्ञता की अपेक्षा रखता है। प्रत्यक्षाभिनय के द्वारा नाटक जन-रुचि की रक्षा ही नहीं करता, बल्कि उसका मार्जन और संस्कार भी करता है। पात्रों के संलाप और घटनाओं के चित्रण में निर्देशन-नैपुण्य द्वारा दर्शकों के चित्त पर ऐसा प्रभाव डाला जाना चाहिए कि लोक-रुचि

ऊपर रस-निष्पत्ति का जो उल्लेख किया गया है वह अन्य काव्यों जैसा दृश्य काव्य का भी प्रधान उद्देश्य है। रसोत्कर्ष का सहायक होने के कारण ही नाटकों में नृत्य और नृत्तादि का समावेश किया जाता है। श्रव्य काव्य का बिंब-व्यापार सूक्ष्म होने के कारण उसमें उतना स्थायित्व और हृदयग्राहिता नहीं रहती, जितनी दृश्य काव्य के मूर्त अभिनयजन्य बिंब-व्यापार में होती है। श्रव्य-काव्य द्वारा बिंब-विधान में मन की नृत्तियों का जो व्यायाम होता है, दृश्यकाव्य में उसकी आवश्यकता उस मात्रा में नहीं रहती। अभिनय की प्रत्यक्षता से सहज ही बिंब की सृष्टि होती है, इसलिए दृश्य-काव्य अधिक और स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। काव्य के अन्यान्य गुण—रमणीय अर्थ का निर्वाह, भाषा-सौंदर्य की संगति, वस्तु और व्यापार के आदिम रूप की रक्षा, प्रभाव की प्रेषणीयता प्रभृति का युक्तिपूर्ण समावेश नाटक में होना चाहिए। किंतु रंगमंच के प्रतिबंध के कारण काव्यत्व की रक्षा इसमें भिन्न-रूप से ही होती है। श्रव्य-काव्य का आनंद वास्तविक कार्य क्षेत्र में अभिनय द्वारा मूर्तिमान बनावे तो उतना आनंद नहीं हो, इसलिए आनंद में विघ्न करनेवाले अनेक कार्य नाटक में वर्जित हैं। दूर से पुकारना, वध, युद्ध, राज्य तथा देश का विप्लव, विवाह, भोजन, शाप, उत्सर्ग, मृत्यु, रति, दंतच्छेद आदि लाज्जाजनक व्यापार, शयन, चुम्बनादि, नगरों का अवरोध, स्नान और अनुलेपन प्रभृति को प्राचीन आचार्यों ने अभिनय में छोड़ को देने कहा है।

१. श्री कृष्ण लाल—हिन्दी साहित्य का विकास, पृष्ठ २१६-४७

२. दूराहानं वधो युद्धं राज्यदेशादि विप्लवः ।
 विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यु रतंतथा ॥
 दन्तच्छेधं नखच्छेधं मन्यद् ध्रीडाकरं च यत् ।
 शयनाभरणानादि नगरावरोधनम् ॥
 रनानानुलेपेन चैभिर्विजिता नीतिविस्तरः ॥

—साहित्य दर्पणः पृष्ठ परिच्छेद श्लोक १६-१८

पिछले खेले के कलाकारों ने यद्यपि नाटकों में अक्षरशः इसका पालन नहीं किया है, बल्कि प्रसाद जी ने अपने नाटकों में बराबर मृत्यु, वध, आत्म-हत्यादि दिखलाये हैं तथापि इनके विनियोग में संयम और सतर्कता की आवश्यकता रहती ही है।

उपर्युक्त कारणों से नाटक की समग्रता सर्वत्र दो भागों में विभक्त रहती है—एक अभिनयात्मक, दूसरा काव्यात्मक। अभिनयात्मकता के लिए रंगमंच का कौशल अपेक्षित

नाटक के भेद है। जब तक पात्रों के व्यापार का विन्यास रंगमंच के अनुरूप नहीं किया जाता, तब तक काव्यत्व रहते हुए भी नाटक में यथार्थता का निर्वाह नहीं हो सकता। रंगमंच का आकार-प्रकार कैसा हो, पात्रों और समाजियों के स्थान किस प्रकार नियुक्त रहें, नैपथ्य की व्यवस्था कैसी हो, वेष-भूषा की सजावट किस भाँति की जाय, आदि विषयों की जानकारी के बिना रंगमंच का कौशल पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, चित्रपट और प्रतिकृति के निर्माण और उनके उपयोग का भी ज्ञान इसके लिए आवश्यक है।

ऊपर जिन वर्जित व्यापारों का उल्लेख किया गया है अभिनय के समय उनका प्रसंग आने पर सूक्ष्म संकेतों या सूक्ष्म वाणी-विधान द्वारा उन्हें प्रतिपादित कर देना ही अपेक्षित है।

उनके अतिरिक्त भी ऐसे अनेक प्रसंग नाटक में आ सकते हैं जिनका 'सूक्ष्म' का विधान अभिनय नहीं किया जा सकता। छोड़े पर चढ़कर शिकार करनेवाले किसी पाल को रंगमंच पर लाने में यदि सचमुच ही कोई घोड़ा वहाँ उपस्थित कर दिया जाय तो लोगों को कुतूहल ही होगा, आनंद नहीं। ऐसे स्थल में भी सांकेतिक या सूक्ष्म कथावस्तु का रूपचित्रित किया जाता है और अभिनय के समय उसका किसी व्याज से उल्लेख कर दिया जाता है। शकुंतला नाटक में रथ पर बैठे हुए दुष्यंत का मृग के पीछे जाने का दृश्य यथानुरूप दिखलाना असंभव है। अब तो विज्ञान के प्रभाव से ऐसे दृश्यों का अवतरण की संभव हो रहा है; रंगमंच पर साध्य व्यापारों का प्रत्यक्षाभिनय करने के असाध्य व्यापारों को सिनेमा के चित्रपट से पूरा कर दिया जाता है। नाटक दिखलाते समय आजकल ऐसी सूक्ष्मता तथा कौशल से सिनेमा के दृश्य का सन्निवेश कर दिया जाता है कि दर्शकों को पता ही नहीं चलता कि वह छायाचित्र है। इससे रंगमंच की सफलता का निर्वाह तो हो जाता है, किंतु यांत्रिक प्रयोग के कारण नाटकीय कला-कौशल का काम ही संभावित है।

नाटक के तात्त्विक अंग

काव्यत्व और रंगमंच के निरूपण और निर्वाह के लिए नाटकीय तत्त्व के विभिन्न अंग निर्धारित किए गए हैं। कई आचार्यों ने नाटक के केवल तीन तत्त्व—वस्तु, नायक और रस—माने हैं, जिनके आधार पर ही नाटकों के भेदोपभेद स्थिर किए गए हैं, किंतु केवल इन्हीं तीनों से नाटकीय तत्त्वों की समग्रता प्रतिपादित नहीं होती। नाटक का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं है। नाटकीय व्यापार से यदि जीवनोपयोगी कोई प्रभावपूर्ण शिक्षा नहीं मिलती हो तो उसका संपूर्ण प्रयत्न व्यर्थ समझना चाहिए। किसी वास्तविक या काल्पनिक कथानक के

वस्तु, नायक और
रस नाटक के समग्र
अंग नहीं

आधार पर अभिनेता पात्रों के आचरण और वार्त्तालाप द्वारा, निश्चित समय और स्थान के अनुसार, निर्धारित ढंग से जो किसी निर्दिष्ट कार्य की परिणति दिखलाई जाती है, वही नाटक का मुख्य व्यापार है। इसके लिए वस्तु, नायक और रस का संयोग तब तक असंभव है जब तक विषय-प्रतिपादन की निर्धारित प्रणाली न हो, न यह तब भी संभव है जब घटनाओं और कथा-वस्तु के विस्तार में देश काल की अन्विति नहीं रहे। नाटक में कथा-वस्तु का मनमाना विस्तार नहीं हो सकता। तीन-चार घंटे के अभिनयात्मक व्यापार तथा रंगमंच के एक निश्चित स्थान में ही यथार्थ कथा-वस्तु के वर्षों की घटनाओं तथा विभिन्न स्थानों के कार्य-कलाप की समग्रता को उपस्थित करना होता है। इसलिए नाटकीय व्यापार के तत्त्वों में जिन विषयों का समावेश होना चाहिए, वे हैं—वस्तु, पात्र, संभाषण, देश-काल की अन्विति, शैली और उद्देश्य।

जिस कथानक के आधार पर कलात्मक ढंग से घटनाओं की योजना की जाती है, जिनको अभिनेता प्रत्यक्ष दिखलाते हुए किसी विशेष अभिप्राय की ओर निर्देश करते हैं, वही नाटक की 'वस्तु' है। वस्तु का आधार साधारणतः किसी ऐतिहासिक पुरुष का जीवन-वृत्त रहता है। नाटक के विकास-क्रम में वस्तु का रूप भी बदलता गया है। अत्यधिक आधुनिक नाटकों में जीवन की मूल प्रवृत्ति के व्यापार-प्रदर्शन को उपलब्ध करके वस्तु का निरूपण नवीन ढंग से होने लगा है। अनुराग, दया, जमा, क्रोध प्रभृति मानवी-प्रवृत्तियों के व्यापार को दिखलाने के लिए जहाँ वस्तु-विन्यास का संपूर्ण काल्पनिक रूप ही निर्धारित किया जाता है वहाँ ऐतिहासिकता की रक्षा का आग्रह नहीं किया जा सकता, फिर भी नाटकों में ऐतिहासिक पुरुष का जीवन वस्तु-निरूपण में बड़ा सहायक होता है।^१ काल्पनिक या सूक्ष्म भावात्मक पात्रों के व्यापार में वैसी सजीवता और प्रभावोत्पादकता हो नहीं सकती जैसी ऐतिहासिक पुरुषों के जीवन-व्यापार में संभव है। रसोत्पत्ति के लिए घटना का आधार सत्य होना चाहिए। ऐतिहासिक सत्य न हो तो हानि नहीं, किंतु काव्यगत सत्य अनिवार्य है। यदि संपूर्ण कलात्मकता के क्षेत्र में भी दर्शक का ऐसा भाव बना रहा कि घटनाओं का प्रदर्शन काल्पनिक आधार पर होने के कारण उनकी निश्चयात्मकता में संदेह है, तो रसोत्पत्ति में बाधा उपस्थित हो जायगी।^२ पहले किसी राजा या महापुरुष के जीवन को नाटक की 'वस्तु' बनाने के लिए इसलिए चुना जाता था कि उनके सुख-दुःख का जन-साधारण पर विशेष प्रभाव पड़ता था, क्योंकि राजा या महापुरुष लोक-रत्नक हुआ करते थे और उनके जीवन के प्रति लोगों में विशेष संवेदना रहती थी। रस-संभव के लिए ऐसी संवेदना अत्यावश्यक है। काल्पनिक व्यक्तियों के प्रति उस प्रकार की संवेदना नहीं हो सकती, न सामान्य व्यक्ति के प्रति ही वैसी संवेदना संभव है। किसी भिखारी की मृत्यु होने पर लोगों पर साधारणतः इसलिए कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता कि लोकरक्षा और लोक-मंगल से भिखारी के जीवन का कोई संबंध नहीं रहता। मानवता के नाते सामान्य

१. सुधांशु—जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत

२. " " " "

दुःख होना एक भिन्न बात है। अब वैसे राजा नहीं रहे, जो लोक-रक्षा और लोक-मंगल के पथ पर अपने जीवन को आगे बढ़ाते हों, इसलिए साहित्य में उनका स्थान मानवता के विचार से साधारण कोटि के मनुष्यों ने ले लिया। आज वस्तु-निरूपण की कोई निर्दिष्ट दिशा नहीं है। देश की सामाजिक, धार्मिक या राजनीतिक परिस्थिति की अस्थिरता के कारण वस्तु-

**वस्तु-विधान में
सर्वमान्य रूप का
अभाव**

विधान का कोई सर्वमान्य रूप स्थिर नहीं हो सकता। वस्तु-निरूपण में इतना ही ध्यान रखना होगा कि वैसे ही जीवन को चुना जाय जिससे लोक-रक्षा और लोक-मंगल का पथ विस्तृत हुआ हो, फिर वह जीवन राजा का हो अथवा रंक का। प्राचीन लक्षण-ग्रंथों के आधार पर ही यदि आज नाटकों की रचना हो तो वे लोक-रुचि का परिमार्जन करनेवाले नहीं हो सकते। आधुनिक नाटककारों ने प्राचीन परंपरा को तोड़कर वस्तु का ऐसा विधान प्रस्तुत किया है जिसको ऐतिहासिकता से विशेष संबंध नहीं है, किंतु लोक-मंगल की भावना का निर्वाह सम्यक् रूप से नहीं हो सकने के कारण वह वस्तु-विधान सर्वमान्य नहीं हुआ। अतः वस्तु चाहे यथार्थ हो या कल्पित, उसमें लोक-रुचि को परिमार्जित करने की क्षमता होनी चाहिए, और यह तब तक संभव नहीं जब तक वह लोक-रक्षक और मंगल-विधायक रूप में उपस्थित नहीं किया जाता।

प्राचीन आचार्यों ने अपने लक्षण-ग्रंथों में वस्तु-विन्यास का जो रूप स्थिर किया है, उनका यथानुरूप निर्वाह न संभव है, न आवश्यक। यह ठीक है कि कोई भी जीवन ऐसा एकांतिक नहीं हो सकता जिसको केवल अपने कर्तव्य का ही आग्रह रहे और अन्य लोगों से किसी प्रकार का संबंध नहीं हो। निर्वैयक्तिक जीवन की साधना में अन्य लोगों

का सहयोग सर्वदा अपेक्षित रहता आया है। राम के जीवन में सुग्रीव या महावीर का प्रसंग, ईसा के जीवन में सेंट जॉन का प्रसंग, गौतम बुद्ध के जीवन में उनके विश्वासी अनुयायियों का प्रसंग, ऐसे ही व्यापार हैं

जिनको साथ लेकर ही उनके जीवन की समग्रता प्रतिपादित की जा सकती है। यही कारण है कि 'वस्तु' के दो रूप कर दिए गए हैं—आधिकारिक और प्रासंगिक। जो जीवन संपूर्ण नाटक के कथानक का आधार रहता है वह आधिकारिक वस्तु और जो प्रसंगवशात् बीच-बीच में आकार आधिकारिक वस्तु की पूर्णता को संपादित करता है वह प्रासंगिक वस्तु कहलाता है। सब नाटकों में दोनों प्रकार की 'वस्तु' का समावेश होना ही चाहिए, यह अनिवार्य नहीं। यदि केवल आधिकारिक वस्तु के एकांत कर्तृत्व को सकलतापूर्वक प्रदर्शित किया जा सके, तो प्रासंगिक वस्तु की आवश्यकता नहीं। किंतु समाजगत जीवन में ऐसा होना कठिन है, इसलिए प्रासंगिक वस्तु का निर्वाह आवश्यक समझा जाता है। वस्तु-विन्यास में 'अर्थ-प्रकृति', 'अवस्था' और 'संधि' का जो विधान है वह नाटकीय व्यापार को उद्दीप्त करने में

**अर्थ-प्रकृति, अवस्था
और संधि का
विधान** बड़ा सहायक होता है। नाटकों में इनकी योजना मान्य होनी चाहिए, किंतु समय की गति अब इतनी तेज हो गई है कि प्राचीन नियमों का यथातथ्य पालन आज की स्थिति में संभव नहीं। वस्तु-विन्यास में इतना ही होना चाहिए कि कथानक के नाटकीय रूप को प्राप्त होने में उसके तीन भाग किए जायें—आरंभ, मध्य और अंत। 'आरंभ' में वस्तु को साधारण रूप से उपस्थित कर

घटनाओं का इस भाँति समावेश किया जाय कि उसके आगे को बातों को जानने के लिए लोगों में उत्सुकता (उत्कंठा) बढ़ती रहे । दर्शकों में यह औत्सुक्य-विवर्द्धन नाटकीय कौशल का प्रधान कार्य है । यदि किसी दृश्य को देखकर लोग इस भाँति तुष्ट हो जायँ कि आगे देखने की उनकी व्यग्रता ही न रहे, तो नाटककार की सफलता में श्रुति माननी चाहिए । वस्तु के 'मध्य' में उस उत्सुकता का अतिरेक हो जाना चाहिए अर्थात् दर्शकों की हृदय-वृत्ति घटना के संवर्द्धन की ओर नहीं जाकर उसके अंत या परिणाम की ओर मुड़ जाय । ऐसा परिणाम उपस्थित करने में बड़ी सतर्कता की आवश्यकता है । दर्शकों की उत्कंठा जिस परिणाम की प्रतीक्षा करती हो उसके संपूर्ण प्रतिकूल घटना उपस्थित होने से रस-संस्खव में व्याघात उत्पन्न हो जाता है । यह नाटक के उद्देश्य पर निर्भर करता है कि उसका अंत किस भाँति किया जाय । इस संबंध में दो भिन्न विचार हैं । एक के अनुसार नाटक का 'अंत' वहीं कर देना चाहिए जहाँ किसी दृश्य या घटना के कारण दर्शकों की संवेदना पराकाष्ठा को पहुँची हुई रहे । दूसरे के अनुसार वैसी स्थिति में नाटक का अंत करने से दर्शकों के चित्त पर घटनाओं के परिणाम का एक भार-सा बना रहता है, इसलिए उसको कुछ हलका करने के लिए घटना-क्रम को कुछ आगे बढ़ाना चाहिए और जहाँ संवेदना की श्रॉच अत्यंत तीव्र होने के बाद हृदय साम्यावस्था में पहुँच जाय, वहीं उसका अंत करना चाहिए । चाहे जिस भाँति नाटक का अंत किया जाय, किंतु इतना अवश्य होना चाहिए कि आरंभ, मध्य और अंत का पूर्वापर संबंध अविच्छिन्न हो और दर्शकों के चित्त पर स्थायी भाव के प्रभाव में कोई बाधा न उपस्थित हो ।

वस्तु-विन्यास में नाटककार को इतनी स्वतंत्रता रहती है कि अभिनेय पात्रों के यथार्थ जीवन में यदि ऐसी घटना हुई हो जिसका अभिनय करने से रससंस्खव में बाधा उपस्थित हो, तो उसको वह छोड़ दे या उसका रूप बदल दे । किंतु ऐसी घटना किसी के जीवन के मेरुदंड को ही मोड़कर एक निश्चित परिणाम की ओर ले जानेवाली हो तो उसे छोड़ देना अच्छा नहीं माना जा सकता । तात्पर्य यह कि वस्तु का विन्यास अभीष्ट उद्देश्य के अनुकूल ही होना चाहिए ।

वस्तु-विधान में पात्रों का समुचित विनियोग करने के बाद ही घटनाओं की संपन्नता प्रत्यक्ष की जा सकती है । दृश्य-काव्य में पात्रों की योजना को तीन स्वतंत्र व्यक्तियों से संबंध रहता है । यथार्थ व्यक्ति से नाटक के पात्र केवल नाम में ही समान हो सकते हैं । उन्हीं नामों से अभिनेता रंगमंच पर उनके कर्तृत्व को प्रदर्शित करते हैं । इस भाँति यथार्थ पात्र, नाटकीय पात्र और अभिनेता, तीनों का स्वतंत्र अस्तित्व रहते हुए भी पूर्वापर संबंध से एक ही रूप में व्यापार की समग्रता को प्रत्यक्ष किया जाता है । यथार्थ पात्र के जीवन-व्यापार अविकल रूप से नाटक के पात्रों में आरोपित नहीं किए जा सकते । जिस नाटक में ऐतिहासिक व्यक्तियों का जीवन न लेकर केवल काल्पनिक व्यक्तियों या भावनाओं का रूपात्मक वृत्त अवतरित किया जाता है उसमें भी वैसे व्यक्तियों या भावनाओं का एक यथार्थ चित्र मन में रहता ही है । यथार्थ जीवन-व्यापार कला का कार्य नहीं हो सकता । नाटक में अवतरित करने के लिए यथार्थ जीवन को बहुत-कुछ परिवर्तित करना पड़ता है । राम या युधिष्ठिर, ईसा या बुद्ध, चंद्रगुप्त या सिकंदर, किसी को दृश्य काव्य का पात्र बनाकर उनके यथार्थ जीवन के व्यापारों की रक्षा

अविकल रूप से नहीं की जा सकती । नाटकीय पात्र के रूप में लोग जहाँ जो व्यापार जिस रूप में करते हैं, अपने वास्तविक जीवन में उन व्यापारों को उसी रूप में उन्होंने शायद ही किया । इसलिए नाटकीय पात्र के रूप में नियोजित करने के समय यथार्थ पात्र के व्यापार की समग्रता को केवल उपलब्ध-रूप में रखा जाता है । राम लोक-रत्नक थे, युधिष्ठिर सत्यवादी, ईसा त्यागी थे, चंद्रगुप्त विजयी, बस यही समग्र रूप में नाटककार के समुख रहता है जिसको दृश्य-काव्य में राम, युधिष्ठिर, ईसा और चंद्रगुप्त के जीवन-व्यापार में कलात्मक रूप से प्रदर्शित किया जाता है । कलात्मकता की यही कसौटी है कि अधिक-से-अधिक स्वाभाविक रूप से यथार्थ पात्र के जीवन-व्यापार की समग्रता को नाटकीय पात्रों में सुनिहित किया जाय । नाटकीय पात्र के व्यापार में यथार्थ पात्र के जीवन का आदर्श थोड़ा भी इधर-उधर होने से दृश्य काव्य की मर्यादा नष्ट हो जा सकती है । आधुनिक युग के पारसी थियेटरों और छाया-नाटकों (Cinema) में यथार्थ पात्रों को जिन विकृत रूपों से नाटकीय पात्रों के रूप में उपस्थित किया जाता है, उन्हें देखकर परिताप होने लगता है ।

अभिनय के समय नाटकीय पात्र का रूप धारण कर अभिनेता पात्र यथार्थ पात्र के जीवन व्यापार को प्रदर्शित करता है । अभिनेता पात्र को रंगमंच भर ही वैसे जीवन से संबंध रहता है । अपने व्यक्तिगत जीवन में दुराचारी और असत्यवादी रहकर भी अभिनेता पात्र राम और युधिष्ठिर का अभिनय करता है, इसलिए नाटकीय पात्रों के व्यापार में ऐसा उद्बेग और तीव्रता होनी चाहिए जिससे अभिनेता पात्रों का स्वतंत्र व्यक्तित्व वहाँ परिलक्षित नहीं हो और दर्शक उन्हें प्रकृत नाटकीय पात्र समझते रहें । ऐसा नहीं होने से रस-संस्व में बाधा उपस्थित हो जायगी । नाटक देखते समय अभिनेता पात्र को यदि दर्शक उसकी व्यक्तिगत सत्ता से भिन्न नाटकीय पात्र नहीं समझें, तो नाटक की सफलता नहीं मानी जा सकती ।

आदर्श के अनुकूल जीवन के शील और चरित्र का विकास पात्रों की योजना द्वारा ही प्रत्यक्ष किया जाता है । जो लोग नाटक को केवल मनोरंजन या कौतुक का साधन समझकर पात्रों के चरित्र-विकास पर ध्यान नहीं देते, उनके लिए बाजीगर का खेल और भाँड़ का नाच भी नाटक ही है, किंतु जैसा पहले लिखा जा चुका है, शील और चरित्र नाटक केवल कौतुक या तमाशा नहीं है, बल्कि उसका एक विशेष उद्देश्य का विकास रहता है । इसलिए उद्देश्य की पूर्णता के लिए वस्तु के आधार पर घटनाओं की संवृत्ति में पात्रों की अवतारणा की जाती है । जिस निर्दिष्ट भाव या विचार का परिणाम नाटक में दिखलाया जाता है उसके साथ पात्रों के चरित्र का पूर्ण सामंजस्य होना चाहिए । अभिनय काल में नाटकीय पात्रों के व्यापार को अभिनेता पात्र तदनुकूल आचरण द्वारा प्रदर्शित करते हैं, इसलिए नाटकीय पात्रों में वैसी ही कृत्तियों का समावेश होना चाहिए जिनसे उनके चारित्रिक विकास का क्रम परिलक्षित होता हो और जिनका अभिनय सरलता से रंगमंच पर किया जा सके ।

पात्रों के चरित्रगत जीवन-विकास पर ही 'वस्तु' की सुंदरता सजाई जा सकती है। चरित्र-चित्रण में एक ओर यथार्थ पात्र के संपूर्ण जीवन-व्यापार का समाहार करके उसे कलात्मक ढंग से नाटकीय पात्रों में प्रदर्शित किया जाता है, दूसरी ओर उसे किसी आदर्श की प्रतिष्ठा में सहायक बनाया जाता है। किसी व्यक्ति के संपूर्ण या आंशिक जीवन-व्यापार को संकुचित परिधि के भीतर सजाकर उसे इस भौति क्रमबद्ध कर दिया जाता है कि दो-चार घंटे के व्यापार में ही उसकी समग्रता का आभास मिल जाय। दृश्य-काव्य में पात्रों के चरित्र का कोई वर्णात्मक विधान नहीं रहता। कहानी या उपन्यास में जिस प्रकार किसी पात्र के चरित्र को अंकित करने में लेखक अपनी ओर से टीका-टिप्पणी कर उसे एक निर्दिष्ट दिशा में ले जाने की सुविधा रखता है, वैसा नाटक में संभव नहीं। नाटक में पात्रों के संभाषण या आचरण से दर्शकों को स्वयं उनके चरित्र की दिशा निर्दिष्ट करनी पड़ती है। उपन्यास या कहानी में पात्रों के परिचय के लिए लेखक निबंध लिख दे सकता है कि वह सीधे-सादे स्वाभाव का व्यक्ति था अथवा उसका आचरण अच्छा नहीं था; किंतु नाटक में इस प्रकार विचार प्रकट करने की सुविधा नाट्यकार को नहीं है। इसलिए नाटक के पात्रों के चरित्र-चित्रण को विश्लेषणात्मक कहा जाता है। इसमें पात्रों के बाह्य या आंतरिक आचरणों के आधार पर चरित्र स्वयं स्पष्ट होता जाता है। दर्शकों या पाठकों को पात्रों के चरित्र के संबंध में अपनी सम्मति स्थिर करने के लिए लेखक के विचार की कोई आवश्यकता नहीं रहती। नाटक-निर्माण में लेखक इस भौति गहरे पैठा रहता है कि उसका दर्शन आसानी से नहीं हो सकता। वस्तु-विधान में अपने व्यक्तित्व को विनिमज्जित कर पात्रों के आचरण से उनकी जीवन-दिशा को निरूपित करने में वह दर्शकों या पाठकों को संपूर्ण रूप से स्वतंत्र छोड़ देता है। पात्रों के आचरण और संभाषण का रूप स्थिर करने में नाटक-कार को ध्यान रखना पड़ता है जिससे अभिनय में थोड़ी भी विघ्नपता न आने पावे अन्यथा दर्शकों को पात्रों का चरित्र जानने में बाधा पड़ेगी।

वस्तु-विधान और पात्रों की योजना यथार्थ में परस्पर ऐसे संबद्ध हैं कि एक के बिना दूसरे का विन्यास संभव नहीं। वस्तु में पात्रों का चरित्र युक्ति रहता है और चरित्रों के गुणन से वस्तु निर्मित है। इसलिए कथावस्तु का जैसा विकास अभिप्रेत हो उसी के अनुसार पात्रों की योजना करनी चाहिए।

नाटक की सारी सुंदरता उसके पात्रगत शील और चरित्र पर ही निर्भर है। पात्रों के हृदय की वृत्ति को शील और उनके बाह्यचरण को चरित्र कहते हैं। यद्यपि नाटकों के शील और चरित्र उद्देश्य विभिन्न होने के कारण उनके पात्रगत शील और चरित्र में कोई एकपता नहीं हो सकती तथापि कलात्मकता की रक्षा के लिए सबका एक समान आधार है। उसका अतिरिक्त कर कोई पात्र अभिनय में सकलता नहीं प्राप्त कर सकता। किसी शांत-प्रकृति-पात्र के सौजन्य-प्रदर्शन में जितना सौंदर्य है, उतना ही सौंदर्य क्रोधी-प्रकृति-पात्र के क्रोध-प्रदर्शन में। नाटक में पात्रों के भिन्न व्यापार का एक ही धर्म है—स्वल्प का प्रकाशन। सदाचारी या दुराचारी पात्रों का आचरण अपनी दिशा में जितना ही तीव्र होगा, नाटक में उतनी ही शक्ति आयेंगी। (अभिनय में)

कभी-कभी एक ही व्यक्ति को एक जण दुराचारी का चरित्र प्रदर्शित करना होता है और दूसरे ही जण सदाचारी का । इसलिए जब बाह्य रूप से कोई अपने विपत्ती के प्रत्यक्ष कष्ट पर प्रसन्न होता है, तब मित्र होने के नाते उस कष्ट को उसका हृदय स्वयं अनुभव करता है, अन्यथा वह उसका आनंद ले ही नहीं सकता । ' बाह्य रूप से अभिनेता को अपना आचरण संपूर्णतः नाटक के पात्रों के अनुरूप बनाना पड़ता है । इसके बिना नाटक में प्रभावोत्पादकता आ नहीं सकती । यदि किसी दुराचारी नाटकीय पात्र के अभिनय से दर्शकों में उद्वेग नहीं हुआ और रंगमंच पर ही भला-बुरा कहने के लिए लोग उत्प्रेरित नहीं हुए, तो अभिनय-प्रदर्शन में त्रुटि समझनी चाहिए । सब सुंदर-असुंदर, प्रिय-अप्रिय वस्तुओं में एक सत्य निहित है और वह है उनकी निजस्वता । कला उसी सत्य को प्रकाशित करती है । ऐसा करते हुए प्रत्येक पात्र के लिए शील और चरित्र की एक मर्यादा निर्धारित है । उसका निर्वाह सब पात्रों के लिए आवश्यक है ।

शील और चरित्र की मर्यादा

शील से अभिप्राय साधारणतः हृदय की उस स्थिति से है, जो सदाचार को उत्प्रेरित करती है, किंतु दृश्य काव्य में यह शील केवल सदाचार के नियत अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं होता । सदाचार का वाच्यार्थ वह सत् या सुंदर आचरण है जो प्रीतिकर और मंगल विधायक हो । नाटक में शीलजन्य सदाचार को यदि केवल ऐसे ही व्यापार से संबन्ध रहे, तो उसका क्षेत्र अत्यंत संकुचित हो जायगा । वहाँ शील के निर्वाह का अर्थ है नाटकीय पात्र में यथार्थ पात्र के अनुकूल प्रकृति और आचार का निरूपण, तथा रंगमंच पर उसका अविकल अभिनय । नाटक में न्यायी का न्याय प्रदर्शित किया जाता है तो दुराचारी का अन्याय भी । राम के जीवन की सफलता के लिए रावण के जीवन की अवतारणा आवश्यक है । नाटकीय शील के क्षेत्र में राम की नम्रता, सहिष्णुता, उदारता तथा धीरता का प्रदर्शन जिस कौशल की अपेक्षा रखता है, रावण की अहंता, उद्वेगता, संकीर्णता और अस्थिरता का प्रदर्शन भी उसी की अपेक्षा रखता है । इसलिए नाटक में शील के आरोप और उसके प्रदर्शन की सफलता तभी माननी चाहिए जब यथार्थ पात्र के अनुकूल आचरण करने में नाटकीय पात्रों में स्वाभाविक प्रेरणा का विनियोग हुआ हो, जिससे अभिनेता तदनुरूप प्रदर्शन रंगमंच पर कर सकें । अभिनय के समय सामान्य शील के उल्लंघन के भय से यदि कोई पात्र अहंकार का प्रदर्शन करते हुए संकोच या नम्रता दिखलाने लगे तो वह शील का रत्न न होकर उसकी संपूर्ण मर्यादा को नष्ट करनेवाला सिद्ध होगा ।

1. The stronger the character of the heroes of vice and the heroes of virtue, the more powerful the drama ; and the same actor has to play the parts now of a rogue, and now of saint. While with his outer mind, so to say, the friend is gloating over the agonies of the victims, with his inner mind he is trying to feel and realise those agonies in himself ; for how else could he understand and enjoy them.

नाटक में पात्रों के शील का पता उनके आचरण और संभाषण से लगता है। दृश्य काव्य का अतर्दशन पात्रों के संभाषण में ही मिलता है। यह नाटक का प्रधान तत्त्व है। कथावस्तु की व्याख्या संपूर्ण रूप से संभाषण के आधार पर ही की जाती है। पात्रों के चरित्र की पहचान के लिए उनके संभाषणों से बढ़कर अन्य सुलभ साधन नहीं। साधारण

संभाषण का उचित विनियोग जीवन-व्यापार में हम जिस तरह किसी की बातचीत से उसके आंतरिक जीवन का पता लगा सकते हैं उसी प्रकार नाटक में भी पात्रों के

वातालीप से उनके जीवन-क्रम का पता लग सकता है। देखा जाय तो नाटक में एक प्रकार से संभाषण ही संपूर्ण रूप से व्याप्त रहता है। कथानक का विकास और पात्रों के चरित्र का निदर्शन संभाषण द्वारा ही होता है, इसलिए नाटक के उद्देश्य और वृत्ति के अनुकूल उनमें भाव और भाषा की संगति होनी चाहिए। क्रोध के प्रसंग में मधुर भाषण वैसा ही अनुचित है जैसा प्रेम के प्रसंग में क्लिष्ट और उद्‌ड कथन। नाटक में शब्दों के अर्थ से बढ़कर उनकी ध्वनि से चरित्र और वातावरण की सृष्टि होती है, इसलिए संभाषण में शील की मर्यादा का निर्वाह आवश्यक है। शील-मर्यादा की रक्षा भाषा के रूप पर बहुत-कुछ निर्भर करती है और भाषा के रूप की सजावट में 'गुण' की अनुरूपता का निर्वाह आवश्यक है। संभाषण के सौंदर्य की रक्षा में स्वराघात और अवधारण अर्थात् शब्दों के विशिष्ट उच्चारण का ज्ञान अत्यंत अपेक्षित है। इसके बिना संभाषण में सरसता और प्रभावोत्पादकता नहीं आ सकती।

दृश्य काव्य में संभाषण के तीन रूप स्थिर किए गए हैं। प्राचीन आचार्यों ने इनके नाम—सर्वश्रव्य, नियत-श्रव्य और अश्रव्य—रखे हैं। जो संभाषण सबको सुनाने के उद्देश्य से किया जाय वह सर्वश्रव्य है। नाटक में अधिकांश सर्वश्रव्य संभाषण ही होता है। कहीं-कहीं ऐसा प्रसंग आता है जहाँ कुछ ही लोगों—अधिक-से-अधिक रंगमंच पर बैठे पात्रों—को सुनाने

संभाषण के तीन रूप और प्रभावोत्पादक बनाने की कला के अभिप्राय से कुछ कहा जाता है। इसको नियत-श्रव्य कहते हैं। कुछ ऐसा भी कथन होता है जिसको नाटक के पात्र आप-ही-आप, चितनशील वृत्ति में, बिना किसी को सुनाने के अभिप्राय से, कहा करते हैं। यह अश्रव्य

भाषण कहलाता है। एक और भी कथन है जिसको आकाशभाषित कहा जाता है। इसमें पात्र बोलते समय बीच-बीच में आकाश की ओर देखता है और ऐसा नाट्य करता है जिससे विदित होता है कि आकाश से कोई व्यक्ति कुछ कह रहा है और उसके उत्तर में नाटक का पात्र अपना संभाषण उपस्थित कर रहा है। चाहे जिस प्रकार का संभाषण हो, उसमें स्वाभाविकता होनी ही चाहिए। अर्थात् संभाषण में धारावाहिकता हो, नहीं तो रसानुभूति में रुकावट आ जायगी। स्वाभाविकता और सर्वहृदयग्राह्यता लाने के लिए संभाषण की भाषा में मर्म-व्यंजना और थोड़ा अनूठापन होना चाहिए। चित्रमयी और लच्छेदार भाषा के प्रयोग से संभाषण में दुर्बलता आ जाती है, साथ ही यंत्र या मूर्ति-जैसा बोलने से उसमें प्रभावोत्पादकता नहीं आ सकती। इसलिए संभाषण में हाव-भाव का प्रदर्शन और इंगितों का प्रयोग आवश्यक है। तात्पर्य यह कि नाटकीय पात्रों के संभाषण सरल, व्यंगपूर्ण और लोच-युक्त होना चाहिए, जिससे कि सर्व-साधारण उसे समझकर आनंद प्राप्त कर सकें। प्राचीन नाटकों में पात्रों और विशेषकर नायकादि के बंधे हुए ढाँचे थे। संभाषणों को उनके ही अनुरूप होना

पड़ता था । अब नाटकों में शील-वैचित्र्य का प्रदर्शन ही प्रधान हो गया है, इसलिए वस्तु विधान और चरित्र विधान को संभाषण के ही आधार पर खड़ा होना होता है । यही कारण है कि संभाषण के रूप, उसकी शैली तथा उसकी व्यंजना के लिए भाषा की विविधता और संगीत तथा छंदात्मक प्रणाली का उपयोग करना पड़ता है ।

दृश्य काव्य में देश-काल का संकलन लेकर लोगों के विचार में बड़ा ही परिवर्तन हुआ है । प्राचीन यूनानी और रोमन नाटकों (Classic dramas) का ऐसा नियम था कि नाटक के कार्यों से स्थान और समय का पूरा सामंजस्य होना चाहिए अर्थात् किसी एक स्थान और एक समय का ही कृत्य एक बार अभिनीत होना चाहिए । इसके अनुसार जितने समय का कार्य होता था उसका अभिनय उतने ही समय में लोग किया करते थे । यही कारण था कि यूनानी लोग पहले-पहल दिन-दिन, रात-रात नाटक खेलते थे । यह कार्य यथार्थता और कला दोनों, की दृष्टि से असंगत और अव्यावहारिक था । किसी स्थान पर जितने समय में जो कार्य, जिस रूप से हुआ हो, उसका अभिनय उतने समय में उसी रूप से करना असंभव है । मानव-प्रकृति में इतनी विचित्रता है कि उसका अविकल अनुकरण किया ही नहीं जा सकता । एक ही समय में मनुष्य इतनी भिन्न दिशाओं में सोचते-विचारते या कार्य करते हैं कि उनके अनुरूप नाटक में अभिनयात्मक प्रत्यक्षीकरण दुर्साध्य है । अनेक ऐसे साधारण और प्राकृत शारीरिक व्यापार हैं जिनका अभिनय करने से लोगों को अरुचि होने लगती है और वे थक-से जाते हैं । यदि कोई व्यक्ति चार घंटे लगातार सोया हो, तो उतने समय तक नाटकीय पात्र के सो जाने पर दर्शक बेचारे क्या बैठे-बैठे मन्त्रियों मारा करेंगे ? यही कारण है कि कार्यों के साथ देश और काल की यथानुरूप एकता नाटक में दिखलाई नहीं जा सकती । ऐसा होने से नाटक की रोचकता और सुंदरता नष्ट हो जाती है ।

यूरोप में शेक्सपियर ने रोमांचकारी पुनरुत्थान (Romantic revival) करके उपर्युक्त परंपरा पर प्रभावशाली आघात किया । उन्होंने अपने नाटकों में देश-काल की एकता का संपूर्ण रूप ही बदल दिया । भारतीय नाट्य-परंपरा में यह बात पहले से ही थी । शेक्सपियर ने उसी के अनुसार बीस-बीस, तीस-तीस वर्षों के कार्यों को तीन-चार घंटों में अभिनीत होने-वाले नाटकों में अवतीर्ण किया । अपने नाटकीय कौशल से नाटकों में उन्होंने ऐसी रोचकता और छिप्रता भर दी कि तीन-चार घंटों के अभिनय में दर्शकों को ऐसा नहीं मालूम होता था कि वे किसी एक ही समय या स्थान की घटनाएँ देख रहे हैं, बल्कि उन्हें नाटकीय पात्रों के आचरण द्वारा यथार्थ देश-काल और पात्र का संपूर्ण बोध होने लगता था । इस पुनरुत्थान काल में देश-काल की अन्विति का अर्थ ही बदल गया । नाटक के दृश्यों को सजाने और घटनाओं का पूर्वापर-क्रम स्थिर करने में जीवन का वैसा ही भाग लेकर उसे प्रत्यक्ष किया जाता था जिससे दर्शकों को उसकी संपूर्णता में व्यवधान प्रतीत न हो । किसी के जन्म या बाल्यकाल का दृश्य दिखलाकर यदि दूसरे ही दृश्य में उसकी वृद्धावस्था का रूप उपस्थित कर दिया जाय तो दर्शकों को रस नहीं मिलकर उसमें आश्चर्य ही प्राप्त होगा । अतएव, देश-काल के संबंध की रक्षा के लिए जीवन-व्यापार में घटनाओं का पूर्वापर रूप इस भाँति स्थिर किया जाता है जिससे बीच की साधारण बातों पर लोगों का ध्यान ही नहीं जाय, और साथ ही कथानक की संपूर्णता

देश-काल की अन्विति तथा पूर्वापर संबंध की रक्षा

नष्ट न हो। इसके लिए स्मरण रखना चाहिए कि जीवन की विशेष महत्त्वपूर्ण तथा मार्मिक घटनाएँ छूटने न पावें, अन्यथा घटनाओं के पूर्वापर-संबंध की रक्षा नहीं हो सकेगी। देश-काल की अन्विति का अभिप्राय है कि नाटकों में जो दृश्य दिखलाए जा रहे हैं, उनमें यथार्थ पात्रों के जीवन-व्यापार का सामंजस्य, स्थान और समय के विचार से, अघटनीय-सा नहीं प्रतीत होता हो अर्थात् जिस समय और जिस स्थान की घटनाओं के दृश्य दिखलाए जाते हैं, वे प्राकृत-जीवन के अनुकूल और सुसंगत हों। राम के राज्याभिषेक की तैयारी के समय अयोध्या का दृश्य दिखलाकर यदि दूसरे ही दृश्य में लंका-दहन का दृश्य उपस्थित कर दिया जाय, तो देश-काल की अन्विति का निर्वाह नहीं सम्भवा जायगा। उसके लिए तो बीच में पंचवटी, किष्किंधा आदि स्थानों का दृश्य दिखलाकर उतने समय के व्यापार का उल्लेख आवश्यक है। भारतीय नाटकों में इसकी रक्षा प्राचीन काल से ही होती आई है। शकुंतला नाटक के पहले अंक में राजा दुष्यंत का शकुंतला के साथ मिलन, तीसरे अंक में पहले उनका प्रेम-संबंध और बाद में दोनों का विच्छेद, इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते सातवें अंक में दुष्यंत अपने कुमार सर्वदमन को सिंह के बच्चे के साथ खेलता हुआ पाता है। इसमें शकुंतला के गंधर्व-विवाह से लेकर कुमार सर्वदमन के सिंह के साथ खेलने योग्य वयस प्राप्त करने तक की घटनाओं में कम-से-कम दस वर्ष का ही समय मान लिया जाय और उन सब स्थानों—कण्व ऋषि का आश्रम, राजा दुष्यंत की नगरी, हेमकूट पर्वत पर कश्यप ऋषि का आश्रम प्रभृति—की भिन्नता का ध्यान रखा जाय तब भी चार-पाँच घंटे के अभिनय योग्य दृश्यों में उनका ऐसा क्रम-संगत समाहार कर दिया गया है कि उतने दिनों और विभिन्न स्थानों के व्यापार की स्वाभाविक अखंडता में कोई असंगति नहीं उत्पन्न होती है। तीन-चार घंटे के अभिनय में विभिन्न स्थानों में घटित वर्षों की घटनाओं को इस कलात्मक रूप से प्रत्यक्ष करना कि दर्शकों को मालूम होता रहे कि हम उतने ही दिनों की घटना को प्रत्यक्ष देख रहे हैं, देश-काल की अन्विति कहलाता है। इसलिए कई अंकों में प्रमुख घटनाओं को दिखाकर यवनिका गिरा दी जाती है जिससे काल के अध्यवसान के साथ-साथ तत्कालीन घटनाओं का भी संक्षिप्त बोध हो जाता है।

काव्य का ही एक रूप होने के कारण नाटक की शैली और उद्देश्य प्रायः वे ही रहते हैं, जो साधारण काव्य के हैं। काव्य के विवेचन में लिखा गया है कि शैली लेखक की आत्मसत्ता-बोधक लेखन-प्रणाली है। लेखक का यथार्थ परिचय वर्णनीय विषय के भाव या उद्देश्य में नहीं, बल्कि उसके वर्णन के ढंग में मिलता है। कला का कर्तृत्व वस्तु की संपन्नता में नहीं, बल्कि संपन्नता के विधान में रहता है। काव्य के प्रत्येक वाक्य और शब्द में कलाकार प्रच्छन्न रूप से विद्यमान रहता है। अन्य काव्यों में यह विद्यमानता स्पष्ट रहती है। उनमें कलाकार अपने विचारों को स्थान-स्थान पर व्यक्त कर पात्रों और घटनाओं के संबंध में पाठकों को अपने साथ लेते जाने का प्रयत्न करता है। लेखक के निर्णय या विचार से पाठक प्रभावित हो जाते हैं और अधिकांश में अपने को उन्हीं विचारों का समर्थक बना लेते हैं। ऐसे काव्यों में पात्रों को गढ़ते, मढ़ते, सुधारते और बिगाड़ते हुए कलाकार आगे बढ़ता है। उसका अस्तित्व उसमें स्पष्ट परिलक्षित होता है; प्रत्येक पात्र के चरित्र-निर्माण या घटना-सृष्टि में कलाकार की हृदय-वृत्ति प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है; किंतु नाटक में कलाकार के लिए ऐसी सुविधा सर्वदा नहीं रहती। दृश्य काव्य में पात्र घटनाओं के सामंजस्य से अपने

चरित्र का निर्माण स्वयं करते जाते हैं। कलाकार को प्रत्यक्ष रूप से कहने-सुनने का कोई अवसर नहीं मिलता। शैली के भीतर दृश्य काव्य में कलाकार अपने पात्र, संभाषण और आचरण को ऐसा सजीव बना देता है कि वे यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम होने लगते हैं। उनके संभाषण में स्पष्टता और सुबोधता तथा आचरण में स्वाभाविकता और निष्कपटता दिखलाई पड़ती है। शैली के दो रूप हैं। एक के द्वारा पाठक की प्रज्ञात्मक शक्ति जाग्रत होती है, दूसरे के द्वारा रागात्मक शक्ति। प्रज्ञात्मक शक्ति को जाग्रत करने के लिए अभिव्यक्ति में स्पष्टता और प्रसाद-गुण चाहिए, रागात्मक शक्ति के लिए सरसता और माधुर्य गुण। शैली की विशेषताएँ इतने ही से समाप्त नहीं होतीं। पद-लालित्य किसी भी शैली का आवश्यक गुण है। उसके लिए अभिव्यक्ति में माधुर्य गुण और कलात्मकता का आरोप चाहिए। चाहे जिस रूप में हो, शैली के द्वारा ही कलाकार प्रतिपाद्य वस्तु को सबके समुख उपस्थित करने में समर्थ होता है।

नाटकीय वस्तु के प्रतिपादन में कलाकार या तो पात्रों के संभाषण द्वारा अपने विचार को प्रकट करता है अथवा उनकी केवल भाव-भंगियों या इंगितों द्वारा। इन्हीं दोनों के नाम क्रमशः भाव-प्रधान और कर्म-प्रधान शैलियाँ हैं। पहली में पात्र सब कुछ बोल कर ही अभिव्यक्त करते हैं; दूसरे में केवल इशारे या हाव-भाव के प्रदर्शन से। दृश्य-काव्य के लिए कौन शैली अच्छी है, यह एक विवादात्मक प्रश्न है। नाटकों में दोनों प्रकार की शैलियों के प्रयोग होते हैं। व्यावहारिक जीवन में हमलोग अपने विचारों को प्रगट करते समय केवल वाणी का ही नहीं, बल्कि इंगितों और भाव-भंगियों का भी सहारा लेते हैं। दृश्य काव्य के जीवन का मापदंड यद्यपि यथार्थ जीवन के मापदंड से भिन्न है; फिर भी यथार्थता का संपूर्ण परिहार कर कला की सृष्टि हो नहीं सकती। इसलिए नाटकों में भाव-प्रधान और कर्म-प्रधान, दोनों शैलियों का समन्वय होने से ही प्रभावोत्पादकता आ सकती है। भावप्रधान शैली से प्रज्ञात्मक शक्ति और कर्मप्रधान शैली से रागात्मक शक्ति की वृद्धि होती है। संभाषण के साथ-साथ हँसने-रोने या गाने का व्यापार जहाँ होते रहता है, वहाँ जीवन की अनुरूपता के कारण उसमें विशेष आकर्षण और शक्ति आ जाती है। शुष्क संभाषण सुनते-सुनते लोगों का जी ऊब जाता है, इसलिए उसमें आकर्षण लाने के लिए अनुभाव-मूलक कृतियों का समावेश होता है।

यथार्थ में शैली जीवन के प्रति कलाकार की भावना का स्पष्टीकरण है। यदि कलाकार जीवन के आशावादी रूप का प्रशंसक होगा तो वह अपने भावों के संलाप और आचरण में मधुरता, प्रकाश और प्रसन्नता का आरोप करेगा और यदि निराशावादी हुआ तो उसके पात्रों में सर्वत्र उदासीनता, अंधकार और विषाद परिलक्षित होंगे।

नाटक के उद्देश्य से अभिप्राय उसके परिणाम-संकेत से है। 'कला कला के लिए' सिद्धांत को माननेवाले भले ही नाटक को भी कला का एक व्यापार समझकर उसका उद्देश्य अभिनय-प्रदर्शन में ही सम्मिलित कर दें; किंतु नाटक इसलिए तो किया नहीं

जाता कि उसके पात्र यों ही हँस-रोएँ, बोलें या अन्य व्यापार करें। वैसा होता तो रंगमंच और दर्शक-स्थान की आवश्यकता न थी। नाटक का आरंभ ही दूसरों के उद्देश्य का सम्मुख किसी वस्तु या व्यापार के प्रभावकारी अनुकरण से है। महाराणा प्रताप या वीर शिवाजी के वीरता-सूचक कार्यों का अभिनय इसलिए तो किया ही नहीं जाता कि उनके पात्र आप ही उससे आनंद उठावें, बल्कि अन्य लोगों के सम्मुख उनकी कृतियों को उपस्थित करके स्वैतर व्यक्तियों के हृदय में तज्जन्य प्रभाव की प्रतिष्ठा करना नाटक का उद्देश्य रहता है। प्रत्येक नाटक का उद्देश्य किसी आदर्श की प्रतिष्ठा करना है। उस आदर्श की प्रतिष्ठा में नाटकीय पात्रों को निर्धारित कलात्मक व्यापार करने पड़ते हैं। नाटक में कला का काम आदर्श को स्थिर करना नहीं, बल्कि उसको व्यक्त करना है।

जब तक जीवन के प्रकृत रूप से लोगों को विशेष संबंध नहीं था और कलाकार केवल आदर्श की प्रतिष्ठा में ही लगे रहते थे तब तक नाटक का उद्देश्य लोक-जीवन के उपयोगी पक्ष के अनुकूल नहीं था। शृंगार या हास्य का प्रदर्शन, शुद्ध कौतुक, समाज-संस्कार तथा देश-प्रेम प्रभृति नाटक के ऐसे उद्देश्य रहते थे जिनसे जीवन का यथार्थ पक्ष विशेष प्रभावित नहीं होता था। कला की प्रगति के साथ लोगों का विचार बदलने लगा और जब कला को जीवन से संपूर्ण पृथक् नहीं रखकर उसकी ही एक अभिव्यक्ति समझा जाने लगा तब कला-कृतियों की उद्देश्य-स्थिरता में परिवर्तन हो गया। अब नाटकों में मानव-प्रवृत्ति केवल आदर्श-रूप में नहीं, बल्कि वास्तविक रूप में सम्मुख आने लगी। इसलिए नाटक का उद्देश्य 'समाज जैसा है वैसा ही रखकर उसकी विशेषताओं से उत्पन्न प्रश्नों के समाधान का आभास देना' हो गया। नाटक का कार्य-क्षेत्र इस भाँति कुछ विपरीत दिशा में अवश्य चला गया, किंतु यथार्थतः नाटक को जीवन की समस्या की आलोचना भर ही करनी चाहिए। उसका उत्तर देना नाटक का काम नहीं है। नाटक जीवन की व्याख्या-मात्र है, इसलिए जीवन कैसा है, यह नहीं; बल्कि जीवन कैसा होना चाहिए और किस भाँति उत्तम से उत्तम हो सकता है, इसका सांकेतिक विधान नाटक का उद्देश्य है।

नाटक में जीवन की अवतारण

काव्यमात्र जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति होने के कारण दृश्य-काव्य जीवन के प्रकृत पक्ष को और भी विशेषता के साथ ग्रहण कर सबके सम्मुख उपस्थित करता है। नाटक-कार का लक्ष्य यही रहता है कि यथार्थ जीवन के उलभे हुए पक्षों को सूक्ष्मता के साथ ग्रहण कर किसी ऐतिहासिक, पौराणिक या कल्पित व्यक्ति के जीवन में प्रधान रूप से उनका विनियोग करते हुए विभिन्न आनुषंगिक प्रसंगों द्वारा उन्हें उद्भासित करे। नाटक में जीवन का सरल और निर्वर्द्ध रूप विशेष प्रभावकारी नहीं होता है। नायकों या उनके सहायकों का जीवन यदि सामान्य सुख-सुविधापूर्ण पथ से ही आगे बढ़ा तो उसमें दूसरे की अनुरागात्मिका वृत्ति को जाग्रत

करने की क्षमता कहाँ रही ! अंतर्द्वंद्व और सामयिक उलभन नाटकीय जीवन का प्रमुख लक्षण होना चाहिए, जिनपर विजय पाने के लिए निर्दिष्ट पराक्रम और युक्ति-विधान का प्रदर्शन नाटक को सफल बना देता है । इसके लिए यथार्थ पात्र के जीवन का रूप जान-बूझकर कुछ पेंचीदा बना दिया जाता है और उसे ही नाटकीय पात्र में आरोपित कर दिया जाता है । किंतु इसका ऐसा अर्थ न लेना चाहिए कि यथार्थ पात्र के जीवन में संपूर्ण मनगढ़ंत बातों का समावेश कर नाटकीय जीवन में उसे उतारा जाय । वैसा होने से नाटक की वास्तविकता ही नष्ट हो जायगी । जीवन का जो पक्ष और उसका जो रूप प्रदर्शित करना है, उसका तथ्य तो यथार्थ पात्र के जीवन में रहना ही चाहिए । हरिश्चंद्र के यथार्थ जीवन-क्रम में साधारणतः यदि सत्य के आग्रह का तथ्य नहीं रहता तो स्वप्न में दान की परिकल्पना द्वारा अपने राज्य को देकर उसकी दक्षिणा के लिए शरीर तक बेच डालने का चित्र नाटकीय जीवन में खड़ा नहीं किया जा सकता था । चंद्रगुप्त की वीरता और नीति-कुशलता यदि यथार्थ नहीं रहती तो उसकी राज्य-प्राप्ति और राज्य-विस्तार के क्रम में चाणक्य की कूटनीतियों का प्रयोग ही नहीं हो सकता । हरिश्चंद्र सत्यावदी थे, चंद्रगुप्त वीर — इतनी बात सत्य है । इसी के आधार पर नाटक में इनके जीवन को मार्मिक और प्रभावपूर्ण बनाने के लिए उनमें विविध द्वंद्वों और उलभनों का समावेश किया गया है । जहाँ नाटकीय जीवन का आधार कोई यथार्थ पात्र नहीं रहता, वहाँ भी कल्पना-जगत् में कोई आदर्श व्यक्ति रहता है जिसके जीवन के आधार पर नाटक में उसका विचित्रतापूर्ण चित्र उपस्थित किया जाता है । नाटककार जीवन के जिस पक्ष से प्रभावित होकर उसे सर्व-साधारण के जानने-सुनने की वस्तु बनाना चाहता है, उसके अनुरूप यथार्थ या कल्पित-पात्र में उसकी अवतारणा करके अभिनेता पात्रों द्वारा उसको सबके सामने प्रत्यक्ष करता है ।

काव्यगत या नाटकीय जीवन और यथार्थ जीवन के मूल में तथ्य की एकता रहते हुए भी उनमें सर्वत्र समरूपता नहीं रहती है । नाटकीय जीवन में कलात्मकता की रक्षा के लिए ऐसा चमत्कार और वैचित्र्य प्रदर्शित किया जाता है, जिसका सामान्य जीवन में निर्वाह ही नहीं हो सकता । यह कलात्मकता की रक्षा घटनाओं के युक्तिपूर्ण विन्यास में है । घटनाओं की अनेकता या बहुरूपता के भीतर से उनका एक सूक्ष्म और सुंदर रूप निकालकर ऐसा संजोया जाता है, जिससे पूर्वापर की घटनाओं का आभास आप ही आप मिल जाय । शकुंतला और दुष्यंत के यथार्थ जीवन के व्यापार को ध्यान में रखते हुए यदि कण्व के आश्रम में दुष्यंत के प्रथम मिलन से लेकर कुमार सर्वदमन के इस योग्य होने तक कि वह कश्यप-आश्रम में सिंह के बच्चे के साथ खेल सके और दुष्यंत के वहाँ जाने पर शकुंतला से पुनर्मिलन की अवधि का मान यदि कम से कम दस ही वर्ष रख लिया जाय, तो यह थोड़े ही संभव है कि उतने दिनों तक शकुंतला और दुष्यंत के जीवन में उतनी ही घटनाएँ हुई होंगी जिनका उल्लेख नाटक में किया गया है ? अतः, यही सत्य है कि नाटक में यथार्थ जीवन-व्यापार के सार तत्त्व को लेकर उसी के आधार पर घटनाओं का रूप नूतन क्रम से स्थिर किया जाता है । नाटककार की योग्यता और कौशल का परिचय

यथार्थ जीवन के व्यापार के सारतत्त्व के आधार पर घटना का नूतन क्रम

इसी में मिलता है कि वह घटनाओं को अधिक-से-अधिक प्रभावोत्पादक रूप में नियोजित कर सके। घटनाओं की रूप-योजना रोचक और सजीव कर देने से जीवन के मार्मिक पक्ष की प्रतीति आसानी से हो जाती है। और, तभी उसमें सरसता और रोचकता आ जाती है।

थोड़ी-सी घटनाओं का चित्र उपस्थित कर संपूर्ण जीवन का अथवा जीवन के निर्दिष्ट भाग का आभास देने के लिए नाटकीय जीवन-विधान में रंग-मंच पर प्रतिकृति परिवर्तन (यवनिका-पतन) की योजना की जाती है। देश और काल के सामंजस्य से एक दृश्य में भिन्न-भिन्न घटनाओं को इस भाँति प्रदर्शित किया जाता है कि यथार्थ जीवन-व्यापार में उसकी संगति प्रतीत हो—स्थान और समय के निर्वाह में कोई व्यतिक्रम नहीं आ सके। यथार्थ जीवन का, प्रवृत्ति की प्रधानता के अनुसार, काल-विभाग करके एक-एक दृश्य में वृत्ति और प्रकृति के अनुसार पात्रों के रूप-विधान का रहस्य उसे प्रदर्शित करना चाहिए। साधारणतः एक दृश्य में अधिक-से-अधिक पाँच वर्ष तक का जीवन-व्यापार दिखलाना समीचीन है। दस वर्ष के बालक का एक दृश्य दिखलाकर यदि दूसरे ही दृश्य में उसकी वृद्धावस्था का रूप प्रदर्शित किया जाय, तो उसमें अस्वाभाविकता आ जायगी और वह रस-प्रतीति का सहायक नहीं हो सकेगा। भारतीय नाट्य-परंपरा में वृत्ति और प्रकृति के अनुसार नायकों और अन्य पात्रों के रूप-विधान का यही रहस्य है। जीवन की जटिलता के कारण एक ही प्रकार के नायक में विविध वृत्तियों की रक्षा करते हुए अभिनय का संपादन संभव नहीं है।

यथार्थ जीवन का साधारण क्रम यही रहता है कि एक निर्धारित काल तक किसी व्यक्ति का कोई विचार एक दिशा में जाता है, जिसके बाद बाह्य परिस्थिति या अंतर्चैतना के कारण उसमें परिवर्तन हो जाता है। यही परिवर्तन का मोड़ नाटक यथार्थ जीवन और दृश्य परिवर्तन का स्थान— में दृश्य बदलने का उपयुक्त स्थान है। एक ही दिशा में जाते हुए किसी के जीवन की विविध घटनाओं में विशेष आकर्षण नहीं रह जाता। दस-पाँच वर्ष तक निरंतर पापाचार में रत रहनेवाला व्यक्ति यदि किसी के उपदेश अथवा आत्मज्ञान से अपने जीवन-क्रम को बदलकर पुण्य की ओर मुड़ता है, तो उसका वह मोड़ नाटक में दृश्य-परिवर्तन का उपयुक्त स्थल होगा।

जीवन की अवतारणा में ध्यान देने की बात है कि जिस कार्य का अनुभव लोगों में रुचि और आकर्षण पैदा करे उसी को घटनाओं का आधार बनाया जाय। रुचि और आकर्षण की उत्पत्ति के लिए नाटकीय जीवन-व्यापार में ऐसी तीव्रता होनी चाहिए कि उसकी अनुभूति से सबके भावों और विचारों में गति आ जाय। सामान्य व्यापार द्वारा यह संभव नहीं है। इसलिए, ऐसे व्यक्ति के जीवन को नाटक की वस्तु बनाना चाहिए, जो अपने असामान्य गुणों से साधारण जन को प्रभावित कर सके। प्राचीन परंपरा में किसी राजा या राजकुमार के प्रेम-व्यापार, युद्ध-विजय अथवा ऐसे ही पराक्रममूलक कार्यों का प्रदर्शन करके लोगों के सम्मुख उसके बड़प्पन को प्रत्यक्ष करना ही अभिप्रेत रहता था। जीवन की समस्याओं पर विचार कर उन्हें हल करने का दृश्य नहीं उपस्थित किया जाता था। उस समय नाटकीय जीवन संपूर्णतः सापेक्ष रहता था। यह बात

नहीं कि पहले के नाटकों में केवल राजाओं और महापुरुषों का ही जीवन उतारा जाता था। वेश्याओं और अन्य साधारण व्यक्तियों को भी कभी-कभी नाटकीय जीवन का आधार बनाया जाता था, किंतु उसमें भी जीवन का कोई मार्मिक पक्ष दिखलाकर लोगों के भावों और विचारों में गति उत्पन्न करने की चेष्टा नहीं की जाती थी। परिणाम होता था कि नाटक केवल मनोरंजन और कुतूहल की वस्तु समझा जाता था। काव्य-तत्त्व में जैसा, दिखलाया गया है, कोई भी जीवन केवल व्यक्तिगत सुख-दुख-साधना के पथ पर आगे बढ़कर अन्य के लिए आकर्षण की वस्तु हो नहीं सकता है। वह लोक-जीवन का एक अंश होकर जब तक अन्य लोगों के सुख-दुख से संबंध नहीं रखेगा तब तक काव्य में अवतीर्ण होकर कोई प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता नहीं रख सकता। इसलिए, नाटक में जीवन की अवतारणा का अब रूप ही बदल गया है। अब ऐसे ही व्यक्तियों को नायक या अन्य पात्र के रूप में नाटकों में चित्रित किया जाता है जिनका जीवन केवल व्यक्तिगत नहीं रहकर लोक-जीवन का एक अंग हो।

नाटकीय जीवन में बाह्य व्यापार से बढ़कर अंतःप्रवृत्ति को प्रत्यक्ष करने में कलाकार की योग्यता है। बाह्य व्यापार के मूल में हृदय की प्रेरणा का मूल ही कथानक के रूप में रहना चाहिए। यही कारण है कि अब नाटकों में जीवन की अवतारणा में केवल स्त्री-पुरुष के प्रेम-व्यापार या राजा-राजकुमारों के पराक्रम का ही चित्र नहीं उपस्थित किया जाता, बल्कि मनुष्यता को प्रभावित करनेवाले जीवन के ऐसे रूप को प्रत्यक्ष किया जाता है जिससे जन-साधारण की अनुभूति में तीव्रता और वेग उत्पन्न हो। यदि किसी भिखारी के जीवन में ऐसी समस्याएँ हों, जिनसे मानव-समाज के मंगल-विधान की योजना प्रत्यक्ष हो सके, तो नाटक के लिए वैसा व्यक्ति त्याज्य नहीं है। तात्पर्य यह कि जीवन का सामान्य व्यापार, जिससे केवल व्यक्तिगत संबंध हो, नाटक के लिए प्रभावकारी नहीं है, किंतु जिस जीवन से, चाहे वह राजा का हो या रंक का, मानवता की विशेष प्रवृत्ति का परिचय मिलता है उसी की अवतारणा नाटक के उपयुक्त होती है।

नाटक और रस

रस-प्रकरण में दिखलाया जा चुका है कि आत्मानुभव ही रस है। आत्मानुभव अनेकता में एकता की झलक को कहते हैं। उस झलक की दीर्घता और लघुता के अनुसार रस-प्रतीति का स्थायित्व और आल्पकालीनता निर्भर है। आत्मानुभव या रस के लिए 'अनेकता'—'स्व' से भिन्न 'अन्य'—चाहिए ही। इसी 'अनेकता' को आत्मा की प्रकृति कहा गया है। यही अनात्मा है। मनुष्य अपनी प्रकृति से बाहर अपने को नहीं पा सकता। आत्म-प्राप्ति के लिए अपनी प्रकृति में ही उसे पैठना पड़ता है। उसी प्रकार आत्मा की प्रकृति जो अनात्मा या अनेकता है, उसके भीतर ही आत्मा छिपी रहती है। काव्य अनात्मा के भीतर आत्मा के दर्शन करानेवाला वाङ्मय चित्र है।

‘काव्येषु नाटकं श्रेष्ठम्’ इसलिए कहा गया है कि अन्य काव्य काल्पनिक बिंब-विधान द्वारा हृदय-क्षेत्र में आत्म-प्रतीति या रसानुभूति कराते हैं, जब कि नाटक प्रत्यक्ष चित्र—अर्थात् नाटकीय पात्रों के मूर्तिविधान द्वारा उसका पथ प्रशस्त कर देता है। श्रव्य-काव्यों में राम या कृष्ण, ईसा या बुद्ध, चंद्रगुप्त या अशोक अथवा जगत् की किसी वस्तु या व्यापार की बातों को पढ़-सुनकर उनके अनुरूप काल्पनिक बिंब-चित्र के साथ तादात्म्य काव्य में नाटक के योग से आत्म-प्रतीति या रस का अनुभव किया जाता है, किंतु नाटक में श्रेष्ठ होने का कारण अभिनेता-पात्र राम, कृष्णादि के रूप में प्रकट होकर ऐसा चित्र उपस्थित कर देते हैं कि तादात्म्य योग के लिए कल्पना को व्यायाम करने की आवश्यकता ही नहीं होती। नाटकीय पात्रों के रूप में यथार्थ व्यक्ति या वस्तु के साथ आत्मीयता स्थापित कर प्रत्यक्ष रूप से हम अपनी संकीर्णता या ‘अहंता’ की भूल अनेकता का अनुभव करने लगते हैं, इसीलिए नाटक को काव्यों में श्रेष्ठ कहा गया है। ‘काव्यों में बाह्य ऐतिहासिक चित्र या मन के विकारों के उद्भेद वर्णित होते हैं। नाटक में दोनों का मेल और पूर्णता होती है। उसमें इतिहास और भाव दोनों ही मिल जाते हैं। महाकाव्य में बाहरी सृष्टि का वर्णन होता है और खंड-काव्य में भीतरी सृष्टि का। नाटक में भीतरी और बाहरी, दोनों ही सृष्टियों का वर्णन होता है। इसलिए ‘काव्येषु नाटकं श्रेष्ठम्’ कहा जाता है।’^१

नाटक को काव्यों में श्रेष्ठ इसलिए भी कहा गया है कि रसानुभूति के लिए यह दो मार्गों को खोल देता है। श्रव्य-काव्य में केवल श्रवणेंद्रिय का व्यापार प्रधान नाटक द्वारा रसानुभूति के दो मार्ग रहता है। हम केवल सुनकर तादात्म्य-योग स्थापित करते हैं। किंतु नाटक में श्रवणेंद्रिय का व्यापार तो रहता ही है, ऊपर से चक्षुरिंद्रिय का व्यापार प्रधान हो जाता है। दोनों के युगवत् व्यापार से उक्त तादात्म्य योग में बड़ी सुगमता आ जाती है और हम रस की दुहरी प्रतीति करने लगते हैं।

नाटक में पाल किसी अन्य व्यक्ति के जीवन-व्यापार का कलात्मक अभिनय करता है, इससे मानना होगा कि नाटक बराबर लीलामय है—कृत्रिम है। लोग नाटक अनुकरण संसार को ईश्वर की लीला या नाटक कहा करते हैं। इसका अभिप्राय है कि संसार के प्रवर्तन और विवर्तन में ईश्वर का यथार्थ रूप प्रतिभासित होता है। काव्य-नाटक में भी इसी भाँति किसी का यथार्थ रूप प्रतिभासित होता है। डा० भगवानदास ने ‘रस-मीमांसा’ नामक निबंध में लिखा है—“नाटक में पात्र ‘बनते’ हैं, अपने को अपने से अन्य बनाते हैं—बुद्धिपूर्वक लीला से—माया से—जो नहीं है, वह ‘बन’ जाते हैं और उसमें बड़ा रस मानते हैं—आनंद पाते हैं।” तात्पर्य यह कि नाटक अनुकरण है—यथार्थ नहीं, यथार्थवत् व्यापार है। अनुकरण को पूर्ण रूप से यथार्थ कर देने पर कलात्मकता का निर्वाह हो नहीं सकता है। अनुकरण के इस प्रसंग में रस कहाँ है, अनुकरण करनेवाले पात्रों में या अभिनय देखनेवाले प्रेक्षकों में, यह विचारणीय है।

१ पाश्चात्य दर्शन का इतिहास

२ द्विवेदी-अभिनंदन ग्रंथ—रस-मीमांसा.

प्राचीन आचार्यों में इस विषय को लेकर बड़ा मतभेद है। समालोचकों द्वारा बहुत तर्क-वितर्क के बाद बहुमान्य यही हुआ कि रस का अनुभव कर्त्ता या भोक्ता को नहीं होकर केवल द्रष्टा को ही होता है। यही युक्ति-संगत जँचता भी है। पात्रों की योजना में दिखलाया गया है कि पात्रत्व के तीन अवस्थान हैं— यथार्थ पात्र, नाटकीय पात्र और अभिनेता पात्र। यदि यथार्थ पात्र में रस की अवस्थिति मानी जाय, तो पुस्तक में (काव्य के लिखित रूप में)

अथवा रंगमंच पर उसका अवतरण असंभव है। कोई व्यक्ति अपने ही अपने कार्यों का अनुकरण कैसे करेगा ? यदि कोई नाटककार किसी जीवित व्यक्ति को नाटक का पात्र निरूपित करे और उसका अभिनय उसी व्यक्ति से कराया जाय तब भी अभिनेता व्यक्ति का नाटकीय रूप अपने ही यथार्थ रूप के अनुकूल नहीं हो सकता। जिस घटना का अभिनय रंगमंच पर किया जायगा, उस घटना के समय का वह व्यक्ति अभिनय के समय में लीलात्मक रूप से ही आ सकता है। रस यदि ऐसे ही व्यक्ति में रहे तो दूसरे को उसे देखकर आनंद कैसे आवेगा ? हम जीवित व्यक्ति के यथार्थ व्यापार में जितना आनंद पाते हैं, उससे कहीं अधिक आनंद उसका अनुकरण करनेवाले व्यक्ति में लक्षित होता है। इसलिए, यह प्रश्न उठ ही नहीं सकता कि नाटक में रस की स्थिति यथार्थ पात्र में रहती है।

यदि नाटकीय पात्र में रस का अवस्थान माना जाय तो यह भी युक्ति-संगत नहीं मालूम होता। नाटकीय पात्र का अपना कोई अस्तित्व ही नहीं है। उसका पूर्वपक्ष यथार्थ पात्र और उत्तर पक्ष अभिनेता-पात्र है। नाटकीय पात्र— बीच में—यथार्थ पात्र के जीवन को भावात्मक रूप से अपने में सीमित कर केवल पुस्तक में ही पड़े रहते हैं। यथार्थ पात्र के संपूर्ण सुख-दुख, हानि लाभ, उत्कर्षापकर्ष कलात्मक ढंग से उनमें पिरोये रहते हैं। उनका अपना सुख-दुख, कुछ है ही नहीं। इसलिए उनमें रस की अवस्थिति का प्रश्न ही नहीं उठता है।

रह गये अभिनेता-पात्र। बहुत लोग अभिनेता-पात्रों में रस की स्थिति मानते हैं। उनका कहना है कि नाटकीय पात्रों के यथानुरूप पात्र का अभिनय करते हुए अभिनेता यथार्थ पात्र की स्थिति में चले जाते हैं। यह और भी अनर्गल-सा प्रतीत होता है। यदि चंद्रगुप्त का अभिनय करते हुए अभिनेता यथार्थ चंद्रगुप्त की स्थिति में ही चला जाय तो उसके लिए कार्य-व्यापार का स्थान रंगमंच नहीं, बल्कि पाटलीपुत्र का राजसिंहासन होना चाहिए। और, फिर तो सिकंदर की सेना को मारने के प्रदर्शन में अनेक व्यक्तियों की जानें जायँगी। इसलिए, रस की अवस्थिति अभिनेता-पात्र में भी नहीं हो सकती है। यह अवश्य है कि भाव की तीव्रता के कारण अभिनेता-पात्र रसानुभूति के स्पर्श तक पहुँच जाते हैं।

तब, रस आखिर रहता कहाँ है। उत्तर में, जैसा पहले ही लिखा गया है, यही कहा जायगा कि जिस प्रकार काव्य पढ़नेवाले को ही आनंद मिल सकता है, रस की अवस्थिति उसी प्रकार नाटक देखने वाले को ही रस या आनंद की प्राप्ति हो सकती है। महाभारत में अभिमन्यु की कथा को पढ़-सुन कर उसके बिंबात्मक चित्र के साथ आत्मयोग के द्वारा जिस प्रकार हम आत्म-प्रतीति या रसानुभूति ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार उससे भी अधिक स्पष्टता के साथ नाटक में अभिनेता

पात्र के रूप में अभिमन्यु को देखकर उसके व्यापारों से प्रत्यक्ष तादात्म्य योग द्वारा हम (या दर्शक) ही रसानुभूति का कार्य करते हैं । इसलिए रस की अवस्थिति प्रेक्षकों या द्रष्टाओं में ही होती है ।

डॉ० भगवान दास ने उसी 'रस-मीमांसा' नामक निबंध में 'भाव स्मरणं रसः' के सिद्धांत के अनुसार 'खाने के बाद तृप्त होकर किसी का कहना कि बड़ा मीठा था' ; 'दो व्यक्तियों के लड़ने पर एक का दूसरे को पराजित करने के बाद भर्त्सना करना कि 'फिर ऐसा करोगे' इत्यादि को रस का व्यापार माना है । इतना ही नहीं, 'पहलवानों के, अपनी भुजाओं को देख कर ठोकते हुए, प्रसन्न होने में ; सुंदर स्त्री-पुरुष के, अपने रूप को दर्पण में देख कर, आनंदित होने में भी रस की स्थिति मानी है । यदि इसको युक्तियुक्त मान लिया जाय तो रस के मौलिक सिद्धांत पर ही, कि वह केवल द्रष्टा या साक्षी में होता है, आपात होने लगता है । ऐसा होने से नाटक में भी रस अभिनेता-पात्रों में ही मानना पड़ेगा । डॉ० भगवान दास के विवेचन का आधार दार्शनिक है । उन्होंने पारमार्थिक अस्मितानुभव-रूपी रस को पारमार्थिक आनंद (ब्रह्मानंद का पर्याय) और ऐहार्थिक व्यावहारिक अस्मितानुभव-रूपी रस को लौकिक (काव्य-साहित्य से संबंध रखनेवाले आनंद का पर्याय) मान कर काव्यगत

आनंद या 'रस' को ब्रह्मानंद की छाया या नकल माना है । इस विचार काव्य के आनंद का अवस्थान द्रष्टा में से काव्यगत आनंद या रस यथार्थ नहीं रहकर प्रत्याभास-सा हो जाता है ।

इस भाँति काव्य-रस की असारता मान लेने पर उसकी प्रतीति का कोई आप्रह ही नहीं रह जायगा । यदि जीवन सत्य है, चाहे जिस रूप में भी वह सत्य हो, तो उसके व्यापार को सत्य मानने में ही कल्याण है । काव्य का जीवन के साथ अविच्छिन्न संबंध रहने के कारण काव्य-रस को सत्य मानने पर ही उसकी प्रतीति या अनुभूति का आप्रह हो सकता है । छाया के पीछे, असार वस्तु के पीछे कोई क्यों दौड़े ! इसलिए, काव्य के आनंद को सत्य मानने पर नाटक में उसका अवस्थान द्रष्टा में ही निरूपित करना होगा ।

नाटक में अभिनेता-पात्रों को, अपनी भिन्न सत्ता का भाव रखते हुए ही, नाटकीय पात्रों के अनुरूप कार्य करना पड़ता है । व्यक्तिगत सत्ता का परिहार कर देने से नाटकीय व्यापार रंगमंच की वस्तु नहीं होकर यथार्थ जीवन का प्रकृत आचरण हो जायगा । उसमें कलात्मकता रहेगी ही नहीं । जहाँ व्यक्तिगत सत्ता का कोई रूप रहा वहाँ रसानुभूति असंभव है । अभिनेता-पात्रों में अधिक-से-अधिक भाव की तीव्रता ही हो सकती है । उक्त भाव-तीव्रता रस-दर्शा

के बहुत निकट रहती है ; किंतु वह रसानुभूति नहीं हो सकती । अभि-पात्रों के कार्य नेता-पात्रों में रसानुभूति होने से क्रोध या घृणा के समय में भी उसे यंत्रवत नहीं आनंद की ही प्रतीति होगी । किंतु नाटक को आचरण से बढ़कर कार्य से ही संबंध रहता है, इसलिए पात्रों के कार्य ऐसे होने चाहिए कि वे

यंत्रवत नहीं प्रतीत हों । ऐसे कार्य-संपादन की रक्षा के लिए अभिनेता-पात्रों को आत्मभाव या निज व्यक्तित्व की रक्षा करनी पड़ती है, अन्यथा अभिनय में कोई आकर्षण नहीं रह जाय । निपुण अभिनय को देखकर यथार्थ व्यक्ति (जिनका जीवन नाटकीय पात्र के रूप में काव्य में उतारा गया है) के जीवन-क्रम से, तादात्म्य-योग द्वारा दर्शकों के हृदय पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि उनकी आत्मा पर पड़ा अज्ञान का आवरण हट जाता है और

वे आत्मानन्द की प्रतीति करने लग जाते हैं। आत्मानुभूति के उस क्षेत्र में वे अपने को किसी भी दशा में रखकर आनन्द का उपभोग कर सकते हैं।

सुखांत और दुःखांत नाटक

काव्य या नाटक प्रकृत जीवन की अभिव्यक्ति से संबंध रखकर ही अपनी वास्तविकता की रक्षा करता है। किंतु यह वास्तविकता प्रकृत-जीवन का अविकल अनुवाद नहीं हो सकती। प्रकृत जीवन में हम जिस तरह हँसते, रोते या अन्य व्यापार करते हैं, काव्य में उसका आरोप और निर्वाह संभव नहीं है। काव्य में प्रकृत-जीवन का प्रभाव मात्र रहता है। व्यक्ति में सीमित जीवन-व्यापार की समग्रता को, उसके आत्म-भाव की सत्ता के अनुरूप ग्रहण कर, कलाकार अपनी विधायक कल्पना काव्य में प्रकृत-से काव्य में वर्णित करता है। नाटक में जीवन का ऐसा विधान जितनी जीवन का प्रभाव ही मार्मिकता लिये रहता है, उतना ही प्रत्यक्ष उसका प्रभाव उपस्थित मात्र किया जा सकता है। यह मार्मिकता मनुष्य की अंतर्प्रकृति में भावों का स्वाभाविक व्यतिक्रम दिखाने से अत्यंत स्पष्ट हो जाती है। धृणा के बदले प्रेम और प्रतिहिंसा के बदले कृतज्ञता दिखाने से मानव-हृदय की सूक्ष्मता का पता चलता है। इसी परिवर्तन को दिखाना जीवन का स्पष्टीकरण है।^१

जीवन के क्रम में सुख या दुःख उसका नित्य सहचर है। हम या तो जीवनोपयोगी अनुकूल वातावरण में संपन्नता, तृप्ति और आनंद की भावना से सुखी रहते अथवा प्रतिकूलताओं के बीच अभाव, असंतोष और विषाद के कारण दुःख का अनुभव करते हैं। इन दोनों के बीच कभी-कभी एक उदासीन स्थिति भी होती है, जब हम न जीवन में सुख सुख का अनुभव करते, न दुःख का। किंतु संसार में जीवन की ऐसी स्थिति या दुःख बांझनीय नहीं है। प्रायः यही देखा जाता है कि परिस्थितियों के अनुसार जीवन का व्यापार सुख या दुःख की दिशा में आगे बढ़ता है और हम अपनी सत्ता को उसी के साथ मिलाये रहते हैं।

सुख-दुःख की समीक्षा करना यहाँ अभिप्रेत नहीं है। जीवन-व्यापार में साधारणतः देखा जाता है कि अपनी प्रिय वस्तु के संयोग में सुख और उसके वियोग में दुःख होता है। यह प्रिय वस्तु क्या है, इस पर विचारकों में बड़ा मतभेद है। भौतिकवादी सांसारिक ऐश्वर्य-भोग को ही सुख का साधन समझकर प्रिय मानते हैं। उनके लिए शरीर की उत्पत्ति और विनाश के साथ जीवन के आरंभ और अंत का सिद्धांत मान्य है। वे ईश्वर और परलोक को नहीं मानते। इसलिए, 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा धृतं पिवेत्' उनके जीवन का क्रम सुख-दुःख की रहता है। किंतु अध्यात्मवादियों का विचार इसके संपूर्ण विपरीत है। वे जीवन को अनंत मानते हैं। शरीर जीवन की एक टिकान भर है। उनकी प्रिय वस्तु संसार का ऐश्वर्य नहीं, बल्कि आत्म-विस्तार है। सांसारिक सुख-दुःख को वे जीवन से परे रखते हैं और शरीर के निपात से जीवन का अंत

स्वीकार नहीं करते। जीवन-यात्रा में धर्म का लक्ष्य जिस सुख की प्राप्ति की ओर रहता है, वह यही आत्म-विस्तार है। सांसारिक दृष्टिकोण से सुख-दुःख का जो रूप हम ग्रहण करते हैं, वह यथार्थ सुख-दुःख नहीं है। महाभारत के वनपर्व में द्रौपदी के प्रश्न पर कि आप इतना धर्मात्मा होकर भी इस भौंति कष्ट क्यों उठा रहे हैं, युधिष्ठिर ने जो उत्तर दिया कि धर्म का लक्ष्य सुख नहीं है, वह इसी आत्मविस्तार की ओर संकेत करता है। सुख शब्द की व्युत्पत्ति से 'सु' अर्थात् सुलभ और 'ख' अर्थात् आकाश—यानी विस्तार-अर्थ यदि ग्रहण किया जाय तो सुख को यथार्थ सुख मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी, किंतु साधारण अर्थ में सुख से अभिप्राय सांसारिक भोग-विलास से ही रहता है। इस अर्थ में सुख को धर्म की अनिवार्य संगति स्वीकार नहीं है। यदि धर्म और सांसारिक सुख का नित्य संबंध रहता, तो कोई अधर्म करता ही नहीं। किंतु हम देखते हैं कि 'सुख' नामक वस्तु के लिए हम अनेक प्रकार के अनंतिमूलक व्यापार करते हैं। इसलिए, सुख साधारणतः सांसारिक भोग-विलास के अर्थ में ही लिया जाता है, जो जीवन का लक्ष्य नहीं है।

ऊपर जिस प्रिय वस्तु के संयोग में सुख और उसके वियोग में दुःख का उल्लेख किया गया है, उसी के आधार पर संयोगांत और वियोगांत, दो प्रकार के काव्य होते हैं। नाट्य साहित्य में इसी को सुखांत और दुःखांत कहा जाता है। संयोग और सुख एक नहीं हैं, न वियोग और दुःख ही एक हो सकते हैं। दुःखों के बीच से भी संयोग और सुखों के सुखांत और दुःखांत बीच से भी वियोग प्रकाशित हो सकता है। संगित्व ही यदि सुख का लक्षण रहता, तो एक साथ रहनेवाले लोगों में कभी चित्त-विकार के दर्शन ही नहीं होते। सुख और दुःख जीवन में लगे ही रहते हैं। सुखांत और दुःखांत से अभिप्राय है कि जीवन-यात्रा के कितने दुःखों के बीच से अंत में सुख हुआ अथवा कितने सुखों के बीच से अंत में दुःख हुआ। नाटक की कथावस्तु में इसी का समावेश करना सुख-दुःख के प्रति कलाकार के आत्मभाव को प्रदाशित करता है।

घटनाओं का घात-प्रतिघात जीवन में विचित्र सौंदर्य ला देता है। यदि जीवन सरल पथ से आगे बढ़ते हुए किसी प्रतिकूल परिस्थिति का सामना नहीं करता है, तो उस जीवन के प्रति किसी का आकर्षण नहीं हो सकता। जीवन की परिस्थिति के अनुकूल और प्रतिकूल हम कहाँ तक बढ़े हैं और उस अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति में जीवन के बढ़ने का कैसा क्रम रहा है, यही दिखलाना साहित्य का लक्ष्य है। नाटक में इसी को प्रत्यक्ष दिखलाया जाता है। भारतीय पद्धति में जीवन के प्रति जो भावना है (Conception) उसके अनुसार उसकी परंपरा वृत्तिचक्र की तरह घूमती रहती है और उसका कभी अंत होता ही नहीं। पश्चिमी विचार में जीवन-परंपरा का अंत निश्चित है। जीवन की अनंतता में अवस्था होने के कारण इहलौकिक जीवन के अंत से पूर्वीय साहित्य और दर्शन में कोई विजोभ नहीं प्रकट होता है। वर्तमान जीवन का कितना भी दुःखपूर्ण अंत होने के बाद उसके कर्म या संकल्प का फल दिखाने के लिए भारतीय काव्यों में पात्रों को मृत्यु के बाद भी रखा जाता है। महाभारत में मृत्यु के बाद युधिष्ठिर के सहित दुर्योधनादि भी स्वर्ग में दिखलाए गए हैं। उनके जीवन का अंत दुःख-मूलक होने पर भी उनका स्वर्गस्थ-रूप मानवोचित कर्म और पराक्रम के प्रति लोगों की

अवस्था को दृढ़ करता है। दुःखांत के बाद ऐसा विचारादर्श नहीं रहने से जीवन पर धर्म या पाप का कोई प्रभाव नहीं रहेगा। नाटकों में इसको और भी स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया जाता है। सत्य हरिश्चंद्र नाटक में दुःख की पराकाष्ठा पर स्वर्ग से पुष्प-वृष्टि का दृश्य दिखला कर ऐसे ही जीवन का चित्र उपस्थित किया गया है। तात्पर्य यह है कि भारतीय नाटकों में दुःखांत और सुखांत से अभिप्राय जीवन के अंत से नहीं, बल्कि जीवन की अनंतता में उसके एक प्रकरण से है।

जीवन के प्रति भारतीय और पश्चिमी विचारकों के इस भिन्न दृष्टिकोण का प्रभाव वहाँ के साहित्य में और विशेषकर नाटकों में परिलक्षित होता है। पश्चिमी नाटकों का दुःखांत-

रूप जीवन की समाप्ति में ह्वेश, करुणा, वियोग या घातकता की प्रतिष्ठा आशा और उत्साह कर उसका प्रभाव इस रूप से पाठकों या दर्शकों के लिए छोड़ता है, जो का अदर्श जीवन को निराशा और अवसाद से भर देता है। किंतु भारतीय नाटक, इसके विपरीत, दुःखांत होते हुए भी जीवन-परंपरा को अच्युत रखता है तथा कर्म और संकल्प का प्रभाव दिखलाते हुए दर्शकों और पाठकों को आशा, उत्साह और पराक्रम का संदेश देता है। पश्चिमी नाट्य साहित्य में भी दुःखांत ('Tragedy') नाटकों के विकास में देखा जाता है कि: 'यूनानी कृष्ण नाटकों का अंत वास्तव में दुःखपूर्ण नहीं होता, वरन् मध्य ही दुःखपूर्ण होता है; क्योंकि उनके देवताओं ने, पौराणिक कथाओं के अनुसार, दुःख भोगने के उपरांत अंत में विजय ही प्राप्त की थी। हाँ, आगे चलकर उनके अनुकरण पर और-और देशों में जो नाटक बने, वे प्रायः दुःखांत ही थे'। इस भाँति सुखांत और दुःखांत, दोनों में भारतीय दृष्टिकोण जीवन का लोकानंदकारी रूप ही सम्मुख रखकर पाठकों तथा दर्शकों के समक्ष आशा और उत्साह का आदर्श रख देता है।

नाटकों के दुःखांत या सुखांत रूप में दुःख-सुख की योजना के लिए पात्रों के जीवन-क्रम को कलात्मक रूप से सम्मुख रखना होगा, नहीं तो यथार्थ रसानुभूति नहीं हो सकेगी। भाव-तीव्रता (Pathos) के लिए आवश्यक है कि नाटकीय पात्रों के जीवन-क्रम में दुःख-सुख की अवस्थिति उनके शील और आचरण की अनुरूपता पात्रों के प्रतिकूल का निर्वाह नहीं करती हो। बुरे शील और आचरणवाले पात्रों के जीवन सुख-दुःख की अव-का अंत दुःखद होने पर रस तो मिलेगा, किंतु परिपक्व हो कर नहीं। स्थिति के कारण उसी प्रकार सच्चील और सदाचारी व्यक्तियों के जीवन का अंत सुखद होने में कोई विशेषता नहीं है। जहाँ अच्छे काम करते हुए पात्रों के जीवन पर कोई कष्ट आ जाता है, वहाँ उसके प्रति सबकी सहानुभूति तीव्र हो जाती है। उसी प्रकार बुरे आचरणवाले व्यक्तियों में सुख का सामंजस्य जीवन के निराशापूर्ण भाग पर उत्साह और आशा का आलोक प्रदान करता है। नाटकीय परंपरा में नायकों का नियोजन इसी विशेषता को लिए रहता है। इसके लिए कहीं-कहीं ऐतिहासिक घटनाओं को बदलकर अपने आदर्श के अनुकूल बना लिया जाता है। भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' में वनवास के बाद वाल्मीकि-आश्रम में राम से सीता की भेंट कराकर उनके दुःख को कम करने का

प्रयत्न किया है। यद्यपि दुःखांत नाटक के रूप पर इससे एक नया प्रकाश पड़ता है; किंतु ऐतिहासिक तथ्यों के आग्रह से इसमें रस का परिपाक होता है कि नहीं यह एक संशय का प्रश्न रह जाता है।

अभिनय की प्रवृत्ति और कलात्मकता का विस्तार

मनुष्य स्वभाव से ही अनुकरणशील हुआ करते हैं। छोटे बच्चों में अनुकरण की प्रवृत्ति बहुत रहती है। कोई लड़का यदि किसी भी भाँति असाधारण रूप से चलता, बोलता या हँसता है, तो अन्य लड़के अपने साथियों के बीच उसी प्रकार चलने, बोलने तथा हँसने की क्रिया का प्रदर्शन करते हैं। ऐसे अनुकरण में **अभिनय की मूल प्रवृत्ति** उनका प्रधान उद्देश्य मनोविनोद या आत्मरंजन ही होता है। कभी-कभी असाधारण चाल-ढाल वाले लड़के को निढ़ाने के लिए उसके समुख उसकी विशेषतापूर्ण क्रियाओं का अनुकरण करते हैं। अभिनय की मूल प्रवृत्ति ऐसे ही अनुकरण में अंतर्हित है।

अनुकरण की प्रवृत्ति के जगने से पूर्व और उसके पश्चात् भी भावातिरेक में मनुष्य ऐसे व्यापार करते हैं, जो नाचने, गाने, किलकारियाँ भरने आदि के रूप में व्यक्त हुआ करते हैं। आनंद के उद्देग में अनायास उछलने लगना अथवा गाने लगना मानव-स्वभाव का साधारण रूप है। ऐसी उछल-कूद या नाच-गान में कोई कलात्मकता नहीं प्रदर्शन का हेतु ही रहती। इनसे मनुष्य के स्वाभाविक कार्य-व्यापार का ही प्रदर्शन होता है। यही नाचना-गाना जब उद्देश्य-गर्भित हो जाता है, अर्थात् भाव-मिक रूप है विकारों के परिणाम-स्वरूप नहीं, बल्कि दूसरों को दिखाने या रिझाने के लिए नाच-गान अथवा उछल-कूद का प्रदर्शन होता है तब वे व्यापार-कला के अंतर्गत हो जाते हैं। अभिनय के मूल में ऐसे ही व्यापारों का रूप रहा करता है। जब तक कोई भी शारीरिक या मानसिक व्यापार हृदय के भावाधिक्य के अनुरूप अपने ही आप होकर कर्ता के प्रभाव-क्षेत्र में ही समाप्त हो जाता है तब तक वह कला की वस्तु नहीं हो सकता, प्रत्युत् अभिनय में उसका समावेश नहीं हो सकता है। ऐसे व्यापार जब हृदय की प्रकृत-प्रेरणा से नहीं, बल्कि अनुकरण की प्रवृत्ति से दूसरों को दिखाने के लिए किए जाते हैं, तभी अभिनय का प्रारंभिक रूप हो जाता है।

उपर्युक्त अनुकरण-प्रवृत्ति और भावगत शारीरिक चेष्टाएँ एक साथ मिलकर ऐसा रूप धारण कर लेती हैं कि वह अन्य लोगों के लिए मनोरंजन का कारण हो जाता है। जब कई आदमी एक साथ बैठते हैं, तब मनोविनोद के लिए किसी अनुकरणशील लड़के को बुलाकर उसका व्यापार देखना बहुत पसंद करते हैं। यही एक ओर किसी नाटक का सूत्रपात व्यक्ति का अनुकरणशील व्यापार और दूसरी ओर अन्य कई व्यक्तियों का एक साथ बैठकर उसे देखना नाटक के अभिनय और रंगमंच का मूल रूप है। आनंद और उत्सव के समय में ऐसे व्यापार और भी अधिक पसंद किए जाते हैं। अनुकरण को विशेष मनोरंजक बनाने के लिए अनुकरणशील व्यक्ति की चेष्टाओं में अनुकृत या यथार्थ व्यक्ति के वेश-भूषा, बातचीत और भावभंगियों का भी अनुकरण किया

जाने लगा। इस प्रकार अनुकरण की प्रवृत्ति जब नाट्य का रूप धारण कर लेती है तब नाटक का सूत्रपात सम्भूतना चाहिए।

नाट्य-कला के क्रम-विकास में अनुकरणमूलक चेष्टाओं के साथ संभाषण, वेशभूषादि का समावेश इसलिए हुआ कि पूर्ण रसानुभूत के लिए इंद्रियों का पंचो-
अंश और कान की करण आवश्यक हो जाता है। अंशों से नाट्य-व्यापार को देख मनो-
जिज्ञासा से नाटक रंजन के साथ कुतूहल की शान्ति भले ही हो जाय, किंतु आनंद की प्राप्ति
का जन्म के लिए देखने के साथ-साथ मनुष्य अन्य ज्ञानेन्द्रियों की व्यापार-तत्परता की अपेक्षा रखता है। देखने की प्रवृत्ति जैसी स्वाभाविक है, सुनने की उससे कम नहीं। बच्चे तो देखने से अधिक सुनना ही अधिक पसंद करते हैं, क्योंकि बच्चों में चक्षुरिंद्रिय का पूर्ण विकास श्रवणेन्द्रिय के विकास के बाद होता है। जीवों में किस रूप से, कब और क्यों इंद्रियों का विकास भिन्न रूप से होता है, यहाँ वह प्रतिपाद्य नहीं है। अभिनय की प्रवृत्ति के विकास में इतना मानना ही होगा कि अंशों से देखने की लालसा और कानों से सुनने की उत्सुकता, दोनों के सम्मिश्रण से नाटक का जन्म हुआ है। इसलिए, नृत्य और संगीत, ये ही दो नाटक की सृष्टि के मूल में हैं।

नाटक में कलात्मकता के विस्तार के लिए सामाजिक वातावरण की अपेक्षा रहती है। जातीय जीवन की संस्कृति और आचार का प्रभाव किसी देश के साहित्य पर अत्यधिक पड़ता है, इसलिए नाटक में उस संस्कृति और आचार का निर्वाह करने
कलात्मकता के में कलात्मकता की एकरूपता नहीं रह सकती। सभ्यता के विकास के साथ-
विस्तार के लिए साथ जातीय आचार का आदर्श बदलता रहता है। प्रत्येक देश में
सामाजिक वाता- नाटकों का आरंभ वहाँ के निवासियों के विचारानुसार धार्मिक कृत्यों
वरण की अपेक्षा से ही होता है। धार्मिक भावना के बाद वीर-पूजा का उत्सव आता है।

इन्हीं धार्मिक भावना और वीर पूजा की प्रवृत्ति से उत्प्रेरित होकर जो कार्य किए जाने लगे, उनमें जातिगत और देशगत रुढ़ियों के अनुरूप भिन्नता आने लगी। कला-
त्मकता को भिन्न रूप से नाटकों में प्रयुक्त करने का यही कारण है। रुचि-भेद और
वातावरण-भेद से प्रत्येक देश में भिन्न रूप से नाटकों का रूप स्थिर किया गया। भारतवर्ष में
 रामलीला, रासलीला, नौटंकी आदि के रूप में जो अब तक नाटक के आरंभिक रूप का पता मिलता है, वह समाज और स्थान की रुचि-भिन्नता का ही परिचायक है। धार्मिक कृत्यों से आरंभ होकर नाटक आज जिस कलात्मकता के क्षेत्र में चला गया है, वहाँ जीवन की अभिव्यक्ति उसका उद्देश्य हो गया है। अब रसोत्पत्ति तक जाने में, नाटक में कथावस्तु, पात्र, संभाषण तथा अन्य आवश्यक उपकरणों का विधिवत समावेश करना पड़ता है।

साहित्य-साधना की पृष्ठभूमि

छठा अध्याय

कथा-साहित्य

छठा अध्याय

कथा-साहित्य

कथा-साहित्य की विशेषताएँ

कथा का साधारण अर्थ है, किसी का विवरणात्मक विधान । किसी वस्तु या घटना का विवरण जब दूसरे को सुनाने की आवश्यकता हुई होगी तब कथा की सृष्टि माननी चाहिए । कथा के मूल में सुननेवाले और सुनानेवाले, दोनों पक्षों का अस्तित्व अपेक्षित है । उक्त विवरणात्मक विधान छोटा-से-छोटा और बड़ा-से-बड़ा हो सकता है; इसलिए रूप और शैली के आधार पर कथा के कई भेद हो सकते हैं । कहानी, आख्यायिका, कथा का मूल और उसके भेद के कारण गल्प, उपन्यास, जीवनवृत्त, आत्मचरित, भ्रमण-वृत्तांत प्रभृति, सब कथा ही के भिन्न रूप हैं । वर्णनों में स्वानुभूति की संवेदना का योग हो जाने के कारण वे, बाह्य वस्तु न रहकर, कहनेवाले की आत्माभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होते हैं; अतः उनका समावेश साहित्य के अंतर्गत हो जाता है । कथा-साहित्य का अभिप्राय ऐसे वाङ्मय से है जिसमें कल्पना या अनुभूति, रूप-प्राप्ति की भावना से अनुरंजित होकर, कृत्रिम या यथार्थ पात्रों को उपलक्ष्य करके, आप ही अशिव्यक्त होती है । किसी भी काव्य का आधार कोई-न-कोई कथात्मक विवरण है । बिना कथा या कथानक के काव्य का रूप खड़ा ही नहीं किया जा सकता; इसलिए कथा-साहित्य और काव्य-साहित्य वर्णनात्मक विधान के क्षेत्र में एक हो जाते हैं । दोनों में ऐसा संबंध है कि काव्य के निर्धारित गुणों का संपूर्ण परिहार करके कथा-साहित्य जी नहीं सकता, न बिना कथा के आधार के कोई काव्य ही स्थिर हो सकता है । रस-निष्पत्ति या आनंदोपलब्धि की दृष्टि से दोनों के समान व्यापार हैं । यदि कोई कहानी या उपन्यास श्रोता अथवा पाठक के हृदय में रस-संचार नहीं कर सके, तो वह साहित्य की वस्तु नहीं हो सकता । काव्य के लिए तो रस-निष्पत्ति उसका सर्व-प्रधान गुण है—रस ही काव्य का प्राण है । इन समानताओं के रहते हुए भी कथा-साहित्य का अन्य काव्यों से विभेद उस स्थान पर परिलक्षित होता है, जहाँ 'काव्य' को साहित्य की शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण बड़ी कड़ाई से करना पड़ता है । छंद, अलंकार, गुण, रीति आदि की सांगता के लिए काव्य को जिस भौति बंध जाना पड़ता है, उस तरह कथा-साहित्य को नहीं । इसका यह अभिप्राय नहीं कि कथा-साहित्य में इनका प्रयोग अनावश्यक है, अथवा जान-बूझ कर लोग इनका व्यवहार करते ही नहीं हैं । कथा-कहानियाँ उपयुक्त शास्त्रीय पद्धति का निरादर नहीं करतीं । आवश्यकता पड़ने पर उनका प्रयोग और उपयोग भी

किया जाता है ; किंतु कथा-साहित्य का प्रधान उद्देश्य चरित्र, या घटनाचक्र के वर्णन-विधान द्वारा, हृदय पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालना रहता है । जहाँ साधारण कथा-साहित्य का उद्देश्य काव्य में, विशेषकर छंदोबद्ध काव्य में, संगीतात्मक और रागात्मक तत्त्व की अधिकता रहती है, वहाँ कथा-साहित्य में विवरणात्मक विधान की ही विशेषता पाई जाती है । साधारण काव्य कथा के आधार पर अन्य प्रासंगिक अवतरणों को अपने में ले लेता है जब कि कथा-साहित्य अपने विवरणात्मक भाग को छोड़ किसी दिशा में जा नहीं सकता । प्राचीन भारतीय साहित्य में कथा-कहानियों में भी काव्यत्व का यथाविध समावेश कर दशकुमार-चरित, कादंबरी, हर्ष-चरित प्रभृति ग्रंथ लिखे गए थे ; किंतु अब, पश्चिमी साहित्य के प्रभाव से, कहानियों में लघुता और क्षिप्रता लाना आवश्यक हो गया है ; इसलिए काव्य की शास्त्रीय पद्धति का अविकल निर्वाह प्रधान नहीं समझा जाता है । कथा-साहित्य की एक विशेषता यह भी है कि यह समष्टि के हृदय से व्यष्टि के हृदय का सीधे मेल कराता है । अन्य काव्यों में जिस तरह विधान के विविध चमत्कारों के पथ से हम काव्यगत जीवन के संपर्क में आने के लिए कई मोड़ों और चक्करों को पार करते हैं, वैसा यहाँ नहीं होता । कथा-साहित्य में जीवन का विधान सरल और अविमिश्र रहता है ; इसलिए उसके साथ संपर्क स्थापित करना आसान होता है और हम शीघ्र ही उससे परिचित हो जाते हैं । वर्तमान कथा-साहित्य में बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित जीवन के व्यवहार-गत और बाहरी रूप से बढ़कर उसके अंतर्द्वंद्व और अंतरंग रूप का ही अधिक चित्रण रहता है । जगत् और जीवन के नाना पक्षों को लेकर प्रकृत काव्य भी चलेगा और कथा-साहित्य भी । एक भाव-व्यंजना को प्रधान रखेगा, दूसरा घटनाओं के संचरण द्वारा विविध परिस्थितियों की उद्भावना को । कथा-साहित्य (उपन्यास), न जाने, कितनी ऐसी परिस्थितियाँ लाते हैं, जो काव्य-धारा के लिए प्रकृत मार्ग खोलती हैं । कथा-साहित्य का विवरणात्मक विधान, अपनी विशेषताओं के कारण, अन्य विवरणात्मक रूपों से एकदम भिन्न है ।

घटनाओं और चरित्रों का विवरणात्मक विधान होने के कारण इतिहास भी कथा-साहित्य की कोटि में आ सकता है, किंतु इन दोनों में मौलिक विभेद है । इतिहास यथार्थ व्यक्तियों के वास्तविक व्यापार का यथानुरूप उल्लेख करके घटनाओं के चित्रण में यथार्थता लाने का उपक्रम करता है, जब कि कथा-साहित्य में देश-काल और पात्र के साथ-साथ घटनाओं का चित्र भी कलात्मक रूप से अंकित किया जाता है । कथा-साहित्य में घटना यद्यपि सत्य रहती है, किंतु इस सत्यता का अभिप्राय उसके मूल में निहित मानव-प्रकृति और तज्जन्य व्यापार का वास्तविक रूप है । कथा-साहित्य की घटना के सत्य होने पर भी उसके नाम कल्पित हो सकते हैं, किंतु इतिहास में ऐसा नहीं हो सकता । ऐतिहासिकता की रक्षा के लिए घटना तथा नाम, दोनों ही सत्य रहने चाहिए । इतिहास की भी अपनी विशेषता रहती है और उसके चित्रण में लेखक को नैपुण्य का प्रयोग करना पड़ता है, नहीं तो उसे पढ़कर किसी को कुछ आनंद ही नहीं आ सकता । घटनाओं की एक लंबी सूची तैयार कर लेने अथवा युद्ध और देश-विजय की क्रमबद्ध तालिका प्रस्तुत कर देने ही से इतिहास नहीं बन जाता, बल्कि उसका भी उद्देश्य जीवन के विविध अंगों की प्रगति दिखलाना है, किंतु यह प्रगति देश, काल और पात्र की यथार्थता

का परित्याग नहीं कर सकती।^१ कथा-साहित्य जीवन को इसी प्रगति को ग्रहण कर कल्पित नामों से इसे सबके समक्ष उपस्थित करता है। इसलिए कथा-साहित्य को केवल 'प्रकृत-सत्य' की रक्षा करनी पड़ती है। 'भूठ बोलने से मनुष्य को बड़ी हानि उठानी पड़ती है,' यह एक प्रकृत सत्य है। इसी प्रकृत सत्य के प्रतिपादन में कल्पित देश, काल और पात्र को अवतीर्ण करा कर जो एक विवरणात्मक विधान प्रस्तुत किया जायगा, वह इतिहास को प्रामाणिकता के अभाव में भी सत्य माना जायगा। भूठ बोलने से जिस व्यक्ति को जो हानि उठानी पड़ी हो, इतिहास उसके वर्णन में उसी व्यक्ति और उसी हानि का रूप प्रदर्शित करेगा, किंतु कथा-साहित्य उसके आधार पर अनेक ऐसे व्यक्तियों और हानियों की परिकल्पना करेगा, जो कभी हुई ही नहीं हैं—जो इतिहास-सिद्ध नहीं हैं। इस दृष्टि से, ऐसा ही मालूम पड़ता है कि इतिहास सत्य है और कथा-साहित्य असत्य। किंतु वैसी बात नहीं है। सत्य का यथार्थ प्रत्यक्षीकरण जैसा कथा-साहित्य में हो सकता है वैसा इतिहास में नहीं। कारण, इतिहास की विवृति सत्य की रक्षा कर ही नहीं सकती। एक ही व्यक्ति के चरित्र या एक ही घटना की विवृति में, सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक विचारों के अनुसार, इतिहास के लेखक अपने-अपने दृष्टिकोण से विभिन्न रूप अंकित करते हैं। शिवाजी को अंगरेज इतिहासकार लुटेरा कहते और भारतीय बोर-शिरोमणि कह रहे हैं। वर्णन-विधान में, एक व्यक्ति से दूसरे और उससे तीसरे, इस भाँति अनेक व्यक्तियों तक जाते-जाते घटना अपनी यथार्थता को इस भाँति विकृत कर लेती है कि उसकी वास्तविकता अस्थिर हो जाती और जो जिस भाँति चाहता है, उसको अपने विचार के अनुरूप बना लेता है। कथा-साहित्य की घटना इस भाँति विकृत होकर उपस्थित नहीं की जाती। वह अपनी नवीनता को अजुगुण रखती है। ऐतिहासिक व्यक्ति अपने व्यापार में प्रत्यक्ष बोर होते हुए भी भीतर से कायर हो सकते हैं, पुर्यात्मा के शरीर में पापात्मा का निवास हो सकता है, किंतु साहित्य में यह संभव नहीं है। वहाँ तो मानव-प्रकृति के ही व्याकरण से घटनाएँ उपस्थित होती हैं। इसलिए, जीवन और उसके व्यापार में असंगति हो नहीं सकती। यही कारण है कि बहुत लोग कहते हैं कि 'इतिहास में सब कुछ यथार्थ होते हुए भी वह असत्य है और कथा-साहित्य में सब कुछ काल्पनिक होते हुए भी वह सत्य है।'

इतिहास और कथा-साहित्य के प्रभाव भी भिन्न रूप में होते हैं। इतिहास में घटनाओं का नग्न रूप वर्णित होने के कारण हत्या, संग्राम, बंधुविग्रह प्रभृति व्यापार मानव-रुचि का परिष्कार नहीं करके उसपर जीवन के स्वार्थपूर्ण भाग का ही विशेष प्रभाव छोड़ते हैं। ऐतिहासिक व्यापारों से जितना आनंद नहीं होता, उतनी ग्लानि होती है। आनंद की अनुभूति नहीं होने से मानना होगा कि सत्य की रक्षा नहीं हुई है। और, जहाँ सत्य नहीं है, वहाँ सुंदरता का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। कथा-साहित्य में ऐसी घटनाओं का उल्लेख होता भी है, तो उनकी यथार्थता के निरूपण के लिए नहीं, बल्कि उनके बीच और उनके

**इतिहास और कथा-
साहित्य के भिन्न-
भिन्न प्रभाव के
कारण**

1. History, so long as it copies science and deals with abstraction remains outside the domain of literature. But as a narration of facts it takes its place by the side of the epic poem. —Rabi Babu, --What is Art ?

परिणामस्वरूप जीवन के किसी ऐसे लक्ष्य की सिद्धि के लिए जो आनन्द-विधायक हो । आनन्द-प्राप्ति का साधन होने ही के कारण कथा-साहित्य, काल्पनिक होते हुए भी, सत्य है ।

ऊपर जिस सत्य का उल्लेख हुआ है उसे मनोवैज्ञानिक सत्य कहा जाता है । मनो-वैज्ञानिक सत्य बाह्य घटनाओं के भीतर सामान्य रूप से होनेवाले उस सिद्धांत का निरूपण है, जो औसत व्यक्तियों के आचार-विचार द्वारा प्रतिपादित होता है । व्यक्ति-विशेष का विचार भ्रामक हो सकता है । कोई एक व्यक्ति अपनी प्रतिभा या योग्यता किसी बात को विशेष रूप से निरूपित कर सकता है, किंतु वह औसत व्यक्ति के लिए लागू नहीं हो सकता । प्रकृत सत्य एक ही रूप में सबके सामने सदा प्रत्यक्ष होता है । चीनी का स्वाद मीठा है, यह एक प्रकृत-सत्य है । चीनी जब, जहाँ, जिसके द्वारा आस्वादित होगी, वह बराबर मीठी ही रहेगी । बीमारी के कारण चीनी का मीठा नहीं लगना प्राकृतिक व्यापार नहीं माना जा सकता । किंतु पुत्र पिता का आदर करता है, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है, क्योंकि पहले-जैसा (चीनी मीठी होती है के समान) यह सर्वत्र और सर्वदा के लिए निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सब पुत्र पिता का आदर करते ही हैं । ऐसे अनेक पुत्र देखे-सुने गए हैं जिनका आचरण पिता को कष्ट देनेवाला होता है । किंतु औसत पुत्रों के आचरण के देख कर यह निष्कर्ष निकाला गया कि 'पुत्र पिता का आदर करता है' । 'बुरे आदमी भले हो सकते हैं और भले भी बुरे हो सकते हैं'—यह इसलिए एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि ऐसी संभावना औसत बुरे या भले आदमियों के जीवन-व्यापार में निहित रहती है कि संयोग मिलने पर उनके जीवन में सहसा परिवर्तन हो जाता है ।

कथा-साहित्य इसी मनोवैज्ञानिक सत्य को कल्पित पात्रों के जीवन में उतार कर प्रत्यक्ष करता है । जो सत्य है ही, उसको सत्य-रूप में प्रतिष्ठित करने में कोई कलात्मकता नहीं है । जो संभाव्य है उसी का प्रतिपादन कथा-साहित्य का लक्ष्य होना चाहिए । पहले कथा-साहित्य का आदर्श जीवन की बहुरूपता, वैचित्र्य अथवा कुतूहल होता था । अब मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर जीवन की यथार्थ समस्याएँ ही उसका लक्ष्य हैं । इसके लिए जीवन को सत्य-रूप में ही प्रत्यक्ष करना होगा । कहानी हो या उपन्यास, आख्यायिका हो या गल्प, सबमें इसी मनोवैज्ञानिक सत्य को प्रत्यक्ष करके दिखलाना आवश्यक है ।

मनुष्य ही एक ऐसा जीव है जो क्रिया के व्यापार का कर्ता और ज्ञाता, दोनों है । किसी भी कार्य के कर्तृत्व के साथ हममें यह ज्ञान भी रहता है कि कार्य हो रहा है । अन्य जीवों में ऐसा नहीं होता है । इसी कर्ता और ज्ञाता पुरुष का रूप-निरूपण अध्यात्म, दर्शन और साहित्य तीनों का लक्ष्य है । अध्यात्म और दर्शन द्वारा

कथा-साहित्य में जीवन-दर्शन उक्त निरूपण में सरसता नहीं आती, इसलिए साहित्य की आनन्दमय—रसमय—पद्धति का सहारा लिया जाता है । साहित्य में जीवन की ही अभिव्यक्ति होती है । कथा-साहित्य मानव जीवन को अभिव्यक्त करने में बड़ा सफल रहता है । कारण, कथा में वर्णित चरित्रों के साथ हमारे हृदय का स्वाभाविक और प्रत्यक्ष मेल हो जाता है । स्थूल शरीर की रुकावट रहने के कारण बाह्य जगत् में एक व्यक्ति

का दूसरे व्यक्ति के साथ हृदयगत मिलाप में बड़ी कठिनाई होती है। किंतु कथा-साहित्य में वर्णित पात्रों के साथ मिलाप में उनके शारीरिक अंतराय की कोई रुकावट नहीं है। अपने निकट-से-निकट मित्र या संबंधी के सुख-दुःख को देखने के लिए हमको उनके पास तक जाने का कष्ट उठाना पड़ता है, किंतु कथा-साहित्य के पात्र सूक्ष्म रूप से स्वयं हमारे हृदय में प्रवेश कर ऐसी एकता स्थापित कर लेते हैं कि उनके सुख-दुःख में हम बैठे-बैठे हँसने-रौने लगते हैं।

कथा-साहित्य में पात्रों का जीवन यद्यपि व्यष्टिगत रहता है, फिर भी उसका विधान समष्टिगत जीवन के आधार पर किया जाता है। समाज का जैसा रूप रहता है, उसी के अनुसार एक या अनेक व्यक्तियों का चित्र कल्पित कर कथाओं में गुंफित कर दिया जाता है। ऐसे व्यक्तियों के चरित्र से समाज की तात्कालीन दशा पर प्रकाश पड़ता रहता है। इसलिए कथा-साहित्य को इस दिशा में बड़ी सावधानी रखने की आवश्यकता है कि जीवन का चित्र इस भाँति अंकित किया जाय जिससे लोगों की कोमल और पवित्र भावनाओं को प्रोत्साहन मिले। यथार्थ, में मनुष्य न देवता है, न राजस। सामान्य मानवता की प्रतिष्ठा के लिए कथा-साहित्य जीवन के असुरत्व को दबा कर उसे देवत्व की ओर अभिमुख करता है। इसी का नाम साहित्यिक मनोरंजन है। इसके द्वारा, मनुष्य में जो न्याय, दया, सेवा, उपकार आदि के भाव दबे रहते हैं, वे जाग्रत हो जाते और मानवता अपने स्थान पर दृढ़ हो जाती है।

कथा-साहित्य में मानव की अंतःप्रकृति या शील का उद्घाटन करने के लिए पात्रों में ऐसी विशेषता रहनी चाहिए कि पाठक या श्रोता को वे परिचित-से लगें। यदि कहानी या उपन्यास के पात्र ऐसे हों जिनके आचरण और व्यवहार के साथ हमारे हृदय की संवेदना का सामंजस्य नहीं हो तो कथा-साहित्य का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता है। इसलिए कथा-साहित्य के पात्रों की व्यक्तिगत विशेषता होनी चाहिए, जो वर्गगत या समष्टिगत विशेषता से भिन्न हो। यह काम पात्रों के शील की उद्भावना से ही हो सकता है। शील-वैचित्र्य के द्वारा कथा-साहित्य के पात्र हमारे हृदय पर स्थाई प्रभाव छोड़ जाते हैं।

कथा-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसके वर्णन-विधान में लघुता और गतिवेग का निर्वाह है। शिथिलता उसका सबसे बड़ा दोष है। यदि किसी कहानी या उपन्यास को पढ़ने के समय पाठक का जी ऊब जाय और वह थकान प्रतीत करने लगे तो उसका संपूर्ण सौंदर्य ही नष्ट हो जाता है। इसलिए कथावस्तु को घटनाओं के आधार पर इस तरह सजाना पड़ता है कि नई-नई परिस्थितियाँ स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती जायँ। काव्य में जैसे घटनाओं के क्रम के साथ पात्रों के जीवन में अनेक ऐसी बातों का उल्लेख कर दिया जाता है जिनका कथा-वस्तु से कोई संबंध नहीं है, और तब भी वे अप्रासंगिक नहीं समझी जाती, वैसा कथा-साहित्य में नहीं होता है। कथा-साहित्य में प्रत्यक्ष जीवन से संबंध रखनेवाले वर्णन से पृथक् किसी वस्तु का उल्लेख वर्जित है। इसलिए कथानक के प्रवाह में छिप्रता लानी पड़ती है। कथा-साहित्य की सौंदर्य रक्षा और रोचकता के लिए लेखक को सोचना पड़ता है कि वह क्या लिखे और क्या छोड़ दे। कहानी या उपन्यास के पात्रों के जीवन को चित्रित करने में उससे संबंध

रखनेवाली संपूर्ण घटनाओं का उल्लेख न संभव है, न उचित ; इसलिए लेखक को ऐसी ही बातें चुननी पड़ती हैं, जिन्हें जानने के लिए पाठक को स्वाभाविक उत्सुकता रहे। पाठक कल्पना-शील होते हैं। वे पात्रों के जीवन की ऐसी बातें पढ़ना पसंद नहीं करेंगे जिनकी वे यों ही कल्पना कर ले सकते हैं। इसलिए कहा जाता है कि 'कहानी या उपन्यास में पाठक की कल्पना के लिए जितनी अधिक सामग्री हो, उतनी ही वह रोचक होगी। यदि लेखक आवश्यकता से कम बतलाता है तो कहानी आशयहीन हो जाती है और ज्यादा बतलाता है तो कहानी में मजा नहीं आता।' पात्रों के प्रगल्भ भाषण या उनके व्यर्थ विस्तृत किया-कलाप से बचकर वर्णन में ऐसी प्रभावोत्पादकता रहनी चाहिए जिससे भावों की अभिव्यक्ति आप-ही-आप होती जाय। संक्षिप्त वर्णन और संकेतिक व्यापार से जितनी मार्मिकता उत्पन्न की जा सकती है उतनी लंबी विवृति अथवा अभिव्यक्त व्यापार से नहीं। किसी परित्यक्ता नारी को देखकर, किसी कहानी या उपन्यास में यदि कोई व्यक्ति उससे पूछे कि 'तुम्हारे इस कष्ट का क्या कारण है,' और उत्तर में वह अपने विगत जीवन का एक लंबा-चौड़ा वर्णन करने लगे तो उसका प्रभाव जितना पड़ेगा उससे कहीं अधिक प्रभाव इस छोटे-से वाक्य से पड़ सकता है कि 'अपना-अपना भाग्य है'। कथा-साहित्य का तात्पर्य हृदय पर सीधे और प्रत्यक्ष प्रभाव को उपस्थित करना रहता है, इसलिए वर्णन में लघुता और गतिवेग द्वारा पात्रों के संभाषण और किया-कलाप में विशेष मार्मिकता उत्पन्न की जाती है।

कथा-साहित्य की प्रवृत्ति : आरंभ और विकास

मनुष्य की परापेक्षित प्रवृत्तियों इतनी प्रभावशाली होती हैं कि वे अपनी एकांत सीमा में सीमित नहीं रह सकतीं और अपने विस्तार तथा प्रसार में सारे संसार को समेट लेना चाहती हैं। इस विस्तार की व्याकुलता ही से कथा-साहित्य की सृष्टि होती है। सृष्टि के विकास में जब मानव को संख्या बढ़ कर उसका समाज बन गया और लोगों ने साथ रहना सीखा तब एक की बीती हुई बातों को दूसरे के निकट कहने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति जाग्रत हुई होगी। आज भी हम जब किसी व्यक्ति या वस्तु की बीती हुई साधारण या विशेष बातों को देखते-सुनते हैं, तब उन्हें दूसरों को सुनाने के लिए उत्सुक हो जाते हैं। यह कहने-सुनने की उत्सुकता और जिज्ञासा मानव-प्रकृति का एक रूप है। हमारा अपना अतीत भी हमारे निकट अन्य-सा हो जाता है और उसकी भी चर्चा करने में हमको आनंद आता है। यही अतीत का संबंध कथा-साहित्य की प्रवृत्ति के मूल में है। अतीत हमारे निकट शुद्ध भावना के रूप में रहता है और उसके साथ अपने संबंध की स्थिरता के लिए हम अभिव्यक्ति के रूप में उसे दूसरों के निकट रखते हैं। यह अतीत का संबंध-सूत्र भौति-भौति की घटनाओं को जीवन के साथ ऐसा मिला देता है कि हममें उनके समाधान की एक स्वाभाविक जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है

**कथा-साहित्य की
प्रवृत्ति-अतीत का
संबंध**

और उनको तर्क-वितर्क, बढ़ाव-घटाव तथा शंका-समाधान के पक्ष से आगे ले जाते हुए हम स्वयं उलझते-सुलझते रहते हैं। समाज के बिना ऐसी घटनाओं का आवर्तन-विवर्तन संभव नहीं है ; इसलिए, कथा-साहित्य का मूलाधार मनुष्य का समष्टि-गत जीवन है। समाज के साथ मनुष्य के व्यक्तित्व

का ग्राहकतत्त्व उसे समष्टि के साथ इस भौति संयुक्त रखता है कि किसी भी घटना में उसको सर्वगत जीवन की परिचालना का विश्वास होता है, प्रत्युत जिससे उसका परिचय नहीं होता।

उससे उसको परिचित कराने का प्रयत्न करता है। छोटी-से-छोटी घटना में भी जीवन की अविच्छिन्नता का आभास उसे हृदय की वस्तु बना देता है और तभी उसका कथन साहित्य के क्षेत्र में आ जाता है।

कथा-साहित्य के लिए घटनाओं की तुच्छता या विशालता उसकी उत्कृष्टता की परिचायिका नहीं है। छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी घटना कथा-साहित्य का आधार हो सकती है। किसी के देखने से, किसी के सुनने से, स्वप्न से, चित्र से घटना का कम स्थिर हो जाता है। डिकेंस (Dickens) का 'पिकनिक पेयर्स' इसका उदाहरण है। 'पिक' नाम एक शिकरम गाड़ी के मुसाफिरों की जवान से डिकेंस ने सुना और उसी नाम के अनुरूप चरित्र, आकार, वेश आदि की रचना करके उसका विवरणात्मक रूप तैयार कर दिया। 'रंगभूमि' का बीजाकुर एक अंधे भिखारी में पाया जाता है। जब जीवन और जगत् के मार्मिक पक्ष को ग्रहण कर मनुष्य का आत्मबोध उस स्थिति में नहीं था कि अपने अस्तित्व के ज्ञान के साथ उसकी अभिव्यक्ति को वह अपना पुरुषार्थ मानता तब केवल मनोरंजन या कौतुक को सृष्टि के लिए लोग कथा-कहानियाँ कहा करते थे। ऐसी कथाओं में आनंद से अधिक विस्मय-तत्त्व रहता था और उनका क्षेत्र वास्तविक जगत्

कथा परंपरा में विस्मय, जिज्ञासा और उत्सुकता

नहीं होकर कल्पना का संसार हुआ करता था। पशु-पत्नी या नदी-पर्वत में मानव-व्यापार का आरोप करके उनके द्वारा विचित्रतापूर्ण घटनाओं का संपादन वर्णित होता था। पढ़ने-लिखने की बात तब तक लोगों को ज्ञात नहीं हो सकी थी और केवल सुनकर ही सब कोई अपनी जिज्ञासा की तृप्ति किया करते थे। संसार के सबसे प्रचीन ग्रंथ वेद का 'श्रुति' नाम कथा-साहित्य के इस तत्त्व की पुष्टि करता है कि एक से दूसरे ने सुनकर ही 'कथा' या वर्णन के रूप में उसकी रक्षा की। यद्यपि संपूर्ण वेद, आध्यात्मिक तथा दार्शनिक विवेचन का भंडार होने के कारण, कथा-साहित्य के क्षेत्र में नहीं आ सकता, फिर भी विविध तत्त्वों के प्रतिपादन में वर्णनात्मक विधान का आश्रय लेकर अपने भीतर वह एक ऐसा पक्ष रख देता है जहाँ हम कथा का बीज पा सकते हैं। उसके बाद औपनिषदिक साहित्य में तो अनेक कथाएँ हैं। कठोपनिषद् यम और नचिकेता के आख्यान से ही भरा हुआ है। बृहदारण्यकोपनिषद् में अनेक कथात्मक संवाद हैं। प्रश्नोपनिषद् में भी कथाएँ हैं और इस तरह उपनिषदों के अध्ययन से कथाओं के विविध रूपों का बहुत कुछ दिग्दर्शन हो जाता है। पुराण, महाभारत आदि तो कहानियों के भंडार हैं। आदि-कवि वाल्मीकि ने कुश और लव को रामायण की संपूर्ण कथा कह दी थी। महाभारत और उसके बाद बौद्ध-जातकों में अग्रणी कथाएँ हैं। इस भाँति देखा जाता है कि चाहे नीति के रूप में हो, तात्त्विक विवेचन के रूप में हो, वीर वृत्तांत के रूप में हो या आनंद-विधान के रूप में हो, आदिम काल से ही अपनी जिज्ञासा और उत्सुकता की तृप्ति के लिए मनुष्य कथा-परंपरा को अपनाते आया है।

आर्य-भाषा का प्रारंभिक कथा-साहित्य तीन कोटियों में बाँटा जा सकता है। पहली में कौतुक-कथाएँ हैं। इसमें देव, दानव, मनुष्य, पशु-पत्नी, नदी-पर्वत, सब एक समान मानव-आचरण करते देखे जाते हैं। सब एक तरह की भाषा का व्यवहार करते और मालूम होता है सबको एक-दूसरे से शारीरिक संबंध है। वैतालपंचविंशति, सिंहासनद्वान्विशति

आदि ऐसी ही कथाएँ हैं। इन कथाओं के द्वारा किसी-न-किसी उपदेश का संकेत मिलता है किंतु कथा के कुतूहलपूर्ण रूप-विधान में वह उपदेश प्रच्छन्न-सा रहता है। लोग उन्हें केवल वर्णन के ही रूप में लेते हैं। दूसरी में नीति-कथाएँ हैं। ऐसी कथाओं में स्पष्ट रूप से नीति के आदर्शों का समावेश रहता है। पशु-पक्षियों की कहानी के द्वारा किसी-न-किसी नैतिक तथ्य को हृदयंगम कराना ही इनका उद्देश्य रहता है। पंचतंत्र, हितोपदेश आदि में ऐसी ही कथाएँ हैं। अंगरेजी में 'ईसॉप फेबुल्स' नाम से ऐसी लघु कहानियों का एक सुंदर संग्रह है। तीसरी में जीवन वृत्तांत है। इसमें महान् आत्माओं के एक या अनेक जन्मों की शुभ कृतियों का वर्णन रहता है। जैन-गाथाएँ और जातक-कथाएँ इसी कोटि की हैं।^१ ऐसे कथा-साहित्य में हम सामान्य मानवता के स्तर पर संवेदनश्रुतियों के तीव्र या शिथिल होने का साधन नहीं पाते। हमारे लिए कथाएँ केवल कौतुक, विस्मय या सम्मान की वस्तु रहती हैं। उपदेश का तत्त्व उनमें अवश्य किसी-न-किसी रूप में निहित रहता है, किंतु घटना-वैचित्र्य और जीवन-व्यापार की विचित्रता की चका-चाँद में नीति या उपदेश-तत्त्व दबा-सा रहता है। इन्हीं कथाओं के आधार पर हिंदी में कथा-साहित्य का आरंभ देखा जाता है। ये ही कथाएँ हिंदी में अनुवाद रूप से पहले-पहल हमारे सामने आईं और एक समय में इनका बड़ा सत्कार हुआ।

अब तक का कथा-साहित्य संपूर्ण रूप से विषय-प्रधान था। इसका आधार कोई-न-कोई बाहरी वस्तु है। इस वस्तु की विशेषता ने ही हृदय के भावों को अपनी ओर खींच कर अभिव्यक्ति का पथ ग्रहण किया है। वर्णन में कलात्मकता का समावेश नहीं हो सका।

साहित्य का आभ्यंतर तत्त्व अब तक प्रकट नहीं हो सका है। हमारे लिए विचित्रताओं से भरा एक बाह्य संसार है, और हम विविध रूपों से उसको देख कर आनंद या विस्मय प्राप्त करते हैं। कथा-साहित्य के इस प्रथम उत्थान में हमारी भावनाएँ बाह्यमुखी हैं; हमारा जीवन असंबद्ध है और हमारी संवेदना यथार्थ मानवता के निकट अपना रूप नहीं दिखला सकी है। इसके बाद द्वितीय उत्थान में कथा-साहित्य का वह रूप हमें दिखाई पड़ता है जहाँ कला का प्रवेश हो गया है। अब तक अधिक-से-अधिक व्यक्तित्व के विकास में ही कला का थोड़ा बहुत आभास मिलता था; यद्यपि ऐसे व्यक्तित्व में यथार्थ जीवन का समावेश नहीं हो सका था; क्योंकि उसमें कल्पना-तत्त्व और वैचित्र्य की ही प्रधानता थी। अब बाह्य-वस्तु के साथ कलाकार अपनी भावनाओं को अंतर्मुखी करके तज्जन्य वेदना को अभिव्यक्त करने की दिशा में आगे बढ़ने लगे। बाह्य विषय गौण हो गया और उसके आधार पर खड़ी भावना प्रधान हो गई। उस भावना ने हृदय में जो संविति उत्पन्न की, उसके संस्थापन के लिए ही बाह्य विषय का अवलंबन लिया गया, अन्यथा उसकी कोई उपयोगिता नहीं रही। कथा-साहित्य की धारा यहाँ दो दिशाओं में बहने लगी। एक में जीवन के यथार्थ रूप का चित्रण रहता था, दूसरे में आदर्श रूप का। पश्चिमी सभ्यता के संसर्ग से सामाजिक जीवन में जो बहुरूपता आ गई, उसने जनता के भावों और विचारों को विशेष रूप से प्रभावित किया। अब जीवन का

रूप कुछ जटिल हो चला, इसलिए प्रतिदिन की घटनाओं में जो नवीनता और विचित्रता दिखलाई पड़ी उसीको कथा-साहित्य के रूप में रखा जाने लगा। राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक उलटफेर ने भावना को वास्तविकता से परिचित कराया और एक प्रकार की कहानियाँ उसी के आधार पर खड़ी हुईं। दूसरे प्रकार की वे कहानियाँ हैं, जिनमें कलाकार ने कल्पना का अंचल छोड़ा नहीं और वास्तविक जगत् का व्यापार देखते-सुनते भी जीवन के आदर्श की रक्षा में उनका नया-नया रूप सजाया। इस उत्थान में लेखकों ने जीवन के चिरंतन सत्य को अपनी रचनाओं में प्रत्यक्ष किया और कला को चैतन्य प्राप्त हुआ। दैवी घटनाओं और संयोग का समावेश कम होने लगा और जहाँ पहले, प्रत्येक बात में, जीवन किसी दृष्ट शक्ति का यंत्र बना रहता था वहाँ अब उसमें पुरुषार्थ दिखलाया जाने लगा। कथानक के विकास में मानवी भावनाओं और मनोविकारों का मनोवैज्ञानिक रूप प्रतिष्ठित हुआ और कथा-साहित्य हमारे जीवन के अधिक निकट आया।

तृतीय उत्थान में, जिसके बीच से कथा-साहित्य आज चल रहा है, कलात्मकता का पूर्ण विकास हुआ और अब भावनाएँ ही प्रधान हो गईं। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से कथा-साहित्य का कलापक्ष जिस भौति उन्नत हो रहा है, उसमें दैवी घटनाओं और संयोगों का कोई स्थान ही नहीं रहा। द्वितीय उत्थान में अति नाटकीय प्रसंगों की जो थोड़ी-बहुत चर्चा रहती थी, उसका भी लोप हो गया और अब कथा-साहित्य में जीवन का वह रूप स्थिर किया जाने लगा जहाँ मनुष्य के मस्तिष्क और मन का व्यापार उसे वास्तविक जगत् में रखकर एक निर्दिष्ट आदर्श की रक्षा में सहायक होता है।

उपन्यास के सामान्य लक्षण

‘उपन्यास’ शब्द का यौगिक अर्थ है ‘उप’ (निकट, समीप) ‘न्यास’ (रखना) अर्थात् किसी वस्तु को किसी के निकट उपस्थित करना। साहित्य का एक अंग होने के कारण उसका कर्तृत्व अभिव्यक्ति-रूप में ही रहता है; इसलिए, उपन्यास जीवन की ऐसी अभिव्यक्ति में ही सीमित रहेगा जहाँ उसकी अहंता, जगत् के मायात्मक आवरण को फेंक, अपने में ही सिमिट रहने का उपक्रम करती हो, अर्थात् जहाँ जीवन का वास्तविक रूप अपने निकट उपस्थित होता हो। कहा गया है कि ‘नाना-चपिणी माया जब व्यक्ति को अन्य सबके प्रति एक प्रकार से विरोध से उकसा कर उसमें अहं भाव दृढ़ रखने का आयोजन करती है, तब उसके भीतर का गुप्त सच्चिदानंद इस आयोजन को तोड़-फोड़ कर स्वयं प्रतिष्ठित रहने को सतत उत्सुक रहता है। यह द्वंद्व-वस्था ही जीवन की चेष्टा का और उपन्यास का मूल है।’^१ तात्पर्य यह कि उपन्यास में जीवन अपने वास्तविक रूप के निकट उपस्थित होने का प्रयत्न करता है। यही जीवन की स्वरूप प्रतिष्ठा उसका ध्येय है और इसी की ध्वनि ‘उपन्यास’ शब्द से निकलती है। प्रेमचंद ने कहा है कि ‘मेरे उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।’

प्राचीन साहित्य-शास्त्र में यह शब्द प्रसन्न करने के अर्थ में प्रयुक्त होता था।^१ कोई-कोई उपन्यास का यह लक्षण करते हैं कि किसी अर्थ को युक्तियुक्त करना उपन्यास कहलाता है।^२ कथा-साहित्य के क्षेत्र में मानव-चरित्र-चित्रण-रूप किसी विवरणात्मक विधान का अभिप्राय जो उपन्यास शब्द से लिया जाता है वह पश्चिमी साहित्य का उपन्यास का तात्पर्य प्रभाव है। अँगरेजी में उपन्यास के अर्थ में 'नावेल' (Novel) और उसके कला-शब्द प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ है 'नवीन' या 'नूतन'। कल्पना और रमक रूप का विकास भावना के आधार पर (व्यक्तिगत) जीवन को नये रूप से चित्रित करने के कारण ही 'नावेल' नाम दिया गया है।^३ बँगला साहित्य होकर हिंदी में इस शब्द का आगमन जान पड़ता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उपन्यास पश्चिमी साहित्य की ही देन है और हमारे यहाँ इस प्रकार की वस्तु पहले नहीं थी। संस्कृत साहित्य में अनेक ऐसे वर्णन हैं जिनमें उपन्यास-तत्त्वों का संपूर्ण रूप पाया जाता है। कादंबरी में घटनाओं का रूप-विधान, उसका वस्तु-विन्यास तथा भाव-विकास ऐसे अलंकृत और मार्मिक रूप से हुए हैं कि आधुनिक उपन्यासों का कलापक्ष शायद ही उतनी शक्ति के साथ खड़ा हो सकता है। हाँ, वर्तमान उपन्यासों की शैली और रूप-रंग अवश्य पश्चिमी साहित्य के प्रभाव से स्थिर किये गए हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में ऐसे जो ग्रंथ हैं उन्हें 'चरित', 'उपाख्यान', या 'कथा' कहा जाता था। उपन्यास के जीवन-तत्त्व की, जो उसकी प्रेरक शक्ति है, इनमें कमी नहीं है। जैसे भी हो, अब उपन्यास साहित्य का एक प्रधान अंग हो गया है और उसके द्वारा कलात्मकता का नित्य नया विकास हो रहा है।

उपन्यास का मूलाधार साधारणतः कोई कथा या उपाख्यान ही रहता है। ऐसी कथा कल्पना के योग से पात्रों के जीवन से इस भाँति संबद्ध कर दी जाती कि पढ़ने या सुननेवाले को यथार्थ-सी प्रतीति होने लगती है। उपन्यास की सफलता का सबसे बड़ा चिह्न यही है कि उसमें वर्णित जीवन लोगों को परिचित-सा लगे, उसको पढ़कर पाठक ऐसा सोचने लगे कि इस तरह की बातें हमने देखी हैं। यथार्थ में तो किसी भी कथा के मूल में मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति का उद्घाटन करना होता है। प्रेम के निर्वाह में जीवन का उत्सर्ग, क्रोध के आवेश में किसी का घात, लोभ के फेर में न्याय का निरादर प्रभृति मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति के परिचायक हैं। 'मनोभावों के विभिन्न रूपों और भिन्न-भिन्न दिशाओं में उनका विकास उपन्यास के मुख्य विषय हैं। ऐसा व्यापार सर्वदा सत्य और स्थिर है। इन्हीं तत्त्वों को कथा में समाविष्ट कर विभिन्न पात्रों के जीवन-व्यापार द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। उपन्यास और साधारण कथा में यही भेद है कि कथा में केवल कल्पना का कौतुक और घटनाओं का चमत्कार रहता है। उससे हृदय में केवल कुतूहल और जिज्ञासा उत्पन्न होती, संवेदना तीव्र नहीं होती है। उपन्यास साधारण कथा का ऐसा सुसज्जित रूप है, जिससे केवल कुतूहल, जिज्ञासा या आनंद ही नहीं होता, बल्कि पात्रों के जीवन से तादात्म्य की प्रतीति होने लगती है। उपन्यास के पात्र हमारे हृदय की संवेदना के इतने निकट आ जाते

१. उपन्यासः प्रसादनम्—साहित्य-दर्पण

२. 'केचित्तु उपपत्तिं कृतोद्यर्थं उपन्यासः स कीर्तितः इतिवदन्ति—साहित्य-दर्पण

हैं कि उनके सुख-दुःख में हम आत्म-भाव को डुबा देते हैं—हमारा हृदय पात्रों के जीवन का अंग हो जाता है। यदि किसी कथा को सुनकर हम केवल हँस दें या वाह-वाह करने लगे तो समझना चाहिए कि हमारे जीवन के मार्मिक अंश को धूने में वह सफल नहीं हुई है। उपन्यास पढ़ते हुए हमारी संवेदना ऐसी क्रियाशील हो जानी चाहिए कि पात्रों के जीवन-व्यापार के साथ हमारी आत्मसत्ता अभिन्न हो जाय। उपन्यास में पात्रों की आत्माभिव्यक्ति उनके क्रिया-कलाप तथा घटनाओं के विन्यास द्वारा ही होती है, इसलिए घटनाओं की सजा-वट और पात्रों के व्यापार इस भाँति हों कि पढ़नेवाले के हृदय पर उसका स्वाभाविक प्रभाव पड़े और भावों का स्रोत आप-ही-आप उमड़ने लगे। एक शब्द में, उपन्यास मानव-चरित्र पर प्रकाश डालकर उसके रहस्य को खोलनेवाला ऐसा वर्णनात्मक विधान है जिससे पाठक या श्रोता प्रभावित होकर जीवन के यथार्थ रूप को समझ सके।

मानव-चरित्र का चित्र होने के कारण उपन्यास को कथा-साहित्य के अन्य अंगों से निकट संबंध रहता है। यों तो पात्रगत चरित्र की भिन्नता और मनोभावों के रूप-भेद के कारण सब उपन्यासों में एकरूपता स्थिर नहीं की जा सकती, फिर भी नाटक तथा कथा-साहित्य के अन्य अंगों के साथ इसकी समानता उस जगह स्थिर रहती है जहाँ जीवन की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभाने का उद्देश्य है। साहित्य मात्र का उद्देश्य ईर्ष्या, प्रेम, भक्ति, विराग, दुःख, लज्जा प्रभृति मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का विकास इस रूप से दिखाना है जिससे सद्भावों का संचार हो और हमारा सोया मनुष्यत्व जाग पड़े। इस दिशा में उपन्यास और कथा-कहानी, नाटक तथा अन्य काव्य समान रूप से आगे बढ़ते हैं। उपन्यास और नाटक में प्रधान अंतर दोनों में वर्णित जीवन के रूप-विधान में है। उपन्यास में वर्णित (चित्रित) जीवन एक मित्र या साथी का जीवन है जिसके बहुत बड़े भाग को हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं। उसमें गोपनीयता या संकीर्णता नहीं रहती। हम उसके पात्र को खाते-पीते, उठते-बैठते, हँसते-रोते या जीवन का कोई भी व्यापार करते देख-देख ऐसी आत्मीयता जोड़े रहते हैं जो हमको अलग होने का बहुत कम अवसर देती है, किंतु नाटक का जीवन एक अतिथि या अल्प परिचित व्यक्ति का जीवन है जिसके

उपन्यास और नाटक

संपूर्ण-व्यापारों के देखने-सुनने का न अधिकार रहता है और न सुविधा; किंतु उस थोड़े से संपर्क से ही उसके जीवन की बारीकियों का पता लग जाता है। मनुष्य का कोई एक ही काम उसके संपूर्ण जीवन का दिग्दर्शन करा दे सकता है। नाटक में यही बात रहती है। इसलिए नाटक में अवतीर्ण जीवन का रूप ऐसा होना चाहिए कि उसके थोड़े-से कार्य-कलाप को देखकर ही उसके संपूर्ण जीवन के क्रम का पता लग जाय। यदि कोई अपने भाई से शत्रुता या विरोध करता है तो नाटक में उसके दिन-प्रति-दिन के कार्यों को दिखलाने से उसका उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा। उसके लिए तो किसी समय ऐसा कहला देना कि 'अच्छा, मैं देखता हूँ कि वह कैसे सुख से रहता है, यदि उसको सड़क का भिखारी नहीं बना दिया तो मेरा नाम नहीं', यथेष्ट है। इस विरोध-भावना के चलते उस व्यक्ति के दो-चार कार्य ही जैसे, एक दिन अपने भाई का रुपया लुटवा लेना, दूसरे दिन महाजन से उसकी जमीन नीलाम करा देना, फिर किसी दिन उसके खेतों को चरवा देना, प्रत्यक्ष दिखला देना होता है। इन थोड़े से कार्यों से ही उसके जीवन का संपूर्ण आभास मिल जाता है। किंतु उपन्यास का ढंग दूसरा है। जीवन का दर्शन तो वहाँ भी

कुछ बँधकर ही होता, किंतु व्यापार की शृंखला अधिक संबद्ध और दीर्घ होती है। एक कार्य से दूसरे कार्य तक कोई रिक्तता नहीं रहती और उनका पूर्वापर संबंध पूर्णतः प्रत्यक्ष रहता है। उपन्यास में लेखक पात्रों के जीवन-व्यापार के साथ प्रत्यक्ष विराजमान रहता है और उसको इधर-उधर मोड़ने या आगे-पीछे ले जाने में स्वयं भाग लेता है ; किंतु नाटक में लेखक किसी भी रूप में प्रकट नहीं हो सकता। वहाँ तो वह जीवन को निर्मित कर उसे आप-ही-आप व्यापार-तत्पर होने के लिए छोड़ देता है। उपन्यास जीवन का परोक्ष विधान है; नाटक प्रत्यक्ष विधान। उपन्यास में घटनाओं की संबद्धता विस्तृत रहती है ; नाटक में चुस्त। इसीलिए, नाटक को साहित्य का सबसे बँधा और उपन्यास को सबसे खुला रूप कहा जाता है।

तात्त्विक दृष्टि से उपन्यास और नाटक प्रायः एक ही से हैं, किंतु दोनों के उद्देश्य-प्रतिपादन में परिस्थितियों की पूर्ण भिन्नता रहती है। कुछ लोग नाटक को कोई स्वतंत्र कला मानते ही नहीं, क्योंकि काव्य-तत्त्व के अतिरिक्त रंगमंच के विधान और अभिनय की सहायता के बिना नाटक पूर्ण रूप से प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकता। उपन्यास के लिए वैसा कोई बंधन नहीं है। उपन्यास का रंगमंच उसी में रहता है। इस भाँति यद्यपि प्रत्यक्ष-दर्शन का संयोग नहीं मिलने के कारण उपन्यास नाटक की अपेक्षा कम प्रभावोत्पादक होता है, किंतु नाटक के प्रतिबंधों से मुक्त होने के कारण वह विषय प्रतिपादन में अपनी अबाधता तथा विस्तार से मानव-हृदय पर स्थाई प्रभाव उत्पन्न कर देता है। उपन्यास में लेखक पात्रों के आचरण और संभाषण में अपनी ओर से बहुत कुछ जोड़ते-तोड़ते उसके उद्देश्य की व्याख्या करता है और इस भाँति नाटक के दर्शन का जो प्रभाव पड़ सकता था उसके अनुरूप जीवन को प्रभावित करने के लिए एक संदेश छोड़ जाता है। एक विशेष अंतर जो नाटक और उपन्यास में है, वह यह है कि उपन्यास विशेषकर कुतूहल-वृत्ति को शांत करता है जब कि नाटक, चूँकि रंगमंच के कारण दर्शकों का चित्त घटना-चक्र में कम जाता है, इसलिए 'रमण' वृत्ति को शांत करता है।

उपन्यास और कहानी

वर्णनात्मक विधान की दृष्टि से उपन्यास और कहानी में विशेष अंतर नहीं है ; किंतु उपन्यास जहाँ संपूर्ण जीवन या उसके बहुत बड़े अंश का चित्र है वहाँ कहानी जीवन के किसी एक अंश का। वर्णन की दीर्घता और लघुता से दोनों का भिन्नत्व प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। बड़ा-से-बड़ा वर्णन कहानी हो सकता है जब कि दस-बीस पन्नों में समाप्त होनेवाला

उपन्यास और कहानी में भेद

वृत्तांत उपन्यास की कोटि में आ सकता है। वर्णन बड़ा हो या छोटा, यथार्थ में देखना है कि वह हृदय की किसी एक ही संवेदना को जाग्रत या तीव्र करता है अथवा अनेक को। यदि किसी वर्णन से हृदय की एक संवेदना उद्दीप्त होती है तो वह बड़ा-से-बड़ा होने पर भी कहानी कहलायगा। इसके विपरीत, यदि कई संवेदनाएँ एक साथ उत्पन्न होकर अपने प्रभाव की अन्विष्टि दिखलाने लगती हैं तो छोटा-से-छोटा वर्णन भी उपन्यास की कोटि में आ जायगा। उपन्यास में जीवन-व्यापार की विभिन्न शृंखलाएँ, जो भिन्न-भिन्न मनोभावों और प्रवृत्तियों को प्रत्यक्ष करती हैं, प्रदर्शित की जाती हैं, जब कि कहानी में संपूर्ण घटनाओं की परिचालना एक ही मनोभाव या हृदय-वृत्ति को सूचित

करनेवाली होती है। जहाँ उपन्यास देश की सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति का दिग्दर्शन कराकर उसमें सुधार या परिवर्तन का सूक्ष्म और स्पष्ट संकेत करता है, वहाँ कहानी उसकी एक भौकी भर करा कर लोगों को केवल उसकी स्थिति की ओर उन्मुख-भर कर देती है। कहानियों द्वारा जीवनगत कोई मार्मिक अनुभूति या तथ्य व्यंजित होता है। जीवन की समस्याओं को सुलझाने में उपन्यास जिस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से भाग ले सकता है उस तरह कहानी नहीं कर सकती। घटना-वैचित्र्य का सुंदर सामंजस्य दोनों को समान रूप से मान्य है। किंतु जहाँ उपन्यास पाठक को बहुत दूर ले जाकर अनेक दृश्यों के बीच लक्ष्य को प्रकट करता है वहाँ कहानी उसे सीधे दिखला कर इधर-उधर भटकने का अवसर नहीं देती। उपन्यास में संवेदनाएँ पात्रों के आचरण और घटनाओं के वैचित्र्य की प्रधानता को स्वीकार करती हुई आगे बढ़ती हैं, किंतु कहानी में संवेदना स्वयं प्रबल होकर पात्र के व्यक्तित्व और घटना-चमत्कार के नीचे दबा देती है। सबसे बढ़कर, उपन्यास में भावों के प्रभाव की अन्विति होती है, जब कि कहानी में एक ही भाव प्रबल होकर अंत तक चला जाता है।

उपन्यास और प्रबंध-काव्य

विषय-विस्तार, घटना-विन्यास तथा उद्देश्य प्रतिपादन की दृष्टि से उपन्यास और प्रबंध-काव्य एक ही कोटि में आ जाते हैं। दोनों में वस्तु-विधान घटनाओं के आधार पर निर्धारित क्रम से आगे बढ़ता है और एक विशेष लक्ष्य की सिद्धि में उसका पर्यवसान हो जाता है। जीवन की विविधता का भाव-पक्ष दोनों में इस भाँति स्पष्ट और क्रमसंगत रहता है कि घटनाओं की भिन्न-रूपता और वर्णन शैली की भिन्नता रहते हुए भी दोनों के परिणाम और प्रभाव समान होते हैं।

दोनों में साम्य
तथा विभेद

दोनों का ही आधार कोई कथा या उपाख्यान है, चाहे वह सत्य हो या कल्पित, जिसके प्रवाह और पूर्वापर संबंध की रक्षा समान रूप से अपेक्षित है। यदि प्रबंध-काव्य में रागात्मक तत्त्व और छंद-विधान की विशेषता नहीं रहती तो दोनों के रूप और विषय-प्रतिपादन में प्रत्यक्ष अंतर नहीं दिखाई पड़ता। किंतु इन समानताओं के रहते हुए भी आदर्श-रक्षा और जीवन-दर्शन की दृष्टि से दोनों एकदम भिन्न हैं। प्रबंध-काव्य का आदर्श साधारणतः महानता को ही परिलक्षित करना होता है। जीवन के सामान्य रूप को प्रत्यक्ष करने का उसमें विशेष आग्रह नहीं रहता। युद्ध या विजय, प्रेम अथवा उत्सर्ग के पथ पर किसी महापुरुष की असाधारण कृतियों का दिग्दर्शन प्रबंध-काव्य का आदर्श रहता आया है। उपन्यास, इसके विपरीत, सामान्य मनुष्य के साधारण कर्तृत्व को ही कलात्मक रूप से सब के सम्मुख उपस्थित करता है। यही कारण है कि प्रबंध-काव्य का जीवन, सुंदर रहते हुए भी, हमसे कुछ दूर रहता है। उपन्यास में जिस तरह पात्रगत जीवन के साथ हम जातीयता स्थापित कर उसके बहुत निकट आ जाते हैं, वैसा प्रबंध-काव्य में नहीं होता है। जीवन-विधान में प्रबंध-काव्य जिस प्रकार कल्पनाओं और विचित्रताओं का अवलंब लेकर हृदय की संवेदनाओं के निकट अवास्तविकता का जाल-सा बिछा देता है उस प्रकार उपन्यास में नहीं। काव्य की शास्त्रीय पद्धति की रक्षा में प्रबंध-काव्य बाह्य उपकरणों के बीच जीवन को अतिरंजित और असाधारण-सा बना देता है। हम उस पर मुग्ध हो जाते, उसकी प्रशंसा करने लगते हैं। किंतु उपन्यास में जीवन का वातावरण हमारे

संसार-जैसा ही होता है, जिसे उसमें किसी प्रकार की अतिरंजना या असामान्यता नहीं आती। हम दूर रहकर उसकी केवल प्रशंसा नहीं करते, बल्कि निकट जाकर उसकी अन्वीक्षा करने लगते हैं। प्रबंध-काव्य में चमत्कार अधिक रहता है, उपन्यास में चमत्कार से बढ़कर यथार्थता रहती है। उपन्यास के प्रथम उत्थान में यद्यपि चंद्रकांता-सरोखे उपन्यासों में तिलिस्मी और ऐय्यारी घटनाओं के ऐसे आश्चर्यजनक दृश्य दिखलाये गए हैं, जिनके समुल्ल 'गोपियों के अश्रु-नद में ब्रज का, वह जाना' और 'महावीर हनुमान का पर्वत हाथ में लेकर उड़ जाना' जैसी घटनाएँ भी फीकी मालूम पड़ती हैं; फिर भी, उपन्यास-साहित्य को वह ग्राह्य नहीं हुआ, और अब उपन्यासों में जीवन की असाधारणता का स्थान ही नहीं रहा। साधारण जीवन में भी नवीनता का अभाव नहीं है और उस नवीनता का दिग्दर्शन ही उपन्यास का लक्ष्य है। प्रबंध-काव्य की सामग्री आदर्श जीवन से संग्रहीत की जाती है, जब कि उपन्यास मनुष्य के यथार्थ जीवन के ही चारों तरफ अपनी सामग्री ढूँढ़ लेता है।

एक और भी अंतर प्रबंध-काव्य और उपन्यास में यह है कि प्रबंध-काव्य अधिकांशतः वर्णनात्मक होते हैं, लेकिन उपन्यास संलापात्मक होते। उपन्यास में कथोपकथन की जितनी सुविधा और प्रसंग रहता है उतना प्रबंध-काव्य में नहीं। प्रबंध-काव्य का संभाषणात्मक प्रसंग अपने गूढ़ार्थ और व्यंग के कारण सब को बुद्धि-ग्राह्य भी नहीं हो सकता। उपन्यास में कथोपकथन अपने प्रकृत रूप में रहता है और उसमें कोई दुरुहता नहीं रहती। प्रबंध-काव्य चरित्र-वर्णन को प्रधानता देता है, उपन्यास घटना-वर्णन को। प्रबंध-काव्य में पात्रों के चलते घटनाओं को स्मरण रखना पड़ता है जब कि उपन्यास में घटनाएँ पात्रों का स्मरण करती रहती हैं। इस भाँति प्रबंध-काव्य और उपन्यास एक ही लक्ष्य तक जाने के दो भिन्न मार्ग हैं।

उपन्यास के मूल तत्त्व

उपन्यास का आरंभ चाहे जिस दृष्टिकोण से हुआ हो, अब उसके जीवन का ऐसा निश्चित और लक्ष्य-गर्भित रूप हो गया है कि उसके छोड़ देने से वह उपन्यास ही नहीं रह सकेगा। उपन्यास साहित्य का वह अंग है जो एक ओर समाज की आभ्यंतरिक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाल कर उनके व्यापार को सबके सम्मुख उपस्थित करता है और दूसरी ओर निम्न-गामी प्रवृत्तियों का दुष्परिणाम दिखला कर कल्याण-पथ पर आरुढ़ और अग्रसर होने के लिए लोगों में नई-नई प्रवृत्तियों पैदा करता है। इसीलिए, मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को सब के निकट प्रत्यक्ष करना उपन्यास का मूल तत्त्व कहा जाता है। समाज में विभिन्न प्रवृत्तियों के लोग रहते हैं। सब के जीवन-क्रम का एक पथ रह नहीं सकता। इसलिए संघर्ष और विभेद रहते आये हैं। इन संघर्षों और विभेदों के चलते समाज में प्रायः चिंत्य और जटिल परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसी परिस्थितियों को सामने लाकर उनके बीच से मानव-जीवन का सरल पथ निर्दिष्ट करना उपन्यास का लक्ष्य होना चाहिए। विषय-विस्तार और परिस्थितियों के प्रत्यक्षीकरण में पात्रों का, विनियोग और घटनाओं का सामंजस्य दिखलाते हुए उपन्यास प्रत्यक्ष रूप से कहानी का, किंतु सूक्ष्म रूप से नाटक का कार्य संपादित करता है। यही कारण है कि उपन्यास को कथा और नाटक के बीच की वस्तु

कहा जाता है। प्रत्येक उपन्यास में उपन्यासकार घटनाओं, पात्रों, मनोवैगों आदि को एक निश्चित उद्देश्य के अनुसार उपस्थित कर सामान्य जीवन का दर्शन कराता है। इसलिए उपन्यास के चार प्रधान तत्त्व हैं—वस्तु, चरित्र-चित्रण, शैली तथा उद्देश्य। इन्हीं चारों तत्त्वों को लेकर उपन्यास अपने अभीष्ट पथ पर आगे बढ़ता है।

उपन्यास की 'वस्तु' उपन्यासकार का वर्णनीय विषय है। यह विषय स्थूल और सूक्ष्म, दोनों ही हो सकता है। लेखक किसी व्यक्ति पदार्थ को सामने रखकर अपनी मनःकल्पित सृष्टि के द्वारा कथा को संघटित करता है, अथवा किसी अव्यक्त पदार्थ की अभिव्यक्ति के लिए कल्पित पात्रों और घटनाओं का विनियोग कर एक स्वतंत्र विषय प्रस्तुत कर लेता है। दोनों ही अवस्थाओं में 'वस्तु' उपन्यासकार की अपनी सृष्टि है। जगत् के यथार्थ पदार्थ को भी उपन्यास की 'वस्तु' बनाने के लिए लेखक अपनी विशेष योजना से काम लेता है। यह योजना और व्यवस्थिति ही 'वस्तु' का जीवन है। वस्तु विवरणात्मक हो सकती, आलोचनात्मक हो सकती अथवा उपदेशात्मक हो सकती है, किंतु प्रत्येक अवस्था में घटनाओं की कुशल-संबद्धता और उनकी स्वाभाविक संघटना होनी चाहिए। वस्तु-योजना के संबंध में स्मरण रखना चाहिए कि उसका विकास स्वाभाविक रूप से हुआ हो और उस विकास के क्रम में जो उपाय काम में लाए गए हैं वे उन परिस्थितियों में विश्वास-जनक प्रतीत हों। इसके लिए लेखक को वर्णनीय विषय का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। जिस विषय का प्रत्यक्ष अनुभव किसी को नहीं है, उसके वर्णन में पूर्ण सचाई का व्यवहार हो नहीं सकता है। मनुष्य की अनुभूतियाँ इतनी अधिक और विस्तृत हैं कि सब को स्मरण रखना और उनका वर्णन करना संभव नहीं है। इसलिए, जिस पर हृदय की संवेदना का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है उसी को स्मरण रखकर उसे चित्रित करना उचित है। यह चित्रण ऐसा हो कि पाठक जब तक उसे पढ़े तब तक वह उसी में मग्न हो जाय और बाह्य जगत् की कोई सत्ता उसके निकट नहीं रहे।

उपन्यास का वस्तु-विधान दो प्रकार का है। एक में उसके विकास-क्रम में घटनाओं की ऐसी संगति होती है कि सब बातें स्वाभाविक-सी मालूम पड़ती हैं। जीवन के प्रकृत-पथ का अनुसरण करते हुए, पात्रों का कार्य-क्रम कथानक को निर्दिष्ट परिणाम की ओर ले जाने में समर्थ होता है और उस प्रगति के पथ पर घटनाएँ क्रम-विहीन और असंभव-सी नहीं मालूम होती हैं। कथानक की प्रकृति से ही आगे की घटनाओं का अनुमान किया जा सकता है और सब बातें परिस्थिति के अनुकूल स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ती हुई अंतिम परिणाम उपस्थित करती हैं। ऐसी कथा-वस्तु को संबद्ध या सजीव कहते हैं। दूसरे प्रकार की वस्तु असंबद्ध या शिथिल कहलाती है। इसमें ऐसी घटनाओं का महाजाल-सा बिछाया रहता है, जो सौष्ठव और अनुक्रम को अपनाये नहीं रहती हैं। इस प्रकार की घटनाओं के आधार पर चित्रित जीवन का विकास पाठकों के अनुमान के अनुकूल नहीं होता और घटनाओं में कोई युक्तिपूर्ण एवं तर्क-संगत संबंध नहीं रहता है। इससे कथानक के विकास में ऐसी विष्ट-खलता और अनिश्चिति-सी हो जाती है कि उसके परिणाम पर पाठकों को कभी-कभी आश्चर्य होने लगता है। कथा-वस्तु का यह रूप रसानुभूति की पूर्ण रक्षा कर नहीं सकता, और उपन्यास को कौतुक का विषय बना

वस्तु-विधान के
दो रूप

देता है। संबद्ध कथा-वस्तु में मनोवैज्ञानिक विश्लेषणा के आधार पर जीवन का स्वाभाविक रूप और उसका परिणाम दिखलाया जाता है, जबकि असंबद्ध कथा-वस्तु में दैवी घटनाओं और विचित्रतापूर्ण संयोगों का समावेश करके उसे एक ऐसी अनिश्चिति पर छोड़ दिया जाता है, जिसके परिणाम में कोई आस्था दृढ़ नहीं रहती।

उपन्यास का सबसे महत्वपूर्ण अंग उसके पात्रों का चरित्र-चित्रण है। इस विषय में मतभेद बना हुआ है कि उपन्यास में घटनाओं का महत्त्व अधिक है या चरित्र-चित्रण का। दोनों विचार वाले अपने-अपने पक्ष के समर्थन में युक्तियाँ उपस्थित करते हैं, किंतु देखा यही जाता है कि पात्रों के चरित्र की क्रियात्मकता का प्रसंग नहीं रहने से घटनाओं में सामंजस्य नहीं रहता और तब वे आनंद से बढ़कर विस्मय या कुतूहल की वस्तु हो जाती हैं। प्रेमचंद ने उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र माना है। चरित्र-चित्रण का अर्थ है प्राकृतिक राग-द्वेष और मनोवेगों के आधार पर उपन्यास के पात्रों का जीवन-व्यापार प्रदर्शित करना। मनुष्य न देवता है, न राक्षस; बल्कि दोनों की प्रकृतियों का प्रयोगशील एक ऐसा जीव है जहाँ देवत्व और असुरत्व की संधि हो जाती है। मनुष्य की यही विशेषता न उसे इतना ऊँचे जाने देती कि वह केवल अलौकिक आदर्श की रक्षा करता रहे, न इतना नीचे जाने देती है कि दुष्प्रवृत्ति का गमन चित्र उपस्थित करे। यही कारण है कि मानव-चरित्र सदा एक रूप में स्थिर नहीं रहता। शिक्षा, संस्कृति, वातावरण तथा परिस्थितियों के प्रभाव से मानव चरित्र में ऐसा परिवर्तन होता रहता है कि जो अच्छा है, वह बुरा हो जा सकता है और जो बुरा है, वह एकदम अच्छा हो जाता है। यह उपन्यास के उद्देश्य पर निर्भर करता है कि चरित्र का विकास किस क्रम से प्रदर्शित किया जाय। यदि परिस्थितियों के प्रभाव से जीवन का उज्ज्वल भाग प्रत्यक्ष करना अभीष्ट है तो पात्रों के चरित्र को क्रमशः उन्नति और सुधार के पथ पर आगे बढ़ाया जायगा और यदि उसका श्याम या अंधकारपूर्ण भाग दिखलाना है तो परिस्थितियों के चलते चरित्र को क्रमशः नीचे की ओर बढ़ता दिखलाया जायगा। किसी भी अवस्था में शक्तिशाली और सुदृढ़ चरित्र का आधार नहीं रहने से उपन्यास में घटनाओं और प्रसंगों का कोई मूल्य नहीं रहेगा।

चरित्र-चित्रण की सफलता का लक्षण है कि पात्रों का जीवन-व्यापार संपूर्ण स्वाभाविक मालूम होता हो, उनमें सजीवता और स्वच्छंदता रहे। ऐसा होने ही से उपन्यास के पात्रों को हम अपने-जैसा ही सब काम करते हुए पायेंगे।

चरित्र-चित्रण

यदि पात्रों का चित्रण इस भाँति हो कि उनमें क्रिया या संकल्प-शक्ति नहीं रहे और वे यंत्र के समान किसी इशारे पर सब काम करते रहें तो उनके साथ हमारी स्वाभाविक सहानुभूति नहीं होगी और उनके सुख-दुख में हमारा हृदय-योग नहीं रहेगा। इस अवस्था में उपन्यास हमारे आनंद का विषय नहीं रहेगा। कुतूहल या जिज्ञासावश हम उसे पढ़ भले ही जायेंगे किंतु पढ़ने के बाद उपन्यासगत पात्रों की कोई स्मृति हमारे मन में नहीं रहेगी।

चरित्र-चित्रण के अंतर्गत ही पात्रों का कथोपकथन अथवा संभाषण है। मनुष्य का परिचय उसके वार्त्तालाप के ढंग से ही मालूम होता है। इसलिए, चरित्र-चित्रण में संभाषण का

समुचित समावेश आवश्यक है। पात्रों की प्रकृति के अनुरूप संभाषण का रूप रहना चाहिए। कथोपकथन ऐसा हो कि पात्रों के मनोभावों को यथार्थ रूप में प्रकट कर सके। जहाँ कथोपकथन का प्रसंग नहीं हो वहाँ जीवन के घात-प्रतिघात

कथोपकथन में बहता हुआ चरित्र पात्रों की प्रकृति के अनुरूप अपनी दुर्बलता या सबलता को प्रदर्शित करे। उपन्यास में जीवन के विकास और संघर्ष का रूप प्रत्यक्ष करना ही आधुनिक विचारकों का मत है; इसलिए, वास्तविकता और सजीवता के आधार पर पात्रों के जीवन-व्यापार को आगे बढ़ाना चाहिए। तात्पर्य यह कि चरित्र, परिस्थितियों और वातावरण के अनुकूल बदलता हुआ, जीवन को क्रमशः विकास के पथ पर ले जानेवाला हो। जहाँ ऐसा नहीं होगा वहाँ उपन्यास में सजीवता और रोचकता नहीं आ सकेगी।

चरित्र-चित्रण के दो रूप हैं—विश्लेषणात्मक (Analytic) और कार्य-कारण-सापेक्ष (Dramatic)। पहले में लेखक पात्रों को निःसंग दृष्टि से देखता है, उनके भावों तथा विचारों का विश्लेषण करता है—किंतु आजकल यही किया जाता है और यही अच्छा भी है कि पात्रों को प्राण-शक्ति से संपन्न करके लेखक उनको जीवन की रंगस्थली में सुख-दुःख से आँख-मिचौनी करने के लिए छोड़ दे। दूसरे में लेखक पात्रों के चरित्र के उत्कर्ष में अपने विचारों की पुट देता है और उनके चरित्र के निर्माण में सहायक होता है।

कथावस्तु की उपपत्ति में पात्रों का विन्यास और घटनाओं का संयोग संघटित करने के लिए लेखक वर्णन-विधान की जिस भिन्न-रूपता को स्वीकार करता है उसे उपन्यास की शैली कहा जाता है। शैली लेखक के व्यक्तित्व की परिचायिका है। किसी विषय के

शैली

संबंध में लेखक का हृदय-योग किस रूप में ग्रहणशील है, यह उसकी वर्णन-प्रणाली से प्रकट हो जाता है। साधारणतः लेखक एक प्रेक्षक या द्रष्टा के रूप में रहकर किसी वस्तु का वर्णन निःसंग भाव से करता है। ऐसे वर्णन में मालुम होता है कि घटनाएँ किसी अदृष्ट योजना के अनुसार आप-ही-आप होती रहती हैं। और, पात्र उस योजना के अनुसार ही उनके शिकार होते रहते हैं। लेखक के लिए इतना ही कार्य है कि वह तटस्थ रहकर उनका अवलोकन करे और जिस भाँति उसका प्रभाव उनके हृदय पर पड़े, उसे व्यक्त कर दे। इसको वर्णनात्मक शैली कहा जा सकता है। उपन्यास-युग के

प्रथम उत्थान में इसी शैली को अपनाया गया था। उस समय तक **वर्णनात्मक शैली** जीवन पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव का परिणाम दिखलाया नहीं गया था। प्रत्येक देश के साहित्य में ऐसा देखा जाता है कि पहले संसार का बाह्य और प्रत्यक्ष रूप ही वर्णन का विषय रहता है। घटनाओं के मूल में किसी अदृष्ट शक्ति का हाथ रहता है और संयोगों की ऐसी योजना रहती है कि मनुष्य केवल प्रेक्षक के रूप में देखता रहे। द्वितीय उत्थान में, जब विचार का विकास हुआ, मनुष्य सोचने लगे कि दैवी घटनाओं और संयोगों को युक्ति और पुरुषार्थ से रोका जा सकता है। मानव-जीवन को एक निरा यंत्र नहीं मानकर उसमें स्वकर्तृत्व का आरोप किया गया। अब देखा गया कि मानव-मस्तिष्क पर देश, काल, वातावरण और परिस्थिति का प्रभाव उसके

भिन्न रूप से सोचने-विचारने का कारण है, और जहाँ मनुष्य पहले जड़-द्रष्टा के रूप में रहते थे वहाँ अब वे विचारक के रूप में भी प्रकट होने लगे । वर्णन में घटना-विधान किसी द्रष्टृ शक्ति का नहीं, बल्कि पात्रों के कर्तव्य और पुरुषार्थ पर अवलंबित होने लगा, इसलिए लेखक कथा-प्रसंग में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को स्थान देने लगा । इस प्रकार के कथानक-विस्तार को आलोचनात्मक कहा जा सकता है । इसमें लेखक ही तो अपनी ओर से, सिद्धांत या विचार के रूप में, बीच-बीच में, पात्रों के चरित्र या घटनाओं के संयोग पर राय देता है, और कहीं पात्रों से ही उसकी आलोचना कराता है । यह शैली उपन्यासगत जीवन को एक सचेतक के रूप में उपस्थित करती है, जिसका प्रभाव अधिक स्थायी और शिक्षाप्रद होता है ।

इस शैली के अंतर्गत ही संभाषणात्मक शैली है, जिसमें चरित्र-चित्रण और कथानक के विस्तार के लिए दो-तीन या अधिक पात्रों के कथोपकथन का रूप रहता है । इस शैली के प्रभाव से ही उपन्यासों में, जहाँ पहले जाति-प्रधान पात्र होते थे, वहाँ अब व्यक्ति-प्रधान होने लगे । अर्थात् पहले पात्रों के चरित्र को एक या दूसरी कोटि में रखकर उसे सामान्य-रूप से नियोजित किया जाता था, किंतु आलोचनात्मक शैली के विकास के बाद चरित्र-चित्रण में व्यक्तित्व की छाप लगने लगी और उसमें विशेषता का आरोप किया जाने लगा ।

उपन्यास में वर्णन विधान की एक शैली उत्तम पुरुषात्मक है । इसमें नायक अथवा नायिका अपनी तथा उपन्यास की पूरी कथा उत्तम पुरुष-मैं, हम—के रूप में वर्णन करती है । जितनी घटनाएँ और प्रसंग आते हैं, सब में अपने कर्तृत्व या भोगित्व का संबंध स्थापित कर नायक इस भाँति उनका वर्णन करता है कि सब उसके अनुभव के अंतर्गत हैं । इसलिए, ऐसे वर्णन में अधिक प्रभावोत्पादकता रहती है । ऐसे उपन्यास में संपूर्ण कथानक नायक या नायिका के जीवन से विशेष संबंध रखता और अन्य पात्रों का चित्रण केवल उसकी पुष्टि के लिए किया जाता है ।

उपन्यास की कथावस्तु को साधारण भाषा में नहीं वर्णित कर कोई-कोई लेखक उसे इस भाँति व्यक्त करते हैं कि संपूर्ण वर्णन एक काव्य हो जाता है । इस प्रकार के उपन्यास को गद्य काव्य कहा जाय तो उचित हो । वर्णन की दुरुहता, गद्य काव्यात्मक भाषा के बाह्य-वैभव, कल्पना की उड़ान, अलंकारों के प्रयोग तथा भावोद्योग की तीव्र रूपता के कारण कथानक असंबद्ध-सा हो जाता है, और घटनाओं का पता नहीं चलता । हृदय की मार्मिक वेदना को व्यक्त करने में पात्र के व्यक्तित्व को असहाय छोड़ दिया जाता है । इस शैली में लेखक, उपन्यासकार से अधिक, कवि के रूप में अपने को प्रदर्शित करता है ।

एक और शैली जो उपन्यासों में अपनाई गई है वह है पत्र या डायरी के रूप में संपूर्ण कथावस्तु को चित्रित करना । संपूर्ण कथानक दो व्यक्तियों के तर्क-वितर्क या आलोचना-

प्रत्यालोचना की वस्तु होकर एक के प्रश्न और दूसरे के उत्तर के रूप में उसका विस्तार होता जाता है। पाठक को सीधे पता नहीं चलता कि पत्रों के भीतर जीवन के किस पत्र या डायरी रूप की व्यंजना है। पत्र में विवेचन या वर्णन से अधिक वार्ता-तत्त्व की शैली रहता है, इसलिए जीवन के तत्त्व को ढूँढ़ने में संपूर्ण पत्रों का पूर्वापर संबंध याद रखना होता है। यह शैली अधिक लोकप्रिय नहीं हुई; यद्यपि जीवन की मार्मिक व्यंजना इस रूप में भी आसानी से की जा सकती है।

साहित्य के अन्य अंगों-जैसा उपन्यास का भी कोई-न-कोई उद्देश्य रहता है। इस उद्देश्य से अभिप्राय कथानक के परिणाम से उत्पन्न होनेवाले प्रभाव के अनुरूप तात्पर्य की ऐसी योजना है, जो लेखक को अपनी चीज है और जिसे अन्य लोगों के सम्मुख उपस्थित करने के लिए कथा के चरित्रों का निर्माण किया जाता है। असल में तो कथा-साहित्य-मात्र का उद्देश्य सामान्य जीवन के सुख-दुःख की अनुभूति को विशेष या व्यक्तिगत जीवन की परिधि के भीतर लाना है। इसके लिए यथार्थ या कल्पित कथा के चरित्रों को ऐसा सजीव, स्वाभाविक और मनोमुग्धकर बना दिया जाता है कि पाठक अपने हृदय-योग से उसे निजत्व की सीमा में ले आता और उन चरित्रों तथा पाठक के मन के बीच कोई व्यवधान नहीं रह जाता है। सामान्य जीवन में जिस तरह व्यक्ति-क्रम रहता—सुख-दुःख, हानि लाभ, हर्ष-शोक आदि का कोई नियम नहीं रहता है—कथा-साहित्य के चरित्रों में उस जीवन को नियमबद्ध और निश्चित परिणाम उपस्थित करनेवाला बना दिया जाता है। इसके लिए उपन्यास में कहीं यथार्थ और कहीं आदर्श के आधार पर सामान्य जीवन की आलोचना करके उसका सुंदर तथे प्राज्ञ रूप स्थिर किया जाता है।

पहले-पहल उपन्यास केवल मनोरंजन के लिए लिखे जाते थे। जीवन के मार्मिक पक्ष का उनमें कोई चित्र नहीं रहता था। अपने अवकाश के समय में जी बहलाने के लिए, अथवा अन्य काम करते हुए थकावट प्रतीत होने पर मन को विश्राम या रंजन देने के लिए लोग उपन्यास पढ़ा करते थे। इसलिए, आरंभ में उसका रूप विचित्रता के दृश्यों मनोरंजन से कला-प्रदर्शन और कल्पना के खेलों से ही भरा रहता था। कथानक में भी अलौकिकता रहती थी और देवता, दानव अथवा मायावी पात्रों के चरित्रांकन से उपन्यास कुतूहल और विस्मय-वृत्ति का ही पोषक होता था। जब जनता की रुचि कुछ परिमार्जित और पुष्ट हुई तब उसमें उपदेश का समावेश होने लगा। किसी सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक विषय को लेकर, उसके परिणाम को दिखलाते हुए, लेखक, कही प्रकट और कहीं गुप्त रूप से, ऐसा विचार प्रकट करने लगा जिससे पाठक को निर्दिष्ट शिक्षा मिले। उपन्यास का यह रूप उसे साहित्य से बढ़कर नीतिग्रंथ की कोटि में ले गया। लोगों ने इसको पसंद नहीं किया और तब उपन्यास का उद्देश्य शुद्ध कला का प्रदर्शन हो गया। ऐसी आवाज उठी कि उपन्यास न इतिहास है, न नीतिग्रंथ; इसलिए, उसमें जीवन की उपयोगिता का कोई प्रवेश नहीं होने देकर केवल कला की रक्षा के लिए उसकी रचना होनी चाहिए। कला को जीवन-पक्ष से शून्य कर देने पर उसका कोई मूल्य नहीं रहता है,

इसलिए ऐसे उपन्यासों का भी समादर नहीं हुआ, जिसमें जीवन की उपयोगिता से रहित केवल कला का प्रदर्शन हुआ है ।

इस भाँति विभिन्न उद्देश्यों को लेकर उपन्यास-रचना का जो क्रम चलता रहा उसमें तब तक स्थिरता नहीं आई जब तक जन-समाज के बीच यथार्थ जीवन की जो जटिल और चित्त परिस्थितियाँ हैं, उनका प्रत्यक्षीकरण नहीं हुआ । उक्त प्रत्यक्षीकरण मानव-हृदयके भावों और अनुभूतियों के चलते ही जनसमाज में जीवन के वैषम्य और उलझनों को सामने लानेवाले उपन्यास लिखे गए । समाज के विभिन्न वर्गों में जो स्वार्थ और भिन्नादर्श-रक्षा की प्रवृत्तियाँ हैं, उपन्यास उनको प्रत्यक्ष रूप से सब के सामने रख ही नहीं देता, बल्कि उनमें सामंजस्य और समानादर्श की प्रतिष्ठा के लिए संकेत भी कर देता है । इस भाँति उपन्यास का उद्देश्य न केवल यथार्थ का नग्न चित्र उपस्थित करना है, न आदर्श की कल्पनात्मक कारीगरी दिखलाना है ; बल्कि दोनों के मेल से एक ऐसा सुलभ, सुंदर और सर्वप्रिय-जीवन-पथ प्रस्तुत करना है जिस पर यथार्थ और आदर्श का मेल हो जाय । एक शब्द में, उपन्यास का उद्देश्य 'मानव हृदय के भावों और अनुभूतियों की व्यंजना करना है ।' उक्त व्यंजना द्वारा पाठक के हृदय में अनंद की वह स्थिति उत्पन्न होती है जो लौकिकता से परे है, जिसमें हर्ष और विषाद समान रूप से मनुष्य को एकरसता की भाँकी दिखाते हैं और जिसमें जीवन निर्वृद्ध और पूर्ण हो जाता है ।

उपन्यास का एक और भी तत्त्व है, देश-काल की अन्विति । वर्तमान समय में यद्यपि इस तत्त्व की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है तथापि इसकी उपयोगिता अस्वीकार नहीं की जा सकती है । देश-काल की अन्विति का अर्थ है उपन्यास में वर्णित स्थान और समय का औचित्यपूर्ण संविधान । घटनाएँ जिस प्रकार विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा घटित होती हैं उसी प्रकार विशिष्ट स्थान और समय में भी । देश-काल का यह संविधान दो प्रकार का होता है—समाजगत और वस्तुगत । किसी विशेष समाज से उपन्यासगत पात्रों का संबंध होता है । उस समाज की रीति-नीति, चाल-ढाल का सम्यक् वर्णन देश, काल और पात्र के अनुसार करना चाहिए । ऐतिहासिक उपन्यासों को सामने रखने से इस तत्त्व के समाजगत वैशिष्ट्य का भली-भाँति पता चल जाता है । क्योंकि यदि उपन्यास में तत्कालीन समाज के आचार-विचार का ठीक-ठीक निरूपण न किया जाय तो उसका उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है । वस्तुगत-वर्णनों के अंतर्गत व्यक्तियों और वस्तुओं का वर्णन आता है और प्रकृति का भी । हिंदी के आधुनिक उपन्यासों में वस्तु और व्यक्तियों का वर्णन तो थोड़ा-बहुत-पाया भी जाता है, किंतु प्रकृति-वर्णन का आभाव होता जा रहा है ।

कुछ लोग रस को भी एक तत्त्व मानते हैं, किंतु साहित्य मात्र का उद्देश्य होने के कारण उसका विशेष समावेश यहाँ समीचीन नहीं है ।

कहानी के तथ्य और उसकी प्रवृत्ति

कहानी भावाभिव्यक्ति की वह रूपयोजना है जिसमें भाषा, चित्र या संकेत के द्वारा मनुष्य अपनी तथा दूसरों की मनोभावनाओं का परिचय, सरल और प्रत्यक्ष रूप से, निर्दिष्ट

जन-समाज के निकट रखता है। आरंभ में जब लिपि-संकेत और वर्णमाला का प्रचार नहीं हुआ था तब लोग अपने मनोभावों को सांकेतिक चित्रों के द्वारा अभिव्यक्त करते थे।

कहानी का आरंभिक रूप भावाभिव्यक्ति का वह चित्र या सांकेतिक रूप एक प्रकार की कहानी है। वाङ्मयक्षेत्र में आने के बाद कहानी कथित या लिखित भाषा-चित्र का वह रूप हो गई जिसमें जीवन की अनुभूतियाँ यथार्थ या कल्पित पात्रों के कार्य-व्यापार द्वारा मार्मिक और मनोरंजक रूप में उपस्थित हुई हों। मनुष्य अपनी बात कहने के लिए जितना व्यग्र और उत्सुक होता है उससे अधिक उत्सुकता और व्यग्रता उसको दूसरों की बात कहने में होती है। यह दूसरा, जल्दरी नहीं है कि, कोई व्यक्ति ही हो। पशु, पत्नी, नदी, पहाड़, वनप्रांतर, शहर, गाँव किसी को देखकर उसके बारे में कुछ कहने का स्वाभाविक आग्रह उत्पन्न हो जाता है। तात्पर्य यह कि अतीत अथवा उसके आधार पर संभाव्य घटनाओं का वर्णन मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है और यही कहानी के मूल में अंतर्हित है।

कहानी का संबंध मानव-हृदय से है। बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक मनुष्य एक ओर तो स्वयं कहानी का विषय बनता जाता, दूसरी ओर अपनी परापेक्षित प्रवृत्ति के द्वारा किसी-न-किसी प्रकार की कहानी सुनने को उत्सुक रहता है। इस प्रवृत्ति के मूल का अनुसंधान करने

कहानी का विषय पर मालूम होता है कि व्यक्त जीवन के आधार-स्वरूप चैतन्य की बहु-प्रकृति और बहुधा-प्रकृति के कारण जीव जन्म-परंपरा से अनंतकाल तक जो असंख्य विषयों का उपभोग करता आया है उसकी चर्चा से उसे स्वाभाविक आनंद होता है। साधारण जीवन में भी देखा जाता है कि हम अपनी बातों को दूसरों के मुख से सुनकर बड़ा प्रसन्न होते हैं। कहानी की किसी भी घटना-संकुलता के साथ जीव का स्वानुभूत संबंध किस प्रकार रहता है, यह एक दार्शनिक विषय है; इसलिए, उसकी चर्चा यहाँ नहीं कर इस बात को स्वीकार करके हमें आगे बढ़ना चाहिए कि कहानी की रोचकता तथा कमनीयता जीवन के प्रारंभ से लेकर अंत तक मनुष्य को बनी रहती है। कहानी कभी पुरानी नहीं होती। इतिहास की घटना-जैसी सत्यासत्य का निर्णय हो जाने के बाद जिस प्रकार असत्य होने पर उसमें कोई आकर्षण नहीं रहता, उसको कहना-सुनना कोई पसंद नहीं करता है, उस प्रकार कहानी में नहीं होता। हृदय के मनोभावों की अभिव्यक्ति होने के कारण सत्य के साथ उसका शाश्वत संबंध रहता है; इसलिए, आज से सौ वर्ष पहले जिस कहानी को लोग जिस चाव से कहते-सुनते थे, आज भी उसी भाँति कहते-सुनते हैं। सीता का वनवास, द्रौपदी की केश-कथा, युधिष्ठिर की धीरता, राम की कर्तव्यनिष्ठा प्रभृति की कथा पढ़-सुन कर हमारे हृदय में आज भी करुणा, उत्साह तथा वीरता का वही भाव उठता है जो उस समय उठा था। वैज्ञानिक युग के प्रचल प्रकाश में भी भूतों और परियों की कहानियाँ लोगों के लिए समान रूप से मनोरंजक बनी हुई हैं। यह दूसरी बात है कि वयोविकास और शिक्षा तथा ज्ञान के प्रसार के साथ कहानियों की प्रकारगत रोचकता अधिष्ठित होती है। लड़कपन में लोग नानी की कहानियों को, जिस किसी रूप में, सुनकर आनंद प्राप्त करते हैं। कुछ बड़े होने पर उन्हें शिक्षाप्रद तथा साहसिकता और वीरता की कहानियाँ सुनने में आनंद मिलता है। यौवन के वसंत-काल में प्रेम-प्रसंग की मादकता से पूर्ण रसमयी कहानियाँ सुनना उन्हें बड़ा भाता है

और वृद्धावस्था में शांति और विभ्राम देनेवाली धार्मिक कहानियों से ही उनका जी भरता है। इससे पता चलता है कि कहानी का तथ्य केवल कथानक की विशेषता में नहीं, बल्कि जीवन के साथ जगत् की घटनाओं के अनुकूल आरोप और उसके रूप-विधान में है—जीवन और जगत् में पूर्ण सामंजस्य निरूपित करने में हैं।

कहानी के प्रचलन और उसके प्रसार के संबंध में प्रायः कहा जाता है कि व्यावसायिक व्यस्तता और जीवन की संकुलता बढ़ जाने के कारण लोगों को अवकाश का इतना अभाव होते गया कि बड़ी-बड़ी पुस्तकें पढ़ना उनके लिए सुसाध्य नहीं रहा और अपनी मानसिक क्षुधा तथा अनुरंजन की पिपासा को शांत करने के लिए काव्य-जीवन की मार्मिक कथा तथा उपन्यास का ही संक्षिप्त रूप छोटी-छोटी कहानियों में प्रतिष्ठित अनुभूति की व्यंजना किया गया। समय-सापेक्षता और रूप-योजना की दृष्टि से कहानी को जीवन की रोचकता के साथ भले ही इस भाँति संबद्ध कर दिया जाय; किंतु उपन्यास तथा काव्य-कथा और कहानी के तात्त्विक दृष्टिकोण इतने भिन्न हैं कि एक का प्रभाव दूसरे से उत्पन्न हो नहीं सकता है। इसलिए, उपन्यास या काव्य-कथा की रुचि वाले को अपने अन्य कार्यों से सांस लेने का अवकाश नहीं रहने पर भी, केवल कहानी पढ़ लेने से संतोष नहीं हो जाता, बल्कि ऐसा करके उपन्यास या काव्य-कथा पढ़ने की रुचि उनकी बढ़ जाती है और संयोग मिलने पर उन्हें पढ़ कर ही वे यथार्थ संतोष प्राप्त करते हैं। असल में तो कहानी द्वारा जीवन की किसी मार्मिक अनुभूति की व्यंजना होती है जो उसे अधिक प्रभावयुक्त और रोचक बनाने का कारण है। 'कहानी की विशेषता उसके कथानक में नहीं है। उसका कार्य जीवन, जगत् तथा प्रकृति के छोटे-छोटे सुंदर किंतु मार्मिक चित्र उपस्थित करना है।' कहानी जीवन के भावपक्ष से ही संबंध रखती है। भावनाभूति की प्रतिष्ठा के लिए नाना रूपात्मक विशिष्ट पात्रों और परिस्थितियों की कल्पना की जाती है जिसके विभावन व्यापार द्वारा सहृदय पाठकों का उनके साथ तन्मयता होती और वे यथार्थ रस या आनंद प्राप्त करते हैं।

कहानी का एक तथ्य उसके द्वारा किसी चिरंजन सत्य की व्यंजना है। इसमें लेखक अपनी दिव्य दृष्टि से जीवन के सत्य को प्रत्यक्ष कर कहानी का ऐसा रूप दे देता है जो पुराण-कथा अथवा रूपक-कथा के समान लोगों के हृदय पर प्रभाव डालता है। ऐसी कहानी में सचेतन कला की सृष्टि की जाती है, क्योंकि इसमें आधानुसरण न होते हुए भी विद्वानों और शिक्षित मनुष्यों को संतुष्ट करने की सामर्थ्य रहती है। सुदर्शन लिखित 'कमल की बेटी' में कहानी-कला के इस तथ्य का बड़ा सुंदर निर्वाह हुआ है। उसकी कथावस्तु संपूर्णतः भावात्मक है, किंतु इसमें पुराण-कथा के समान पात्र का ऐसा चित्रण किया गया है कि उसकी सत्यता पूर्ण रूप से व्यक्त हो जाती और सब कोई उसे यथार्थ व्यक्ति-जैसा समझने लगते हैं।

चरित्रों के मनोवैज्ञानिक विकास के द्वारा दैवी घटनाओं और संयोगों का कथानक में समावेश कहानी का प्रमुख तथ्य है।

कहानी के भेद और उनकी विशेषता

वर्तमान समय में कहानी-साहित्य का विकास इतना अधिक और उसकी रूप-योजना इतनी विभिन्न है कि किसी निर्धारित आधार पर उसका वर्गीकरण करना सहज नहीं है। आज तो कहानी इतिहास, भूगोल, नीति, दर्शन, धर्म, उपदेश, राजनीति, संप्रदाय, मनोरंजन, कौतुक एवं शुद्ध साहित्य, सब क्षेत्रों में अपनी कला दिखलाती है और लोकरुचि का इसके प्रति इतना आदर है कि मासिक और साप्ताहिक पत्रों की बात क्या, दैनिक पत्रों में भी इसे स्थान मिला करता है। आज तक जितनी कहानियाँ प्रचलित हैं, तात्त्विक दृष्टि से उनके दो भेद हैं—एक लौकिक और दूसरा साहित्यिक। लौकिक कहानियाँ वे हैं, जिनमें साहित्यिक तत्वों का संनिवेश नहीं किया गया है और जो केवल कौतुक वृत्ति अथवा मनोरंजन की भावना के बल पर जनरुचि को विस्मयपूर्ण घटनाओं एवं अमानुषी चमत्कारों की ओर आकृष्ट करती हैं। ऐसी कहानियाँ लिखित रूप में बहुत कम हैं। बूढ़ी नानी या दादी छोटे-छोटे बच्चों को ऐसी ही कहानियाँ कहती हैं। भूत, परी, उड़नखटोला, चंदामामा, राजकुमार या रानी की बेटी, किसी के विवाह-गौना आदि की बातें कहकर लड़कों के मनोरंजन और रागात्मकवृत्ति की संपुष्टि की जाती है। साहित्यिक कहानियाँ, इसके विपरीत, जीवन से संबंध रखनेवाली और हृदय की विश्वास-वृत्ति को पुष्ट करनेवाली होती हैं। कहानी जीवन के बहुत निकट रहती है, कारण, कविता-जैसी नहीं-नई भाव-भंगियों दिखाने के फेर में यह ध्वनि या सांकेतिक पद्धति से साहित्य या जीवन के बीच कोई व्यवधान नहीं रखती। यही कारण है कि कहानी आरंभ काल से ही मानव-जीवन की सच्ची रही है। अग्नि-पुराण में कहानी के पाँच भेद हैं।^१—

आख्यायिका, कथा, खंडकथा, परिकथा और कथालिका। आख्यायिका और कथा लंबी कथाएँ हैं, इसलिए इनका संबंध विशेषतः उपन्यास से है। साधारणतः आख्यायिका में ऐतिहासिक अथवा यथार्थ घटनाएँ क्रमबद्ध होकर आती हैं और 'कथा' की कथा कल्पित होती है। ऐतिहासिक और पौराणिक, सब कहानियाँ आख्यायिका के अंतर्गत आ सकती हैं। खंड-कथा छोटी-छोटी कहानियों के लिए व्यवहृत है जिनका संबंध मानव-जीवन के साथ है और जो अंतर्वृत्तियों को विशेष प्रभावित करती हैं। पशु-पक्षियों की कहानियाँ परिकथा कहलाती हैं। इन कहानियों के अंतर्गत मनुष्य को उपदेश देने की एक सूक्ष्म प्रवृत्ति है। अंग्रेजी में 'ईसपफेबुल्स' ऐसी ही कहानियाँ हैं। जहाँ एक के साथ अनेक कहानियाँ जुड़ती चलती हैं, उसे कथालिका कहते हैं, जैसे, कथा-सरित्सागर आदि।

शैली के अनुसार कहानी के दो भेद हैं—आदर्शवादी और यथार्थवादी। आदर्श और यथार्थ, साहित्य की दो परिव्यक्तियों जीवन के उस तत्त्व से संबंध रखती हैं जहाँ शैली के अनुसार एक ओर कल्पना के सहारे अच्छा बनने की प्रवृत्ति और दूसरी ओर दो भेद प्रत्यक्ष की चिंतना द्वारा मानव के अंतर्निहित भावों और विचारों को प्रभावित करने की भावना रहती है। आदर्शवादी कहानियों में लेखक कथानक को प्रतिदिन के जीवन अथवा वास्तविक जगत् से नहीं लेकर केवल कल्पना की शक्ति से

१—आख्यायिका कथा खंडकथा परिकथा तथा ।

प्रस्तुत करता है। यद्यपि कथानक के ऐसे प्रस्तुतीकरण का आधार पौराणिक अथवा प्रेमालख्यानक काव्य हैं, फिर भी, इनमें ऐसे आदर्श की प्रतिष्ठा की जाती है जो समाज के मंगल-विधान का कारण हो। यथार्थवादी कहानी जीवन की दैनंदिन घटनाओं को ही ज्यों-का-त्यों वर्णन कर उसके परिणाम से सबको परिचित कराती है और समष्टिगत कल्याण के लिए उसका पथ प्रस्तुत करने को उन्हें छोड़ देती है। साधारणतः 'प्रसाद' की कहानियाँ आदर्शवादी और प्रेमचंद की यथार्थवादी हैं।

प्रकृति के विचार से कहानी के चार भेद हो सकते हैं—कथानक, प्रधान, चरित्र-प्रधान, वातारण-प्रधान और कार्य-प्रधान। कथानक-प्रधान सबसे साधारण श्रेणी की कहानी है। इसमें पात्रों के चरित्र अथवा वातावरण की अनुकूलता-प्रतिकूलता को कोई महत्त्व नहीं देकर कथावस्तु की उन उलझनों पर जोर दिया जाता है जो विभिन्न चरित्रों के विभिन्न परिस्थितियों में पड़ने के कारण पैदा होती हैं। ऐसी कहानियों में चरित्र और वातावरण को बिल्कुल छोड़ नहीं दिया जाता। उनके सम्यक् उल्लेख के बिना कथावस्तु का आगे बढ़ना ही संभव नहीं है; किंतु उनका उल्लेख संक्षेप में होता है। कथानक-प्रधान कहानियों में दैवी-घटना और संयोगों का विशेष हाथ रहता है; फिर भी, कथानक का विकास ऐसे ढंग से होना चाहिए, जिससे अस्वाभाविकता नहीं होने पावे। अन्यथा कहानी का सौंदर्य नष्ट हो जाता है। कौशिक की 'पतितपावन' कहानी इसी श्रेणी की है।

चरित्र-प्रधान कहानी में किसी व्यक्ति के चरित्रगत उत्कर्ष के सौंदर्य की रक्षा के लिए उसके जीवन के विशेष गुणों—जैसे वीरता, प्रेम, आत्मत्याग आदि—का क्रमशः वर्द्धमान और स्थिर रूप चित्रित किया जाता है। किसी एक कहानी में किसी व्यक्ति के संपूर्ण गुणावगुणों का पूर्ण चित्रण हो सके, यह संभव नहीं है; इसलिए, उसके किसी एक गुण का

अथवा गुणों के एक विशेष अंग का इस भाँति उल्लेख किया जाता है कि उसकी संपूर्ण चरित्रगत विशेषता पर प्रकाश पड़ जाय। ऐसे जिस एक गुण या गुणों के एक पक्ष का चित्रण किया जाय, वह उस व्यक्ति के प्रधान गुण का द्योतक हो, जिसके कारण ही वह अन्य लोगों से पृथक् समझा जाता है। ऐसा करने के लिए पात्र के चरित्र को भिन्न विपरीत परिस्थितियों में डालकर उसकी एकरूपता और स्थिरता प्रतिपादित की जाती है। किंतु कहानी में इस भाँति भिन्न-भिन्न परिस्थितियों का चित्रण संभव नहीं है, क्योंकि उसका स्थान उतना विस्तृत नहीं रहता है, इसलिए चरित्र की अभिव्यक्ति के लिए लेखक संक्षेप में पात्र का चरित्रगत विशेषता के संबंध में कुछ अर्थ-गर्भित वाक्यों का उल्लेख कर देता है। चंद्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' चरित्र प्रधान कहानी का सर्वोत्कृष्ट नमूना है।

चरित्र-प्रधान कहानी की भी दो धाराएँ देखी जाती हैं। एक में निर्दिष्ट पात्र का चरित्र उत्कर्ष के क्रम में एक विशेष दिशा को अपनाए रहता है और सुख में, दुःख में, हर्ष

में, विषाद में, उसकी वह दिशा मुड़ती नहीं—जैसे प्रेमचंद की 'दफ्तरी' कहानी। किंतु इसकी दूसरी धारा वह है जहाँ उत्कर्ष या स्थिरता की दिशा में चरित्र निर्भ्रांत रूप से आगे बढ़कर किसी कारण उसमें ऐसा परिवर्तन हो जाता है कि

चरित्र-निर्दर्शन के निर्दिष्ट पथ की दिशा बिल्कुल मुड़ जाती और जिस चरित्र से पहले घृणा टपकती थी उसमें प्रेम प्रकट होने लगता, अथवा जो पहले प्यार का समुद्र था वह घृणा का पहाड़ हो जाता है। कौशिक की 'ताई' उसी श्रेणी की कहानी है।

वातावरण-प्रधान कहानियों में कथानक और चरित्र के विकास के लिए परिस्थितियों को संयोग-प्रधान बना दिया जाता है। इसमें किसी एक मुख्य भावना को कथानक के विकास का प्रधान कारण बना कर उसी भावना से कहानी को अनुरंजित कर दिया जाता है। लेखक अपनी निर्दिष्ट भावना को अभिव्यक्त करने के लिए पात्रों की मनोनुकूल योजना कर लेता है

और उसके लिए उनसे ऐसे कार्य कराता है जो उस विशेष भावना वातावरण प्रधान की ही पुष्टि करनेवाले हों। पात्रों की चरित्रगत विशेषता उस वातावरण के अनुकूल भावना का समर्थक होती है और उसमें ऐसी सामर्थ्य नहीं होती कि वातावरण के प्रतिकूल अपना कोई कार्य दिखला सके। मनुष्य परिस्थितियों का दास होकर किस प्रकार विशेष वातावरण में अपना जीवन तक व्यर्थ नष्ट कर देता है, यही दिखलाना ऐसी कहानी का लक्ष्य रहता है। प्रेमचंद की 'शतरंज का का खिलाड़ी' ऐसी ही कहानी है। वातावरण-प्रधान कहानी में साधारणतः किसी आदर्श की अभिव्यक्ति के लिए पात्रों को परिस्थितियों का शिकार बना कर कल्पना से ही अधिक काम लिया जाता है, किंतु कोई-कोई यथार्थवादी भावनाओं को यथार्थ वातावरण में चित्रित करने का भी प्रयत्न करते हैं।

घटना-प्रधान कहानियों में चरित्र-चित्रण अथवा वातावरण की कोई विशेषता नहीं रख कर कथावस्तु के विस्तार में कार्यों अथवा घटना की प्रगति और उसके परिणाम पर ही विशेष जोर दिया जाता है। जासूसी और रहस्यपूर्ण कहानियाँ इसी कोटि की हैं। अद्भुत और भयंकर चित्रों का अधिक समावेश होने के कारण इस प्रकार की

घटना-प्रधान

कहानियों से लोगों को जितना आनंद नहीं मिलता उतना विस्मय और कुतूहल होता है। कहीं-कहीं हास्य और कौतुक भी रहता है। शुद्ध साहित्यिक कहानियों की कोटि में ऐसी कहानी का विशेष आदर नहीं होता। इस प्रकार की कहानियाँ बुद्धिवाद और मनोवैज्ञानिकता से परे उसी श्रेणी के लोगों को संतुष्ट करती हैं, जिन्हें चमत्कार, कौतुक और रहस्यात्मक घटनाओं में बड़ा आनंद आता है। गोपाल राम गहमरी की कहानियाँ इसी कोटि की हैं। दुर्गा प्रसाद खत्री की 'संसार-विजयी' कहानी घटना प्रधान कही जा सकती है।

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त अनेक कहानियाँ हैं जिनका वर्गीकरण स्वतंत्ररूप से ही हो सकता है। ऐतिहासिक, हास्यपूर्ण, प्राकृतवादी, प्रतीकवादी प्रभृति कहानियों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं।

कहानी के तत्त्व

कहानी की सीमा छोटी होती है इसलिए उसमें तत्त्वों का समावेश उस सीमा के अनुकूल ही किया जाता है। उपन्यास में जितने तत्त्व हैं, वे कहानी में भी उ्यों-के-त्यों होते हैं, किंतु

उनका रूप और विधान अन्य भौति होता है। उपन्यास की विस्तीर्णता के कारण सब तत्त्वों का समावेश उसमें आसानी से हो सकता है किंतु कहानी में उस भौति संभव नहीं। कहानी में गृहीत खंड-जीवन के चुनाव में ही विशेष साधधानी की आवश्यकता होती है। खंड-जीवन के चुनाव में मार्मिकता नहीं होने से उसमें कोई आकर्षण नहीं रहेगा।

मार्मिकता

उपन्यास में कथावस्तु कई शाखाओं में प्रस्फुटित की जा सकती है, किंतु कहानियों में शाखा-प्रशाखा की परंपरा नहीं रखी जा सकती। उसमें जो कथा ली जाती है वह एक ही रहती है, उसमें विशेष प्रकार के मोड़ों से धारा नहीं उत्पन्न की जा सकती। यही दशा पात्रों की भी है। कहानी में एक ही या दो पात्र मुख्य होते हैं। क्योंकि कहानी के गुणों का पाठक थोड़े समय में इससे अधिक पात्रों पर अपना ध्यान नहीं जमा सकता। विचार संवाद (कथोपकथन) का आकार-प्रकार भी कहानी में छोटा और सधा

हुआ ही अच्छा जान पड़ता है। कहानी में संवादों का थोड़ा भी लंबापन अच्छा नहीं लगता है। संवादों की योजना कहानी में इसलिए की जाती है जिससे पाठक यह न समझे कि हम पुराण पढ़ रहे हैं। उसे इतना ही ज्ञात हो जाय कि कहानी के पात्र सजीव हैं और उन्होंने मौन वृत्ति की दीक्षा नहीं ली है। संवाद ऐसा रहे कि मालूम हो, दो मुख केवल बोल नहीं रहे, बल्कि दो व्यक्ति बातचीत कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि संवादों द्वारा बोलनेवाले व्यक्तियों की भिन्नता का आभास देना चाहिए। देश-काल का जैसा संकेत उपन्यास में दिया जाता है वैसा कहानी में नहीं, किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि कहानी लिखनेवाला विशेष देश या काल के आचार-विचार से तटस्थ रहे। जिन कहानियों का उद्देश्य स्मृत्याभास पद्धति से अतीत जीवन की अनुभूति कराना होता है उनमें देश-काल का विचार पूर्णतया अपेक्षित होता है।

आज दिन कहानियों का उपयोग बहुत विस्तृत क्षेत्र में हो रहा है, इसलिए यह निश्चित है कि मनुष्य की सर्व सामान्य अनुभूतियों की व्यंजना ही कहानी का उद्देश्य है। कहानियों को केवल मोनरंजन का साधन नहीं समझना चाहिए। साहित्य मात्र का उद्देश्य है मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए सहायता पहुँचाना—असंस्कृत वासनाओं से वह जिस पशुत्व को प्राप्त हो जाता है उससे निकाल कर उसे मनुष्यत्व की उच्चभूमि पर स्थापित करना।

कहानी की शैली

सबसे अधिक प्रचलित वर्णनात्मक शैली है जिसमें लेखक एक तीसरे मनुष्य की भौति कहानी का यथातथ्य वर्णन करता है। वह सीधे कहानी का आरंभ कर देता है और अपनी पूरी कहानी सुना जाता है। कहीं-कहीं वह प्रकृति का वर्णन करता है,

वर्णनात्मक

कहीं पात्रों के मानसिक अंतर्द्वंद्व की ओर भी संकेत करता है और कहीं-कहीं उनके संभाषणों को ज्यों-का-ज्यों लिख देता है। इस शैली में लेखक को मनुष्य और प्रकृति के चित्रण के लिए पूर्ण स्वतंत्रता मिलती है। वह पात्रों और पात्रियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सरलतम और प्रभावकारी रूप में कर सकता है। इसलिए, कहानी में यह सबसे अधिक

प्रभावशाली और सरलतम शैली है। वातावरण-प्रधान कहानी के लिए यह शैली सब से अधिक उपयुक्त है।

दूसरी संलाप-शैली है, जिसमें कहानी की कथा और चरित्र संलापों के द्वारा विकसित किए जाते हैं। इसमें लेखक को संलाप के बीच में उन्हें समझाने के लिए कुछ ऐसे वर्णन देने पड़ते हैं जिनसे पाठक को पात्रों और परिस्थितियों का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाय। परंतु कथानक और चरित्र का विकास

संलाप

साधारणतः संलापों के द्वारा ही कराया जाता है। इस शैली की कहानियों का प्रारंभ किसी भाषण से ही हुआ करता है। इसमें नाटकीय सौंदर्य आ जाता है। वर्णन-शैली की सरलता और सीधापन इसमें नहीं है।

तीसरी प्रधान शैली आत्मचरित शैली है जिसमें कहानी का कोई पात्र सारी कहानी उत्तम पुरुष (मैं) में कहता है। इस शैली में अन्य शैलियों की अपेक्षा सत्य का आभास अधिक मिलता है। इसमें यह दोष है कि कहानी कहनेवाले के अतिरिक्त

आत्मचरित

प्रणाली

अन्य चरित्रों का चित्रण स्वाभाविक रीति से नहीं हो पाता। कहनेवाला अपने भाव-विचार तथा अपने अंतस्तल की छोटी-से-छोटी बातों की व्यंजना कर सकता है, परंतु अन्य चरित्रों के संबंध में उसे यह सुविधा नहीं रहती है। जहाँ एक ही प्रधान चरित्र और अन्य सब गौण होते हैं वहाँ यह शैली अत्यंत उपयुक्त है।

कहानी कहने की एक और शैली पत्र-शैली है, जिसमें सारी कहानी पत्रों द्वारा कही जाती है। पत्रों के द्वारा ही कहानी के कथानक और अनेक चरित्रों का विकास

पत्र-शैली

होता है। यह आत्मचरित शैली का ही दूसरा रूप है जिसमें प्रत्येक चरित्र अपनी-अपनी कहानी लिखता है। इसमें पत्र लिखनेवाला अपने हृदय को खोलकर रख देता है। इसमें दोष यह है कि पात्रों में बहुत-सी अनावश्यक बातें आ जाती हैं, जिनका कहानी से कोई संबंध नहीं है। कहानी का कथानक समझने के लिए बहुत दिमाग लगाना पड़ता है

अनुक्रमशिका

अ

अग्निपुराण—१२३, १४३, २१५
अभिज्ञान शाकुंतल—१४८
अभिनव गुप्त—१४५
अभिमन्यु—१८४, १८५
अशोक—१८३

आ

आचार्य भामह—१०६
आचार्य रामचंद्र शुक्ल, शुक्लजी—
२६, ४४, १४६
आचार्य रूद्रट—११०
आंडेसस—६५.
आंडेसी—६५.

इ

इलियट—६५

ई

ईसा—१७०, १७१, १७२, १८३
ईसॉप फेबुल्स—२००, २१५

उ

उत्तर रामचरितमानस—१८८
उद्भव—२७
उर्मिला—१३६, १३७

क

कठोपनिषद्—१६६
कण्व—१४६, १७७
कथा सरिस्सागर—२१५
कबीर—७५
कवींद्र रवींद्र, रविबाबू—३, १३, २६, २६
७२, ८२—३१, ४८, ५०, ६४, ६५,

कथ्यप ऋषि—१७७

कांट—८१

कार्दबरी—२०, १६४, २०२

कारलाइल—६६

कालिदास—१५, ३३, ६४, १५६

काव्य मीमांसा—१

किष्किंधा—१७७

कीट्स—४७

कुमार सर्वदमन—१७७, १८०

कुश—१६६

कृष्ण—२४, ४५, ८४, ८६, ६४, १८३

केशव—१५५

केशवचंद्र सेन—४७

कैकेयी—३०, १४८, १५२, १५६

कौशिक—२१६, २१७

ग

गंग—१०१

गीता—२४

गुसाईंजी—४६

गोपाल राम गहमरी—२१७

गौतमबुद्ध, बुद्ध—१७०, १७१, १८३

च

चंद्रकांता—२०६

चंद्रगुप्त—१७१, १७२, १८०, १८३, १८४,

चंद्रधर शर्मा गुलेरी—२१६

चाणक्य—१८०

ज

जगद्गुरु शंकराचार्य—७२

जनक—१५६

जयशंकर प्रसाद, प्रसाद—६८, १५६,

१६७, २१६

जैनेंद्रजी—३०, ४७

ड

डॉ० भगवान दास—३६, १८३, १८५,
डॉ० सत्यप्रकाश—१४
डिकेन्स—१६६

त

तुलसीदास, तुलसी—३३, ६४, १४५, १४८,
१५५, १५६
तैत्तिरीय उपनिषद्—१२५

द

दंडी—१०६
दमयंती—२३
दशकुमार चरित—१६४
दशरथ—१५२, १५६
दिनकर—९८
दीन—६७
दुर्गाप्रसाद खत्री—२१७
दुर्योधन—२३
दुष्यंत—१४८, १४९, १६३, १६८,
१७७, १८०
द्रौपदी—१८७, २१३

न

नंदलाल बसु—६७
नचिकेता—१६६
नारद—१५५
निराला—६०, ६६

प

पंचतंत्र—२००
पंचवटी—१७७
पंत—२१, ५६, ६०, ७५, ८२, ६१, ६२,
६३, १००, १०७, १५५
पाटलिपुत्र—१८४
पार्वती—१५२
पिकनिक पेयर्स—१६६
पुराण—१६६
पेरिडाइज लॉस्ट—१४०

प्रबोधचंद्र सेन—५३

प्रश्नोपनिषद्—१६६

प्रेमचंद—२१, ४६, २०१, २०८, २१६
प्लेटो—८०

फ

फायद—३३

ब

बाबू श्यामसुंदर दास—१३४
बिहारी—८३, ६५, ६७, १००, १०२,
१०५, १०६, ११६, ११७
बेनिडिओ क्रोचे—७६

भ

भट्ट नायक—१४५
भट्ट लोलट—१४५
भवभूति—१८८
भारतेंदुजी, भारतेंदु हरिश्चंद्र—१५६, १६६

म

मनु—१५६
महादेव—१५२
महादेवी, महादेवी वर्मा—२१, ७३
महापात्र विश्वनाथ—५१,
महाभारत—२३, २४, ३१, १८४, १८७,
१६६

महाराणा प्रताप—१७६

महावीर, महावीर हनुमान—१७०, २०६

माइकेल मधुसूदन दत्त—३०, ५८

मार्क्स—३३,

मेघनाद—६६, १४४, १६२

मेघनाद-वध—५६, ६९, १५६, १६२

मैथिलीशरण गुप्त—६४, ८४, १५६

य

यम—१६६

युधिष्ठिर—१७१, १७२, १८७, २१३

यूनान—६५

यूरोप—१७६

र

रंगभूमि—२१, १६६
 रघुवंश—७१
 रस-मीमांसा—१८३, १८५
 रहीम—१०१, ११७
 राजा राधिकारमण—४६
 राजा राममोहन राय—४७
 राधा—६४
 राम, रामचंद्र—६, १५, २४, ३०, ६४,
 ६५, ७१, ६६, १४४, १४५,
 १४८, १४९, १५२, १५३,
 १५६, १७०, १७१, १७२,
 १७४, १८३, १८८, २१३

रामचरितमानस—४६, १४०
 राम-रहीम—४६
 रामायण—६, २३, २४, ३१, ६५, १६६
 रावण—६४, ७१, ६६, १७४
 रुटयक—११०

ल

लक्ष्मण—७१, १३६, १३७, १४४, १४८,
 १५६, १६२

लव—१६६
 लोकमान्य तिलक—१२४

व

वागीश्वर मिश्र—६१
 वाणभट्ट—२०
 वाल्मीकि—६४, ६५, १४८, १६६
 विलियम जेम्स—२२
 विष्णु—१५३
 वीर शिवाजी—१७६
 वृंद—११७
 बृहदारण्यकोपनिषद्—१६६

श

शंखुक—१५६
 शकुंतला—६, १४६, १५६, १६३, १६
 १७७, १८०
 शाकुंतल—१५६
 शार्करव—१४८
 शिवाजी—१६५
 शूर्पनखा—१४६
 शेक्सपियर—१७६
 शेली—४७
 श्री भानु मिश्र—१५४
 श्री शंकुक—१४५

स

सत्यनारायण—१५६
 सत्य हरिश्चंद्र, हरिश्चंद्र नाटक ७१, १८८
 साकेत—१३६
 साहित्यदर्पण—५१, ८५, ८६
 साहित्यालोचन—१३४
 सिकंदर—१७१, १८४
 सीता—६, १५, ३३, ६५, ७१, १५२,
 १८८, २१३

सुग्रीव—१७०
 सुदर्शन—२१४
 सुधांशु—५७, ८६, ८७, ८८
 सुरदास—४५
 सेंटजॉन—१७०
 सेठ कन्हैयालाल पोद्दार—११०

ह

हरिश्चंद्र—७१, १८०
 हर्षचरित—१६४,
 हितोपदेश—२००
 हेमकूट—१७७
 हेलेना—६५
 होमर—६५

